दुनिया की कहानी

आधुनिक युग

इतिहास कोई जादू का खेल नहीं है, मगर जिनको आँखें हैं उनके लिए उसमें जादू है।

—श्री जवाहरलाल नेहरू

❀ ❀ ❀

युद्ध एक ऐसा अस्त्र है जो अन्याय को दूर करने में बिल्कुल असमर्थ होता है और हानियों की पूर्ति करने की अपेक्षा उनकी वृद्धि करता है।

—जैफरसन

❀ ❀ ❀

लोकतंत्रवादी कहलाने का अधिकार केवल उसी व्यक्ति को है जो मानव जाति के अत्यन्त दीन प्राणियो के साथ भी आत्मीयता दिखला सके, जो उनसे अधिक सुखमय जीवन बिताने की इच्छा न रखता हो और साथ ही साथ उनकी समता करने का यथाशक्ति प्रयत्न करता हो।

—महात्मा गांधी

दुनिया की कहानी

द्वितीय भाग—आधुनिक युग

●

प्रो० राधाकृष्ण शर्मा, एम० ए०

अध्यक्ष, इतिहास विभाग, राजेन्द्र कालेज, छपरा

किताब महल इलाहाबाद

प्राक्कथन

'दुनिया की कहानी' का दूसरा भाग प्रस्तुत करते हुए लेखक हर्ष का अनुभव कर रहा है। प्रथम भाग के प्रणयन मे जिस प्रणाली को अपनाया गया, उसी का अनुकरण इस दूसरे भाग मे भी किया गया है, फिर भी इसकी कई विशेषताएँ हैं। पहले, यह भाग प्रथम भाग की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत है। इसका कारण है कि इसमे आधुनिक युग का वर्णन है जो प्रगति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण युग है। दूसरे, आधुनिक युग मे एशिया का जागरण दुनिया के इतिहास की एक चमत्कारपूर्ण घटना है। इस पर समुचित प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। तीसरे, दुनिया की कहानी मे मानव-सभ्यता एव सस्कृति के इतिहास का सरल तथा रोचक वर्णन है। अत. आधुनिक युग मे यद्यपि युद्धो की भरमार रही है और दो विश्व युद्ध भी हो चुके हैं तथापि लेखक ने इन युद्धों की जटिलताओ से अपने को पृथक् रखने का प्रयास किया है और इनके कारणो तथा परिणामो पर ही विशेष प्रकाश डाला है।

यह तो प्रथम भाग के प्राक्कथन मे ही कहा जा चुका है कि विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो की मनोवृत्ति और उनके हित को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है। महत्त्वपूर्ण विषयो की विशद विवेचना की गई है और उपयुक्त स्थानों पर चित्र तथा मानचित्र भी दे दिये गए हैं। उनके लाभार्थ पुस्तक के अन्त में प्रश्नावली तथा ग्रन्थ-सूची भी दी गई है।

विद्यार्थियो के लिए उपयोगी होते हुए भी यह ग्रन्थ भाषा तथा भाव की दृष्टि से सामान्य पाठकों के लिए भी सुबोध तथा लाभदायक है। त्रुटियों का होना स्वाभाविक ही है। अत. जो सज्जन उनकी ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट करेंगे उनके प्रति लेखक कृतज्ञ होगा।

इस भाग की रचना मे लेखक को जिन मित्रा और ग्रन्थकारो से सहायता प्राप्त हुई है वह उनका आभारी है। इसकी प्रेस कापी तैयार करने मे श्री विश्वनाथ कुँवर, बी० ए० से पर्याप्त सहायता मिली है, अतः लेखक उनका विशेष रूप से कृतज्ञ है।

राजेन्द्र कालेज, छपरा
सोमवार, माघ शुक्ल १२, स० २००६
२६ जनवरी, १९५३ ई०
(जनतन्त्र दिवस)

राधाकृष्ण शर्मा

विषय-सूची

दुनिया की कहानी

आधुनिक युग

परिचय

यह पहले ही बताया जा चुका है कि मानव-सभ्यता तथा सस्कृति के विकास-काल को तीन भागो मे विभक्त किया जाता है—प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक। लेकिन यह स्मरणीय है कि किसी युग के प्रारम्भ या अन्त होने की एक निश्चित तिथि बतलाना कठिन ही नही वरन् असम्भव भी है। इन तीनो युगो के बीच कोई अभेद्य दीवार निर्मित नहीं की गई है, बल्कि सभी एक दूसरे से सम्बद्ध है। एक युग की विचार-धारा का अन्त और दूसरे युग की विचार-धारा का आगमन किसी योजना के अनुसार एक निश्चित काल मे नही हुआ है। यूरोप के इतिहास मे १५वी शताब्दी को ही मध्य तथा आधुनिक युग के बीच का सक्रमण-काल माना जाता है, लेकिन मध्यकालीन सामन्तशाही प्रथा फ्रास मे १८वीं सदी तक जीवित रही और १६वीं सदी मे इटली तथा जर्मनी का राष्ट्रीयकरण हो सका। असल बात यह है कि प्रत्येक युग की कुछ खास विशेषताएँ होती है जो एक को दूसरे से पृथक् करती है। १५वी तथा १६वी सदी मे यूरोप मे तीन प्रवृत्तियो का विकास हुआ जिनके कारण यूरोपीय तथा विश्व इतिहास मे आधुनिक युग का सूत्रपात माना जाता है। ये तीन प्रवृत्तियाँ है—सास्कृतिक पुनरुत्थान, भौगोलिक अन्वेषण और धर्म-सुधार आन्दोलन। अगले पृष्ठों मे इन्ही प्रवृत्तियो का क्रमानुसार विशद विवेचन किया गया है।

समर्पण

'विश्व-बन्धुत्व' सिद्धान्त

के

पोषकों तथा पालकों

को

अध्याय २३

आधुनिक युग का सूत्रपात

सांस्कृतिक पुनरुत्थान, भौगोलिक अन्वेषण तथा धर्मसुधार-आन्दोलन

(क) सांस्कृतिक पुनरुत्थान

भूमिका

पुनरुत्थान से तात्पर्य किसी पुरानी चीज का नवीन संस्करण या नूतन विकास से है। उसका मूल अतीत में है, कुछ काल के लिए वह लुप्त हो गई थी, अब उसकी पुनर्प्राप्ति हुई। सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक के मानव-समाज के विकास-क्रम का अवलोकन करते हुए हम देख चुके हैं कि गतिशील मानव चलते-चलते कुछ थक-सा गया। निरन्तर आगे बढ़ते रहने के क्रम में थकावट के कारण उसने विश्राम करने की आवश्यकता महसूस की। एकाएक उसकी आँखें मुँद गयीं और वह सो गया। वह गतिहीन हो गया, उसका विकास अवरुद्ध हो गया। अपनी नींद में वह बहुत कुछ भूल भी गया। सोने के पूर्व संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। पश्चिमी एशिया के देशों तथा भारत, यूनान और रोम में मानव संस्कृति का यथेष्ट विकास हो चुका था। लेकिन काल के चक्कर में वह सब लुप्त हो गया। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से यह रात्रिकाल था। निशाकालीन घनीभूत अंधकार ने पूर्व की विकसित संस्कृति पर काला आवरण फैला दिया और इतिहास दीर्घकाल के लिए अन्धकारमय युग में प्रवेश कर गया। छठी सदी में ही मानव-विकास का सूर्य अस्त हुआ और १५वीं सदी तक निविड़ अंधकार छाया रहा। मध्यकालीन यूरोपीय समाज में स्थिरता-सी उत्पन्न हो गई, बौद्धिक विकास पर प्रतिबन्ध लग गया एवं मुँह पर ताला जड़ दिया गया। ईसाई समाज आत्मा की रक्षा और उसकी ही उन्नति पर विशेष ध्यान देता था, मनुष्य के शरीर या व्यक्तित्व की कोई कीमत नहीं थी। बाइबल के ही अध्ययन और मनन पर विशेष जोर दिया जाता था। पर धर्मग्रन्थ की भी स्वतन्त्र रूप से विवेचना नहीं की जा सकती थी। धर्माधिकारियों के विरुद्ध सोचना-विचारना या विरोध अभिव्यक्त करना पाप और संकट मोल लेना था। कोई भी अपने उद्गार को कलाओं द्वारा नहीं व्यक्त कर सकता था। आँखें मूँद कर उनकी आज्ञा का पालन करना ही श्रेयस्कर समझा जाता था। अतः स्वतन्त्र विचारों के लिए उपयुक्त वातावरण का सर्वथा अभाव था। यही नहीं, मध्यकाल में अराजकता का

साम्राज्य था, सामन्त-प्रथा इसी की विशेष उपज थी। जीवन की रक्षा ही मनुष्य का सर्वप्रधान उद्देश्य बन गया था। स्वतन्त्र भावना के विकास के लिए आर्थिक प्रणाली भी अनुपयुक्त थी। सर्वत्र जागीरदारी की तूती बोल रही थी और समाज शोषण के अबाध क्रम में पिस रहा था। लेकिन यह स्थिति स्थायी नहीं रह सकी। मनुष्य के दिल, दिमाग को किसी संकुचित दायरे में दीर्घ अवधि तक सीमित नहीं रखा जा सकता। प्रकृति ने उसे सोचने की जो शक्ति दी है, वह बड़ी विलक्षण है। अपनी बुद्धि के बल पर मानव सब कुछ करने की क्षमता रखता है। पर जैसा कि हम देख चुके हैं, छठी सदी के लगभग उसकी बुद्धि पर अंधकार का पर्दा पड़ गया था। वह कुछ देख नहीं सकता था, कुछ सोच नहीं सकता था। उसकी बुद्धि विश्राम करने चली गई थी। उसकी आँखें निद्रा के आवेग में बन्द थीं। पर १५वीं-१६वीं सदी में वह जग उठा, नींद का खुमार दूर हुआ और सदियों से उन्मीलित आँखें खुलीं। उठकर उसने देखा कि वह कितना पीछे ढकेल दिया गया है। वह स्तम्भित रह गया। हजारों वर्ष का उसका परिश्रम मिट्टी हो चुका था कालचक्र ने उसके सारे किये-कराये पर पानी फेर दिया था। नियति का यह अन्याय उससे देखा न गया। अपनी गतिहीनता पर उसे क्षोभ हुआ और वह पुनः बड़े वेग से प्रगति के पथ पर अग्रसर होने लगा। उसमें जिज्ञासा की एक नई भावना का प्रस्फुटन हुआ और वह प्रत्येक बात को जानने और समझने की चेष्टा करने लगा। वह प्राचीन यूनान और रोम की सभ्यता एवं संस्कृति की बड़ी अभिरुचि के साथ अध्ययन करने लगा। इससे मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति शुरू हुई। १५वीं और १६वीं सदी में मनुष्य की संचित शक्ति कई धाराओं में वेग से फूट पड़ी और संस्कृति की प्रत्येक दिशा में उसका विकासारम्भ हुआ। इसी घटना को पुनरुत्थान, नवजागरण या 'रेनेसां' कहते हैं। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि मध्यकाल में प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का बिलकुल लोप हो गया था। जहाँ तक उपयुक्त और अनिवार्य था, लोगों का उससे सम्पर्क बना हुआ था। उदाहरणार्थ, पूर्वी यूरोप में ग्रीक और पश्चिमी यूरोप में लैटिन भाषा का ही व्यवहार हो रहा था। शिक्षालयों में अरस्तू, वर्जिल आदि लेखकों की रचनाओं का पठन-पाठन होता था।

पुनरुत्थान के कारण

यह परिवर्त्तन किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं था बल्कि विभिन्न परिस्थितियों ने संयुक्त रूप से इसका उत्पादन किया था। मध्यकाल से ही प्राचीन साहित्य तथा कला के पुनरुद्धार की ओर विद्वानों का झुकाव होने लगा था और यूनान तथा रोम के साहित्य में उनकी अभिरुचि बढ़ रही थी। स्पेन के मुस्लिम निवासियों से उन्हें इस दिशा में विशेष प्रोत्साहन मिला। धर्मयुद्ध ने भी सहायता दी। धर्मयुद्धों के कारण पूर्वी देशों से सम्पर्क बढ़ा और लोगों का मानसिक क्षेत्र विकसित हुआ। इसके सिवा, हिंसा के

कारण लोगो की धर्म मे अभिरुचि जाती रही, जिससे धर्म के बन्धन ढीले पड गए। धर्मयुद्धो की सफलता के कारण पोप की धाक भी धूल मे मिल गई और उसका प्रभाव जाता रहा। साम्राज्य तथा चर्च—दोनो की एकता का अन्त हो गया था और उनकी पवित्रता नि.शेष थी। इनके अतिरिक्त कुछ और महत्त्वपूर्ण कारण थे। १४५३ ई० मे कुस्तुन्तुनिया का पतन हो गया और यह एक युग-प्रवर्तक घटना सिद्ध हुई। यूनानी विद्वान कुस्तुन्तुनिया छोड कर अपने पाण्डुलिपि तथा अन्य सामानो के साथ पश्चिमी यूरोप की ओर भाग चले और उनके आगमन के साथ यूनानी सस्कृति का भी प्रचार हुआ। कागज तथा छापेखाने के आविष्कार और प्रयोग ने तत्कालीन स्थिति म महान् क्रान्ति पैदा कर दी। अब पर्याप्त सख्या मे स्थानीय भाषाओ मे पुस्तके छपने लगी। अत' वे सस्ती और सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो गई। अब लोग पर्याप्त सख्या मे पुस्तको का अवलोकन करने तथा सोचने लगे। अब वे अन्धविश्वास के दलदल से निकल कर बुद्धि का प्रयोग करना सीख गए और प्रत्येक चीज को बुद्धिवाद की कसौटी पर परखने लगे। युक्ति और तर्क ने विश्वास का स्थान ले लिया। लैटिन के सिवा अन्य साहित्यिक भाषाओ का विकास हुआ। अगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश आदि भाषाओ का उत्थान हो गया। विद्या कुछ इने-गिने विद्वानो की एकमात्र सम्पत्ति नही रह गयी वल्कि यह सर्व-साधारण की चीज बन गयी। समाचार-पत्रो का प्रचार हुआ। अलोचनात्मक प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिला। अब दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुए और समाज के सामने नये आदर्श उपस्थित हुए। नगरो के अभ्युदय, राष्ट्रीयता के विकास तथा भौगोलिक खोजो से भी पुनरुत्थान आन्दोलन को विशेष प्रोत्साहन मिला।

मानववाद का विकास

पुनरुत्थान आन्दोलन ने एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो मानववाद के नाम से विख्यात हुआ। मध्यकाल मे कृत्रिमता तथा आदर्श पर अधिक जोर दिया जाता था। शिक्षा-प्रणाली मे उन्ही विषयो की प्रधानता थी जिनका जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही था। सासारिक जीवन को मिथ्या और मनुष्य के व्यक्तित्व को बहुत ही तुच्छ समझा जाता था। उसके विचारो का कोई मूल्य नही था। आत्मिक तथा स्वर्गीय सुख की प्राप्ति पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। अतः व्यक्ति को दैहिक सुख तथा भौतिक ऐश्वर्य का त्याग करना पड़ता था। किन्तु परिस्थितियाँ बदली। अब मनुष्य के व्यक्तित्व का मूल्य बढ़ा, स्वाभाविकता, यथार्थता तथा उपयोगिता पर विशेष जोर दिया जाने लगा। उन चीजो का परित्याग किया जाने लगा जिनका मानव-जीवन से कोई सम्बन्ध नही था। अपनी भावनाओ की अभिव्यक्ति तथा लालसाओं की पूर्ति के लिए धार्मिक बन्धनो को तोडने मे मनुष्य को कोई सकोच नही रहा। अब उन्ही ग्रन्थो का पठन-पाठन होने लगा जिनमें

मानवी भावनाओं का समावेश था। अत. प्राचीन यूनानी साहित्य की ओर लोगों का विशेष झुकाव हुआ। लैटिन तथा यूनानी भाषा में लिखित पुराने ग्रन्थ एकत्रित किए गए और उन्हें पुन लिखा गया। उनमें मनुष्य के शारीरिक सौन्दर्य तथा मस्तिष्क के विकास पर जोर दिया गया था। पुस्तकालयों की वृद्धि होने लगी। विद्वानों और लेखकों को प्रोत्साहित किया गया और उन्हें जहाँ-तहाँ नियुक्त किया जाने लगा। इटालियन भाषा में बाइबल का रूपान्तर हुआ। विभिन्न भौतिक विद्याओं का प्रसार हुआ। अब लोग लकीर के फकीर नहीं बने रहे। वे लौकिक जीवन के मापदण्ड से सब कुछ तालने लगे और सासारिक जीवन को सार्थक समझने लगे। धर्मशास्त्र में लोगों की अभिरुचि कम हो गई। मठ, गिरजे, पुजारी, पुरोहित आदि का मान घट गया। विश्वास की अपेक्षा युक्ति पर विशेष जोर दिया जाने लगा।

इटली का पथ-प्रदर्शन

इस पुनरुत्थान-आन्दोलन का उद्गम-स्थान इटली में था। इटली ने ही पथ-प्रदर्शन का काम किया। इसके लिये इसकी स्थिति बहुत ही अनुकूल थी। यह पूर्वी साम्राज्य के घनिष्ट सम्पर्क में रह चुका था। जब कुस्तुनतुनिया तुर्को के हाथ में चला गया तो बहुत से यूनानी विद्वान् और विद्यार्थी उसे छोड़कर पहले इटली में ही पहुँचे और वहीं बस गये। इन यूनानियों ने नयी विचारधाराओं का प्रचार किया। इटली में सामन्त-प्रथा की जड़ भी नहीं जमने पाई थी और यहाँ पवित्र रोमन साम्राज्य भी शक्तिहीन हो रहा था। रोम इटली में ही था जो एक विशाल साम्राज्य का प्रधान केन्द्र रह चुका था। वह ईसाई धर्म का भी प्रमुख केन्द्र था और पोप का वहीं निवास-स्थान था। निकोलस पञ्चम, लियो दशम् आदि पोपों ने भी यूनानी विद्वानों को विविध प्रकार से सहायता प्रदान कर उन्हें उत्साहित किया। इटली भूमध्यसागर के मध्य भाग में स्थित था। अतः वहाँ व्यापार तथा वैभव का विकास होता रहा और वहाँ बड़े-बड़े समृद्धिशाली नगर बसे हुए थे। ऐसे वातावरण में यूनानी विद्वानों को धन के लिए परेशानी नहीं उठानी पड़ी। इसके अतिरिक्त इन्हीं नगरों में सर्व-प्रथम स्वतन्त्रता की भावना का उदय हुआ और यूनानियों के सम्पर्क से यह भावना और भी अधिक बलवती होती गई। दाँते तथा पेट्रार्क जैसे विद्वान लेखक इटली में ही उत्पन्न हुए थे जिन्होंने स्थानीय भाषाओं तथा प्राचीनता के अध्ययन में लोगों की अभिरुचि बढ़ायी। ये ही दोनों आधुनिकाल के उद्धारक हैं।

पुनरुत्थान की प्रगति

(अ) समाज तथा धर्म—सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में महान् परिवर्तन हुए। मध्यकाल में राज-शक्ति कमजोर थी और सामन्तों की तूती बोल रही थी। मनुष्य के व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं था। अब समाज में मनुष्य का मूल्यांकन होने लगा और उसके व्यक्तित्व

के विकास पर जोर दिया जाने लगा। सामन्तों का सितारा फीका पड गया। गोला-बारूद के आविष्कार ने राजशक्ति को सबल बना दिया और राजमहल चहल-पहल का केन्द्र बन गया। सामन्तो के दासो को स्वतन्त्रता मिलने लगी। भौगोलिक खोजो के कारण नये देश और नये-नये व्यापारिक मार्ग प्रकाश मे आए। इसके फलस्वरूप वाणिज्य-व्यापार की उन्नति हुई। अब व्यापारियो के रूप मे एक स्वतन्त्र मध्यम वर्ग का विकास हुआ जिसने सामन्तवाद का अन्त करने मे सहायता दी। अब राजाओ का सामन्तो पर निर्भर रहने की आवश्यकता नही थी, क्योकि गोला-बारूद के आविष्कार ने राजा के हाथ मे शक्ति सञ्चित की। विशाल व्यापारिक सस्थाओ और बैको से उसे आर्थिक सहयोग मिलने लगा। व्यापारियो को राजाओ का सरक्षण प्राप्त हुआ। व्यापारियो के उत्थान से नये-नये नगरो का भी विकास हुआ। अब लोगो मे राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुई। अब सामन्तवादी प्रथा पर आधारित एक ईसाई यूरोपीय राज्य या पवित्र रोमन साम्राज्य की भावना के स्थान पर पृथक्-पृथक् राष्ट्रीय राज्यो की उद्भावना हुई।

धार्मिक जगत मे भी क्रांति हुई। अन्धविश्वास ही चर्च की शक्ति की आधारशिला थी। आलोचनात्मक प्रवृत्तियो के विकास के कारण यह आधारशिला कमजोर पडने लगी और चर्च की स्थिति डावॉडोल हो गई। अब इसकी एकता अतीत के गर्भ मे विलीन हो गई। कुछ लोगो ने चर्च मे सुधार करने का प्रयत्न किया पर व्यर्थ। अब विरोध की भावना प्रस्फुटित हुई। धर्माधिकारियो की खिल्ली उडाई जाने लगी और पोप पाखण्ड का प्रतीक समझा जाने लगा। स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता की भावना ने पोप की सत्ता को चूर-चूर कर दिया। विभिन्न देशो मे राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हुई जो धर्म की अपेक्षा राष्ट्रीय विकास पर अधिक जोर देता था। मानव के जीवन मे धर्म का स्थान गौण हो गया और इसका अधिकाधिक राजनीतिक प्रयोग होने लगा। इन बातो का विशद वर्णन धर्मसुधार-आन्दोलन के पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत किया जायगा।

(आ) राजनीति तथा साहित्य—मानववाद के विकास के साथ प्राचीनता मे लोगो की श्रद्धा बढ़ी, किन्तु साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी विकसित हुआ। राजनीति को एक विज्ञान के रूप मे उपस्थित किया गया। रोम के विधि-विधानो का महत्व बढ़ा। मध्यकाल मे राजतन्त्र प्रणाली सर्वोत्तम समझी जाती थी। मानव किसी अन्य राजनीतिक प्रणाली की कल्पना भी नही कर सकता था। लोगो का यह दृढ विश्वास था कि राजतन्त्र प्रणाली ईश्वर प्रदत्त सस्था है। राजाओ के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का जोर था। लेकिन पुनरुत्थान की लहर ने पासे को उलट दिया। अब लोगो की ऑखो के सामने से अज्ञान का पर्दा फट गया, सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश छिटक गया। दैवी अधिकार का सिद्धान्त नि.शक्त हो गया। अब राज्य सम्बन्धी ज्ञान का विस्तार होने लगा। समाज के हित के आधार पर सस्था की

अच्छाई की जाँच होने लगी। लोगों में यह भावना भी विकसित हुई कि आवश्यकतानुसार किसी संस्था में परिवर्तन लाया जा सकता है या नवीन संस्था की सृष्टि की जा सकती है।

१५वीं सदी के लगभग यूरोप में कागज और मुद्रण का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। मंगोलों और अरबों ने चीन से इन कलाओं को यूरोप में लाया था। यूरोप में इन कलाओं का प्रचलन एक युगान्तरकारी घटना है। १५वीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में अनेक कागज बनाने की मीलें एवं मुद्रणालय खुल गये थे। १४५४ ई० में लैटिन भाषा की बाइबिल प्रथम बार मुद्रित हुई। इटली के वेनिस नगर में इस समय तक सैकड़ों मुद्रणालय खुल चुके थे जहाँ पर कवि, साहित्यकार और विचारक इकट्ठे होते थे। इससे अध्ययन और ज्ञान-विस्तार में महान् सहायता मिली। प्राचीन पुस्तकें मुद्रित होकर जनसाधारण में फैल गयीं। अब ज्ञानविज्ञान पर पण्डितों का एकाधिपत्य समाप्त हो गया। अज्ञान के अन्धकार में बद्ध मानव अब मुक्ति की साँसें लेने लगा। ज्ञान का प्रकाश विकीर्ण हुआ और मानव उन्मुक्त होकर आशा और उल्लास से आलोकित हो उठा। अब साहित्यिकों की प्रतिभा वेग से प्रस्फुटित हुई। इस समय आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं का विकास हुआ। लैटिन भाषा संस्कृत के समान विद्वानों और पंडितों की भाषा थी। अब जनता की भाषा में साहित्य की रचना होने लगी। यह युग की माँग थी। अतः अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश तथा इटालियन भाषाओं की उन्नति हुई। इससे राष्ट्रीय भावना के विकास में भी सहयोग मिला। इसी समय गद्य-शैली का भी विकास हुआ। दाँते, पेट्रार्क और बोकेस्सियो की कृतियों में इटली की साहित्यिक प्रतिभा फूट निकली। महाकवि दाँते ने इटालियन भाषा में 'डिवाइन कॉमेडी' नामक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना की। वर्जिल और अरस्तू को वह अपना गुरु मानता था। उसी ने यह घोषणा की कि राज्य व्यक्तियों के हित के लिए है और प्रत्येक व्यक्ति को राज्य-प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार है। वह सौंदर्यान्वेषी था और उसने दुनिया और जीवन के सौन्दर्य में रुचि प्रदर्शित की। पेट्रार्क (१३०४-७४ ई०) भी उच्चकोटि का एक विद्वान था। दाँते की भाँति पेट्रार्क भी सौन्दर्यान्वेषी था और मानव-जीवन के सौन्दर्य का प्रेमी था। कवि की दृष्टि से वह अपने 'सॉनेट्स' के लिए प्रसिद्ध था। वह एक सफल कहानीकार भी था। बुक्केशियो की 'डेकामेरन' हास्यरस की एक सुन्दर रचना थी। एरिओस्टो तथा टासो नाम के दो और प्रसिद्ध कवि हुए जिन्होंने इटालियन भाषा में कविताएँ लिखीं। 'जेरुजलम डेलिवर्ड' टासो का प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ था। इटली में पुनरुत्थान का प्रधान केन्द्र फ्लोरेन्स नगर था। यहीं पर प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक मेकियावेली का उदय हुआ जिसने 'प्रिंस' नामक प्रसिद्ध राजनीति-शास्त्र की रचना की। उसने राजाओं को पूर्ण सत्ताधारी बने रहने की सलाह दी जिसके फलस्वरूप यूरोप में निरंकुश राजतन्त्र के एक युग का ही पदार्पण हुआ। साहित्यिक दृष्टि से वेनिस नगर महत्त्वपूर्ण नहीं था।

(इ) **शिल्प, मूर्ति तथा चित्रकला**—मध्यकाल मे जीवन तथा प्रकृति के सौन्दर्य मे लोगा की कोई अभिरुचि नहीं थी। प्रकृति सौन्दर्यहीन समझी जाती थी। सौन्दर्य का प्रदर्शन घोर पाप और प्रायश्चित का विषय माना जाता था। लेकिन अब लोगो की यह धारणा जाती रही। अब कला और सौन्दर्य के प्रदर्शन मे लोगो की अभिरुचि बढी। शिल्प, मूर्ति तथा चित्रकला के विकास मे भी इटली ही अग्रगण्य था। फ्लोरेंस नगर के मेडिची राजवश ने कला को बडा ही प्रोत्साहित किया और लॉरेंजो के शासनकाल मे इस नगर की उन्नति चरम सीमा पर पहुँच गई थी। यह पेरिक्लियन युग के एथेन्स से टक्कर ले सकता था। इटली की कलात्मक प्रतिभा टिशियन, बोतेचेली, टिन्टोरेटो आदि अनेक कलाकारो मे अभिव्यक्त हुई लेकिन यहाँ के तीन कलाकार सुविख्यात थे—ल्योनार्डो डा विन्शी, माईकेल एजेलो और रैफेल। ल्योनार्डो डा विन्शी कृत 'मोनालिसा' चित्र आज भी दर्शको की ऑखों मे चकाचौध कर देते हैं। डा विन्शी एक कुशल शिल्पी था, मूर्तिकला, चित्रकला एव सगीतकला का उद्भट ज्ञाता था। इतना ही नही, वह इजीनियरिंग एव वैज्ञानिक प्रवृत्तियो और शरीरशास्त्र का भी विशेषज्ञ था। माइकेल भी चित्रकार, मूर्तिकार और दार्शनिक था। वह मूर्ति तथा भवन-निर्माण-कला मे अपना सानी नही रखता था। वह दीवारो पर बाइबिल के दृश्यों के चित्र खींचता था और सिस्टाइनचैपेल की दीवारो पर उसने 'अन्तिमनिर्णय' सम्बन्धी अद्भुत चित्र खीचे थे जिनमे आतक की प्रधानता है।

चित्र १—ल्योनार्डो डा विन्शी

वेनिस नगर भी कला का प्रधान केन्द्र था। यहाँ के चित्रकार रगसाजी मे कुशल थे। टिशियन यहाँ का प्रसिद्ध चित्रकार था। चित्रो के अकन और मूर्ति-निर्माण मे वास्तविकता, सासारिकता और सजावट पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कला का विषय धार्मिक होने पर भी सौन्दर्य तथा प्रेम की उपेक्षा नहीं होती थी और मानवीयता पर अधिक ध्यान दिया जाता था। प्रकृति अब सौन्दर्य का अनन्त भण्डार समझी जाने लगी जिससे प्रकृति-चित्रण को विशेष प्रोत्साहन मिला। निर्माण-कला मे एक नयी शैली का उदय हुआ जो गौथिक शैली की अपेक्षा अधिक सुन्दर होती थी। रोम

में सेंट पीटर का गिरजा पुनरुत्थान-शैली का उत्कृष्ट नमूना है। मकानों में यूनानी स्तम्भ तथा रोमन गुम्बद प्रयुक्त होने लगे। मध्यकाल-सा गगनचुम्बी भवन बनाने की प्रथा का अन्त हो गया। भवन कम ऊँचे बनने लगे और उनमें सादगी की प्रधानता हो गई।

पश्चिमी यूरोप में सांस्कृतिक लहर

इटली से पुनरुत्थान की धारा पश्चिमी यूरोप की ओर प्रवाहित हुई। पश्चिमी यूरोप भी मानववाद से प्रभावित हुआ। स्थानीय साहित्यिक भाषाओं का उत्थान हुआ। अंग्रेज कवि चॉसर ने पेट्रार्क से प्रेरणा प्राप्त की और 'कैन्टरबरी टेल्स' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। शेक्सपीयर, बेकन, मिल्टन, स्पेन्सर आदि भी इस समय के प्रसिद्ध अंग्रेज साहित्यकार थे। नाट्यकारों में शेक्सपियर का स्थान सर्वोच्च था। उसकी प्रखर प्रतिभा ने 'रोमियो जूलियेट', 'ऐज यू लाइक इट', 'मरचेंट आफ वेनिस', 'ओथेलो', 'मेकबेथ', 'किंग लियर', 'हैमलेट', 'टेम्पेस्ट' आदि अनेक नाटक प्रस्तुत किये, जो न सिर्फ अंग्रेजी साहित्य के प्रत्युत विश्व-साहित्य-सागर के अनमोल रत्न हैं। इन नाटकों में मानवीयता की उदात्त भावना अपने उस प्रखरतम रूप में प्रकट हुई है जो समस्त मानव को अनन्त काल तक लौकिक घटनाओं एवं वास्तविक मानवीय चरित्रों में अनोखी सौन्दर्यानुभूति कराती रहेगी। शेक्सपियर के नाटक-कल्पना प्रसूत नहीं हैं। उनमें मानव-जीवन की वास्तविक व्याख्या है, यद्यपि उनमें काव्य सौन्दर्य भी है, कल्पना का आनन्द भी है। महाकवि मिल्टन के 'पाराडाइज लॉस्ट' एवं 'पाराडाइज रीगेंड' ऐसे महाकाव्य हैं जिनमें आध्यात्मिकता, सात्विकता, बौद्धिकता एवं सौन्दर्यानुभूति का अद्भुत सामंजस्य है। सर टामस मूर की 'यूटोपिया' एक अद्भुत कल्पना-प्रसूत ग्रन्थ है जिसमें एक ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना की गई है जिसका मूल आधार प्लेटो के 'रिपब्लिक' पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था है। स्पेन में सरवेंटीज ने 'डॉनक्विक्जोट' नामक गल्प की रचना की जिसमें सामन्त-प्रथा की हँसी उड़ाई गई। पुर्त्तगाल में वास्कोडिगामा की यात्रा सम्बन्धी पुस्तकें लिखी गईं। फ्रांस में राबेले, मॉन्टेन, रासीन, कोर्नील, मोलियर, वोल्टो आदि प्रसिद्ध साहित्यकार हुए। राबेले उपन्यास साहित्य का जन्मदाता समझा जाता है। शेक्सपीयर, सरवेन्टीज तथा राबेले पुनरुत्थान-युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार थे। कुछ बाद में जर्मन-भाषा की भी उन्नति हुई।

इटली की भाँति यूरोप के अन्य देशों में भी निर्माण-कला के क्षेत्र में गोथिक शैली का ह्रास और नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम के संरक्षण में नयी शैली की अनेक इमारतें बनीं जिनमें पेरिस नगर का संग्रहालय विशेष उल्लेखनीय है। स्पेन, जर्मनी, नीदरलैन्ड तथा इंगलैंड में भी नयी प्रणाली के आधार पर अनेक भवनों का

निर्माण हुआ। इंगलैंड में सेंटपाल का गिरजाघर नयी शैली का उत्तम नमूना है जिसका निर्माण सर क्रिस्टोफर रेन की देख-रेख में हुआ था।

इन सभी देशों में निर्माण-कला के अतिरिक्त मूर्त्ति तथा चित्रकलाओं का भी विकास हुआ। लूकस क्रैनाक तथा ड्यूरर जर्मनी के और बेलेस्कलीज स्पेन के प्रसिद्ध कलाकार थे। इंगलैंड तथा फ्रांस में भी कुशल कलाकार उत्पन्न हुए थे और दोनों देशों में इटालियन कलाकारों को आमन्त्रित किया गया था।

इस युग में संगीत के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। पहले के वाद्ययन्त्रों तथा स्वर-लय में सुधार हुआ। मार्टिन लूथर ने संगीत के महत्त्व को समझा और इसे प्रोत्साहित किया। पेलेस्ट्रिना नाम का व्यक्ति संगीत का सबसे बड़ा आचार्य था। उसने पोप के संरक्षण में धार्मिक संगीत का विकास किया था।

विज्ञान के चमत्कार

विज्ञान ने भी अपना चमत्कार दिखलाना प्रारम्भ किया। लोगों में संशय, अनुसन्धान और प्रयोग की भावना विकसित हुई। फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्ट ने प्रत्येक वस्तु को संदेह की दृष्टि से देखने के लिए प्रोत्साहित किया। अंग्रेज संत रोजर बेकन (१२१०—९३ ई०) प्रयोगात्मक विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है। उसने वादविवाद के स्थान पर प्रयोग और अनुभव की महत्ता बतलायी। अब तक लोगों का विश्वास था कि पृथ्वी सौरमण्डल का केन्द्र है और सूर्य उसके चारों ओर परिक्रमा करता है। पोलैंड निवासी कोपरनिकस (१४७३—१५४३ ई०) ने इस विश्वास को गहरा धक्का देकर तोड़ दिया। उसने सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है जिससे रात-दिन होते हैं। जर्मनी के खगोल-वेत्ता केपलर (१५७१—१६३० ई०) ने उसके सिद्धान्त को गणित के द्वारा सिद्ध कर दिया। इटली के खगोल-वेत्ता गेलीलियो (१५६४—१६४२ ई०) ने 'गति-विज्ञान' की सृष्टि कर दूरबीन का निर्माण किया और इसकी सहायता से कोपरनिकस के तथ्य को सिद्ध किया। एंड्रियस वेसेलियस ने ओषधियों का अनुसन्धान किया और 'मनुष्य-शरीर की बनावट' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। अंग्रेज वैज्ञानिक विलियम हार्वे ने शरीर में खून के चक्कर काटने का सिद्धान्त निकाला। गणितशास्त्र के विशेषज्ञ सर आइजक न्यूटन (१६४२—१७२७ ई०) ने पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का सिद्धान्त स्थापित किया। हेली ने एक पुच्छल तारे के दिखाई देने के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी (१६८२ ई०)। न्यूटन तथा हेली दोनों अंग्रेज थे और इन्हें ही खगोल को वर्त्तमान रूप देने का श्रेय प्राप्त है। पेरासेल्सस, हेलमोंट और राबर्ट बोयल के प्रयास से रसायनशास्त्र के विकास में प्रोत्साहन मिला। रसायनशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र में घना सम्बन्ध सिद्ध किया गया। बरामीटर, ग्लेस स्केल आदि जैसे कुछ यन्त्रों का भी निर्माण हुआ।

इस तरह गणित, ज्योतिष, चिकित्सा, नौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र सभी क्षेत्रों मे विज्ञान की उन्नति हुई, किन्तु इस दिशा मे चर्च बडा बाधक सिद्ध हुआ। उसे सत्य का शोध सह्य न था। कोपरनिकस के कितने ही समर्थक जीते-जी आग मे जला दिये गये थे। फिर भी सत्य के प्रकाश को दमन के सहारे रोकना किसी की शक्ति के परे की बात है। अब वैज्ञानिक विकास के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।

(ख) भौगोलिक अन्वेषण

भूमिका

मध्ययुग मे यात्रा और व्यापार होते थे अवश्य, किन्तु बहुत ही छोटे पैमाने पर। उनके क्षेत्र सकीर्ण थे। छोटे छोटे समुद्रो मे ही यात्राएँ हो सकती थी। अटलाण्टिक जैसे महासागर मे यात्रा करना दुस्तर कार्य था। अत उस काल मे प्रादेशिक खोज तथा औपनिवेशीकरण को कोई प्रोत्साहन नही मिला। इसके लिए कई बाते उत्तरदायी थी। अभी दुनिया के बारे मे लोगो को पूरी जानकारी नही थी। अमेरिका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया अभी तक अज्ञात थे। दीर्घकालीन तथा सकटपूर्ण यात्रा करने के लिए बहुत लोग तैयार नहीं थे। अभी सामुद्रिक विद्या का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। समुद्र यात्रा करने मे अनेको कठिनाइयाँ थी। जहाज छोटे और खतरनाक होते थे। अपनी गति और सुरक्षा के लिए वे हवा पर निर्भर रहते थे। वे अधिक यात्री या माल नही ढो सकते थे। समुद्री लुटेरे उत्पात मचाया करते थे। अभी कुतुबनुमा भी प्रयोग मे नहीं था जिससे दिशा-ज्ञान करने मे बडी दिक्कत होती थी। लोगो के पास पूँजी का अभाव था और सरकार की ओर से भी सहायता नही मिलती थी। अभी राष्ट्रीयता का व्यापक प्रचार नहीं था, अत लोगो मे त्याग एव साहसिकता का अभाव था। कुस्तुन्तुनियाँ के द्वार से यूरोप तथा एशिया के बीच व्यापार होता था। एशिया से चीजे कुस्तुन्तुनियाँ होकर यूरोप मे भेजी जाती थी। इन्ही कारणो से सामुद्रिक यात्रा तथा व्यापार मे विशेष प्रगति नहीं हो सकी। पुन-रुत्थान-काल मे मानसिक बन्धनो से मुक्ति हुई और अब मानव का ध्यान दुनिया की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। अज्ञात देशों के अन्वेषण और उनके आन्तरिक भागो की खोज होने लगी। १५वीं और १६वीं शताब्दी मे सामुद्रिक यात्राओ तथा भौगोलिक अन्वेषणो को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला।

भौगोलिक अन्वेषणों के कारण

भौगोलिक अन्वेषण के कई कारण थे। पहला, मध्यकाल से ही सुदूर पूर्व से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्थल-मार्ग की खोज हो रही थी। मगोल-विजय ने इस अभाव की पूर्ति की। दूसरा मगोल सम्राट् के दरबार मे देश-देशान्तर के लोगो का जमघट लगा रहता था। इससे यूरोप तथा एशिया के बीच सम्पर्क बढ़ा और मार्ग सुरक्षित हो गया। १३वीं

शताब्दी में यूरोप से कई धर्म-प्रचारक तथा व्यापारी पूर्वी देशों में गये। धर्म-प्रचारकों में जॉन ऑफ लौनोकार्पिनी तथा विलियम ऑफ ब्रुक्सि के नाम प्रसिद्ध है। ये लोग चंगेज खाँ के समय में चीन पहुँचे थे। इन्होंने अपनी यात्राओं के वृत्तान्तों को लिपिबद्ध कर दिया था। इनके बाद कुबलई खाँ के शासन-काल में वेनिस के निवासी निकोलो पोलो, मेफियो पोलो और निकोलो के पुत्र मार्कोपोलो पधारे थे। इनमें मार्कोपोलो का नाम विशेष स्मरणीय है। उसने १७ वर्ष चीन में और लगभग ८ वर्ष रास्ते में व्यतीत किया था। उसके भ्रमण वृत्तान्तों से भौगोलिक ज्ञान का विस्तार हुआ और पूर्वी देशों के वैभव-विलास का चमत्कार देखने के लिए लोगों में उत्सुकता की भावना जग उठी। तीसरा, धर्म-युद्धों से भौगोलिक अध्ययन तथा देश-देशान्तर की यात्रा के लिए प्रोत्साहन मिला। चौथा, पूर्वी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध आर्थिक दृष्टि से बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ था। ऐसे ही फ्लोरेन्स तथा जिनोआ के व्यापारी बहुत धनी तथा प्रतिष्ठित हो गए थे। पाँचवाँ, पूर्वी व्यापार पर इटली-निवासियों को एकाधिकार प्राप्त था और भूमध्यसागर के मार्गों पर भी उन्हीं का नियन्त्रण था। इससे अन्य राष्ट्रों में ईर्ष्या पैदा हुई और नये मार्ग खोजने के लिये प्रेरणा मिली। छठाँ, यूरोपीय देशों में जनसंख्या की वृद्धि होने लगी थी। अतः नये-नये स्थानों में जाकर उपनिवेशों की स्थापना करना आवश्यक प्रतीत हुआ। सातवाँ, ईसाई पादरी धर्मप्रचार करना चाहते थे जिससे विदेश-यात्रा को प्रोत्साहन मिला। आठवाँ, रोमन साम्राज्य की स्थापना के समय से ही प्राच्य और भूमध्यसागरीय देशों में अनेक वस्तुओं का व्यापार होता था। यूरोप वाले कई चीजों, खास कर मसाले के लिए, भारत तथा अन्य देशों पर निर्भर हो गए थे। यह व्यापार कुस्तुन्तुनियाँ तथा एशिया माइनर के द्वारा होता था। किन्तु १४५३ ई० के बाद कुस्तुन्तुनिया पर तुर्कों के आधिपत्य से यह मार्ग अरक्षित हो गया। अब यूरोप वासियों के लिये लाल सागर बन्द हो गया। अब उन्हें नवीन मार्ग खोजने की आवश्यकता हुई। नवाँ, १५वीं सदी की परिस्थितियाँ भी अनुसन्धान-कार्य के अनुकूल थीं। सिकन्दरिया के भूगोल-विशेषज्ञ अपने लेखों के द्वारा इस ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रहे थे। महत्त्वाकांक्षी शासक तथा ऐश्वर्यशाली मध्यम श्रेणी के लोग सामुद्रिक यात्राओं के लिए सभी सम्भव सुविधाओं को प्रदान करने के लिए उत्सुक थे। पहले की अपेक्षा अब जहाज बड़े और सुदृढ़ बनने लगे थे। दिशा-ज्ञान के लिए कुतुबनुमा का प्रयोग होने लगा था। वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध कर डाला था कि पृथ्वी गोल है और पश्चिमी दिशा से भी प्राच्य देशों में कोई पहुँच सकता है।

अन्वेषण-कार्य

अन्वेषण-कार्य का श्रीगणेश सर्वप्रथम पुर्तगालिय वासियों ने किया। इसके कई कारण थे। अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा उनकी राजनीतिक प्रणाली सुसगठित थी। उनके शासक साहसी

तथा उदार प्रकृति के थे। हेनरी नामक एक शासक (१३९४-१४६० ई०) स्वयं कुशल नाविक था और सामुद्रिक यात्रा में उसकी विशेष अभिरुचि थी। वह 'नाविक हेनरी' के नाम से प्रसिद्ध था। पुर्तगाल वाले धर्मप्रचार एवं व्यापार के प्रसार के लिए अधिक उत्सुक थे। वे इटली के लोगों से बहुत दूर थे और महासागर के किनारे पर बसे हुए थे। उन्होंने मध्ययुग के धर्मयुद्धों में हाथ बँटाया था और मूरों को पराजित किया था।

पुर्तगाल-वासियों ने कनारी द्वीपसमूह को अधिकृत कर अफ्रीका के पश्चिमी तट का अन्वेषण प्रारम्भ किया। इस दिशा में 'नाविक हेनरी' ने ही अग्रदूत का काम किया। उसने सुदृढ़ जहाजों का निर्माण किया और कुशल नाविकों, मानचित्रकारों तथा भूगोल-शास्त्र के विशेषज्ञों के साथ प्रस्थान किया। उसने अनेक द्वीपों पर आधिपत्य स्थापित किया, किन्तु कालकवलित हो जाने के कारण आगे नहीं बढ़ सका। उसके मरने के पश्चात् भी खोज का क्रम जारी रहा। १४८७ में बार्थोलोम्युडियाज ने अफ्रीका के दक्षिणी छोर तक पहुँचने का सफल प्रयास किया। उसने इस भाग को 'तूफानों का अन्तरीप' के नाम से पुकारा। किन्तु जब उसने अपने देश लौट कर सम्राट को यह खबर सुनायी तो सम्राट बड़ा खुश हुआ और उसने अफ्रीका के दक्षिणी सिरे को उत्तमाशा अन्तरीप कह कर सम्बोधित किया, क्योंकि उसे अब शीघ्र ही भारत पहुँच जाने की पूरी आशा हो गई। बात भी ठीक ही थी, १० वर्ष के बाद आशा पूरी होकर ही रही। १४९७ ई० में वास्कोडिगामा नामक नाविक उसी अन्तरीप की प्रदक्षिणा करते हुए भारतवर्ष के पश्चिमी तट पर कालीकट में पहुँचा। कालीकट तक पहुँचने में जंजीबार द्वीप से उसे एक अरबवासी का सहयोग प्राप्त हुआ था।

चित्र २—कोलम्बस

इस क्षेत्र में स्पेन भी पुर्तगाल से पीछे नहीं रहा। १४९२ ई० में कोलम्बस ने अटलांटिक महासागर में यात्रा प्रारम्भ की और इसे पार करते हुए वह अमेरिका पहुँचा। मैगलेन नामक एक पुर्तगाल निवासी स्पेन राज्य में ही नौकरी करता था। वह १५१९ ई० में बहुत धन-वैभव के साथ समुद्री यात्रा के लिए चल पड़ा। उसे विश्व-भ्रमण करने की उत्कट इच्छा थी। वह दक्षिणी अमेरिका के एक जल डमरूमध्य से होकर प्रशान्त महासागर में

पहुँचा। उस डमरुमध्य का नाम भी उसी के नाम पर मैगलन स्ट्रेट पड़ गया। प्रशान्त महासागर मे उत्ताल तरगो के बीच सकट का सामना करता हुआ वह फिलीपाइन्स द्वीप-समूह मे पहुँचा। वह इसी द्वीप मे मार डाला गया जब कि वह इसे अपने राज्य मे मिलाने का प्रयत्न कर रहा था। किन्तु उसके मित्रों ने उत्तमाशा अन्तरीप होकर पृथ्वी की सर्वप्रथम परिक्रमा कर ली। उसका एक जहाज तीन वर्ष के बाद स्पेन लौटकर आया। इस तरह मैगलेन सर्वप्रथम नाविक था जिसने पहल पहल विश्वयात्रा प्रारम्भ की थी। दुनिया का यह सर्वप्रथम सामुद्रिक चक्कर था। स्पेन के नाविको ने दक्षिणी अमेरिका के तट का अन्वेषण किया और अमेरिगा नामक एक व्यापारी के नाम पर यह महाद्वीप अमेरिका के नाम से प्रसिद्ध हो चला। उत्तरी अमेरिका मे भी खोज हो रही थी। स्पेनवासियों ने पेरु तथा मेक्सिको पर विजय प्राप्त की। ये दोनो स्थान प्राचीन सभ्यता के हरे-भरे केन्द्र थे किन्तु शोषक तथा पीडक स्पेनवासियों के अधीन इनके गौरवमय जीवन का अन्त हो गया। जॉन काबो नामक एक इटालियन, जो इगलैड मे रहता था, १४९७ ई० मे ही
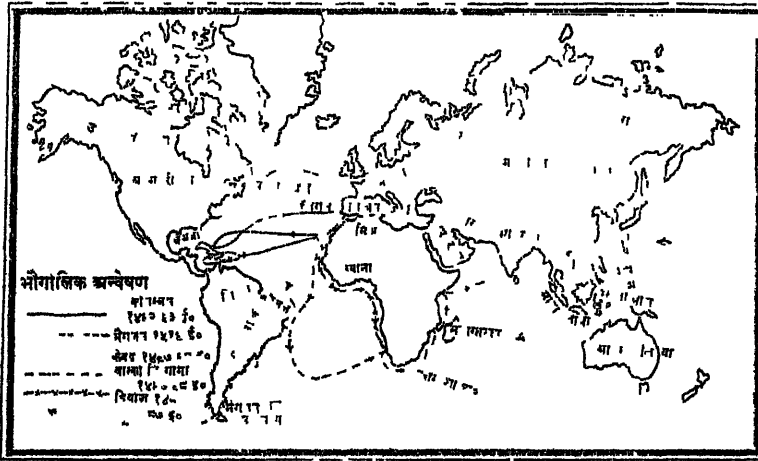
चित्र २—भौगोलिक अन्वेषण

इगलैड से चला। उसने लेब्राडर के निकट जहाज चलाया और उत्तरी अमेरिका के भूभाग को स्पर्श किया। कुछ अन्य अगरेज नाविको ने भी उत्तरी अमेरिका के तट पर पहुँचने का प्रयत्न किया। उनमे जॉन डेविस तथा मार्टिन फ्रोबिशर विशेष प्रसिद्ध है।

भौगोलिक अन्वेषणों के परिणाम

इन भौगोलिक खोजो के महत्त्वपूर्ण तात्कालिक एव दूरगामी परिणाम निकले। पुराने

व्यापारिक मार्ग भूमध्य सागर से होकर जाते थे। अत पहले भूमध्य सागर ही व्यापार का केन्द्र था। अब नये मार्ग प्रकाश में आए। अटलांटिक होकर अमेरिका और अफ्रीका की परिक्रमा करते हुए एशिया के देशों में जाने के लिए मार्ग ढूँढ निकाले गए। अत. अब इटली के नगर-राज्यों का महत्व जाता रहा। अटलांटिक महासागर की महत्ता बढ गई। इसके तट पर स्थित इंगलैंड, स्पेन आदि अनेक देश व्यापारिक केन्द्र बन गए और उनमें प्रतियोगिता की भावना भी जाग्रत होने लगी। नयी दुनिया से सोना-चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुएँ पर्याप्त मात्रा में स्पेन में आने लगीं और इसके ऐश्वर्य में खूब वृद्धि होने लगी। स्पेनवासी दास-व्यापार में बड़े ही दक्ष थे। यह देखकर अंगरेज, फ्रांसीसी तथा डच भी नयी दुनिया से व्यापार करने के लिए लालायित हो उठे। लेकिन स्पेनवासी अमेरिका में उनका प्रवेश होने देना नहीं चाहते थे। अत फ्रांसिस ड्रेक, जॉन हॉकिन्स आदि जैसे अंगरेज नाविक अमेरिका के तट पर आक्रमण करने और स्पेन के माल को खूब लूटने लगे। इन नाविकों को समुद्री कुत्ते की उपाधि दी गई थी। साम्राज्यवादिता का यहीं बीजारोपण हो गया जो आगे चल कर पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ।

नवीन व्यापारिक मार्गों के अन्वेषण से उपनिवेश, व्यापार तथा कारीगरी को बहुत ही प्रोत्साहन मिला। अब विशाल तथा सुदृढ जहाज निर्मित होने और समुद्र के द्वारा भारी से भारी चीज कम खर्च में ढोने में सहूलियत हो गई। यूरोप में चाय, कॉफी, आलू, मक्का जैसी अनेक नवीन वस्तुओं का प्रयोग होने लगा। व्यापारिक प्रगति के ही कारण पूँजीपति तथा मध्यम वर्ग का उत्थान हुआ। ये लोग अपने वाणिज्य-व्यवसाय का स्वयं प्रबन्ध करने लगे थे। इससे मध्यकालीन गिल्डों के शीघ्रपतन में योग मिला। धन-वैभव की खूब वृद्धि हुई, जिससे भोग-विलास को प्रोत्साहन मिला। स्पेन का आर्थिक संगठन ढीला हो गया जिससे अनेक अड़चनें पैदा हुईं। चर्च की भी हानि हुई क्योंकि समृद्धि के साथ-साथ इसमें भ्रष्टाचार की भी बाढ़-सी आने लगी थी। इस तरह चर्च की आंतरिक स्थिति संकट से रिक्त नहीं रही।

उपर्युक्त जिन परिणामों की चर्चा की गई है, वे यूरोप के सम्बन्ध में हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यूरोप के अतिरिक्त अन्य देश नहीं प्रभावित हुए। अन्वेषणों तथा अनुसन्धानों का दूसरे देशों पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा। एशिया के देशों में यूरोपियनों का प्रवेश हुआ और धीरे-धीरे उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार हुआ। अमेरिका में तो उन्होंने उपनिवेश ही बसा डाला और सभ्यता तथा संस्कृति की दृष्टि से वह यूरोप का प्रतिरूप ही बन गया। एशिया तथा अमेरिका की अपेक्षा अफ्रीका में यूरोपीय सभ्यता का विशेष प्रचार न हो सका क्योंकि यहाँ की जलवायु विदेशियों के अनुकूल नहीं थी। तथापि अफ्रीका भी अन्ध महादेश न रहा और कालक्रम में प्रकाश के क्षेत्र में आ गया। उसकी

एक-एक इंच भूमि पर अधिकार करने के लिए विदेशियों में होड सी मच गई और वे आपस में लडने लगे।

यूरोपवासियो के नेतृत्व के कारण

अब पाठकों को यह जानने की उत्सुकता होगी कि आविष्कार, अनुसन्धान तथा अन्वेषण के क्षेत्र में यूरोपवासियो ने ही नेतृत्व क्यों किया? एशिया के निवासियो में यूरोपवासियों की अपेक्षा धर्म की अधिक प्रधानता थी और उनका धर्म शान्ति तथा सन्तोष के सन्देश से परिपूर्ण था। दूसरे, एशिया के कई देश प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति के केन्द्र रह चुके थे और वे धन-धान्य से परिपूर्ण थे। वहाँ के निवासी सुखी थे तथा वे विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें किसी विदेशी वस्तु की आवश्यकता नहीं थी। इसके विपरीत यूरोप की सभ्यता तथा संस्कृति नई थी और वहाँ धन का अभाव था। वहाँ के शासक धन तथा यश के लोभी थे और वे पूर्वी देशों के धन-वैभव की गाथा सुनते थे। यहाँ के निवासियों में धर्म-प्रचार की भावना कूट-कूट कर भरी थी तथा उनकी साहसिक भावना भी प्रबल थी। वे कई चीजों के लिए पूर्वी देशों पर बहुत पहले ही से निर्भर थे। जब तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया तो वे अन्य मार्ग ढूँढ़ने के लिए विवश हुए। इन्हीं कारणों से यूरोपवासियों का नेतृत्व करना स्वाभाविक था। अमेरिका और अफ्रीका की बात ही क्या कहनी है! पहला विकास की दशा में था तो दूसरा अभी अन्धकार में ही सोया था।

(ग) धर्मसुधार-आन्दोलन

भूमिका

मध्ययुगीन यूरोप में ईसाई धर्म की एकता पर विशेष जोर दिया जाता था। सारी ईसाई दुनिया पोप की अध्यक्षता में शृंखलाबद्ध थी। लेकिन सम्राट तथा पोप की दुर्बलता के कारण इस ऐक्य के आदर्श में कमजोरी उत्पन्न हो गई। कुछ अन्य बातों से भी एकता का गठबन्धन ढीला-ढाला हो रहा था। फिर भी १५वीं सदी तक ईसाइयत की एकता का बाहरी स्वरूप कायम रहा था। सारे ईसाई संसार का स्वामी अभी तक पोप माना जाता था। उसके विरोधियों को दण्ड के द्वारा शान्त कर दिया जाता था। लेकिन वस्तुस्थिति को पर्दे के अन्दर छिपाकर नहीं रखा जा सकता। १६वीं सदी के प्रारम्भ तक धर्मसुधार-आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया जिसकी धारा में ईसाई एकता का बाहरी स्वरूप भी प्रवाहित हो गया। इस धर्मसुधार-आन्दोलन के कई कारण थे।

धर्मसुधार-आन्दोलन के कारण

चर्च में अनेक बुराइयों का समावेश हो गया था। पादरी सामन्त भी थे और सामन्तों के सभी दुर्गुण उनमें भी वर्त्तमान थे। गिरजे और मठ विविध कुरीतियों तथा भ्रष्टाचार के

केन्द्र बन गए थे। इनमें अकूत सम्पत्ति एकत्रित हो गई थी और धर्माधिकारियों का जीवन भोग-विलास से ओत-प्रोत हो रहा था। कृत्रिमता का बहुत जोर था। मठों तथा गिरजाघरों, पुजारियों तथा पादरियों की संख्या में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही थी। विधि-विधानों की प्रधानता थी किन्तु पवित्रता का अभाव था, वास्तविकता की कमी थी। त्योहारों में बहुत खर्च पड़ता था। साधारण जनता इन उत्सवों को मनाने में असमर्थ थी। पादरियों तथा भिक्षुणियों के जीवन में आचार-विचार का अभाव था। पापियों के उद्धार के लिए भी सहज रास्ता खुला था। वे अपनी मुक्ति के लिए शुद्धता की जितनी चिन्ता नहीं करते थे उतनी पाप के क्षमापत्र के लिए करते थे। बड़े से बड़े पापों के लिए पोप का क्षमापत्र पर्याप्त था। पोप धन लेकर क्षमापत्र पापियों के हाथ बेचता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे पापाचार के लिए कितना अधिक प्रोत्साहन मिलता था। पोप के अधिकार किसी आधुनिक अधिनायक से भी अधिक थे। वह ईसाई संसार का सर्वेसर्वा था। वह कार्यकर्त्ता भी था, व्यवस्थापक भी, विचारपति भी। किसी भी राज्य के मामले में वह हस्तक्षेप कर सकता था। आर्थिक क्षेत्र में भी उसके कई अधिकार थे। इन विस्तृत अधिकारों का दुरुपयोग करने में वह प्रायः उचित सीमा को भी पार कर जाता था। जनहित या धार्मिक कार्यों में धन खर्च नहीं होता था बल्कि पोप के भोग-विलास में ही इसका अपव्यय होता था। जब चर्च के प्रधान धर्माचार्य की यह दशा थी तो उसके अधीनस्थ कर्मचारियों की क्या पूछना। उनमें कितने अपने प्रधान को भी मात करने वाले थे। ढोंग और दुराचार का हद हो गया था। प्रार्थना प्रदर्शन मात्र के लिए होती थी। यह भी लैटिन या ग्रीक में की जाती थी जिसे सर्वसाधारण खाक-पत्थर कुछ भी नहीं समझ पाते थे। सारे यूरोप में यही वातावरण था।

फलस्वरूप धार्मिक संस्थाओं और अधिकारियों में लोगों की श्रद्धा और भक्ति जाती रही थी और वे स्वाभाविक ही उनकी उपेक्षा करने लगे थे। अब उन्हें दबाना आसान कार्य नहीं था। बोलचाल की भाषाओं में धर्मग्रन्थों का अनुवाद हो जाने से अधिकांश लोग उन्हें पढ़ने लगे। बुद्धि विश्वास का स्थान ग्रहण करने लगी और लोग धर्माधिकारियों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे।

उपर्युक्त बातों के सिवा कुछ अन्य कारण भी थे। चर्च राज्य के अन्दर राज्य के रूप में संगठित हो रहे थे। राजसत्ता के साथ साथ धर्मसत्ता का उदय होने लगा था। चर्च तथा मठ करमुक्त थे और इनके अधिकारियों पर राजा का नियन्त्रण नहीं या नाममात्र का था। उनके अपने न्यायालय थे और राज्य-न्यायालय उन्हें दण्ड नहीं दे सकते थे। पोप राजा का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बन रहा था। रोम में उसकी धाक एक शाहंशाह की भाँति थी। वह किसी को धर्म-बहिष्कृत घोषित कर सकता था, किसी को सिंहासनासीन कराता था और किसी को

गद्दी से उतार भी देता था। राजनीतिक मामलो मे भी निर्णय करने का दावा वह करता था। राष्ट्रीयता के युग मे यह स्थिति असगत तथा अनुपयुक्त थी। पोप को विदेशी समझा जाने लगा और उसके पद तथा अधिकारो के विरुद्ध आवाज उठने लगी। अब रोम की सौन्दर्यवृद्धि तथा पोप के भोग-विलास के लिए कोई देश धन-दौलत देना नही चाहता था। छोटे-बड़े सभी को यह बात बुरी तरह अखरने लगी थी। अब धर्म के पर्दे मे राजा रोम के चगुल से छुटकारा पाने की चेष्टा करने लगे। धर्मसुधार और राष्ट्रीय भावना मे सुन्दर सामजस्य स्थापित हो गया। इस तरह धर्मसुधार-आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन भी था।

मध्यकाल मे ही चर्च की प्रचलित कुरीतियो ने कई सुधारको का ध्यान आकृष्ट किया। इनमे विक्लिफ तथा जॉन हस के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु चर्च के अधिकारी सकीर्ण, असहिष्णु और अदूरदर्शी थे। उन्होने शमन के बदले दमन की नीति अपनाई और अनेक सुधारको को क्रूरतापूर्वक मार डाला। लेकिन इससे शरीर का अन्त हुआ; विचारो का नहीं। उनके विचारो का तो और भी अधिक प्रचार हो गया। दमननीति की यह एक बड़ी भारी त्रुटि रही है। राजा तथा मध्यम श्रेणी के लोग चर्च तथा मठो की भूमि पर अधिकार कर लेना चाहते थे। उनके पास पर्याप्त भूमि थी जिससे राष्ट्र को कोई लाभ नही था। अतः उस भूमि को राज्य के द्वारा ले लेना अत्यावश्यक समझा गया।

इन्ही विभिन्न कारणो से १६वा सदी मे धर्मसुधार-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। लेकिन जैसा कि अभी कहा गया है, इसका प्रारम्भ बहुत पहले ही हो चुका था। परन्तु प्रारम्भिक काल के और १६वी शताब्दी के सुधार के दृष्टिकोण मे महान् अन्तर था। शुरू मे सुधारकों का उपदेश था चर्च की बुराइयों को दूर करना। वे इतने ही से सन्तुष्ट थे। वे पोप के पद तथा प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाना नहीं चाहते थे। ईसाइयत की एकता को नष्ट कर देना उनका उद्देश्य नही था।

पुनरुत्थान-काल मे इरैसमस नामक धर्मसुधारक का प्रादुर्भाव हुआ। वह हालैंड का निवासी था और उच्चकोटि का विद्वान, विचारक तथा लेखक था। उसने कई पुस्तकें लिखी जिनमें 'मूर्खता की प्रशसा' (दी प्रेज आफ फॉली) विशेष प्रसिद्ध है। इसमे उसने व्यग्यात्मक ढग से धर्माधिकारियो की कटु आलोचना की—उनकी खूब खिल्ली उड़ाई। उसके लेखो से बहुत लोग प्रभावित हुए। किन्तु वह भी चर्च की एकता का समर्थक था। वह यह नही चाहता था कि कोई पोप का मान-मर्दन करे और रोम का चर्च से सम्बन्ध विच्छेद करे।

कुछ अन्य विचारको ने भी धार्मिक बुराइयो के विरुद्ध आवाज उठाई। जॉन कालेट नाम का एक अगरेज सेंटपाल के गिरजे का पादरी था। उसने विक्लिफ, हस आदि

सुधारकों की, जिन्होंने अपने प्राण का उत्सर्ग कर दिया था, बड़ी प्रशंसा की। टामस मूर ने भी अपनी 'यूटोपिया' में धार्मिक कुरीतियों की कड़ी निन्दा की। किन्तु इन सब में मार्टिन लूथर का नाम विशेष स्मरणीय है। वही धर्मसुधार-आन्दोलन का वास्तविक जन्मदाता है।

मार्टिन लूथर

विभिन्न वर्ग के लोगों ने कैथोलिक चर्च का विरोध किया। शासक, शिक्षित, सर्व-साधारण—प्रायः सभी समुदाय के लोग चर्च से असन्तुष्ट हो गए थे। मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६ ई०) शिक्षित समुदायों का एक सदस्य था। वह जर्मनी में विटेनबर्ग के विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्राध्यापक था। इसके पहले ही वह भिक्षु भी बन चुका था। वह साधु और सरल प्रकृति का व्यक्ति था और धार्मिक क्षेत्र में बाह्याडम्बरों से अप्रसन्न रहता था। वह कर्मकांड की अपेक्षा सच्ची ईश्वरभक्ति पर विशेष जोर देता था। तीर्थयात्रा, प्रायश्चित आदि व्यर्थ की बातें थीं। वह ईश्वर की कृपा पर भरोसा रखता था और समझता था कि यदि बाइबिल के अनुसार अपना चरित्र निर्माण किया जाय तो ईश्वर अवश्य ही सहायक होगा। पोप तथा पुजारियों जैसे मध्यस्थों की कोई आवश्यकता नहीं थी। वह सन्यास पंथ का समर्थक नहीं था। उसने अपनी शपथ तोड़ दी और अपना विवाह कर लिया। उसकी पत्नी ने भी अपनी शपथ का परित्याग कर दिया था। पोप के क्षमापत्र को वह धोखे की टट्टी मात्र समझता था। १६वीं सदी के प्रथम चरण में रोम में संत पीटर का चर्च बन रहा था। उसके लिए अकूत धन की आवश्यकता थी। अतः धन-संग्रह के हेतु १५१७ ई० में टेटजल नाम का एक संत जर्मनी भेजा गया जहाँ उसने पाप से मुक्त करनेवाले पोप के क्षमापत्र बेचना शुरू किया। वह भोली-भाली जनता को झूठी-झूठी बातों और प्रलोभनों से बहकाने में बड़ा ही चतुर था। लोग उसके बहकावे में पड़कर क्षमापत्र को अपने पूर्वजों के स्वर्ग में प्रवेश का पासपोर्ट समझने लगे। लूथर से यह अन्याय देखा नहीं गया। उसने इस प्रथा का घोर विरोध किया और पोप के अधिकारों को चुनौती दी। उसने अनेक लेख लिखे और उन्हें विटेनबर्ग के गिरजाघर के द्वार

चित्र ४—मार्टिन लूथर

पर कील से ठोककर लटका दिया। लोगों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके पक्ष में जनमत तैयार हो गया, क्षमापत्रों का क्रय-विक्रय बन्द हो गया। उसने पोप को शास्त्रार्थ करने के लिए निमन्त्रित किया लेकिन स्वार्थ तथा अंधविश्वास का भक्त पोप इसके लिए भला कब तैयार हो सकता था ? वह भयभीत था और लूथर के आचरण से मन ही मन क्रुद्ध रहा था। लूथर पोप का कोप-भाजन बना और धर्म तथा समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। लेकिन उसने बहिष्कार-पत्र को खुलेआम अग्नि में जला डाला। इस घटना से सारा यूरोप डगमगा उठा। इसके बाद कुछ काल तक लूथर को जंगलों में भटकता रहना पड़ा। लेकिन मदान्ध पोप को क्या पता था कि लूथर राष्ट्रीय नेता के पद पर गौरवान्वित होने जा रहा है—इतिहास के पृष्ठों में उसके लिए विशिष्ट स्थान सुरक्षित होने जा रहा है !

लूथर और चार्ल्स पंचम

जर्मन सम्राट चार्ल्स पंचम ने पोप का पक्ष लिया। वही पवित्र रोमन साम्राज्य का अधिष्ठाता था। वह लकीर का फकीर था और धार्मिक एकता को बनाए रखना चाहता था। अतः लूथर को दबाने के लिए उसने राजनीतिक शक्ति का सहारा लिया। उसने लूथर को तुरत अरक्ष्य घोषित कर दिया और उसकी लेखनी तथा लेखों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए। अब वह चर्च तथा राज्य दोनों का ही विद्रोही बन गया। किन्तु शीघ्र ही अन्य झंझटों में फँस जाने के कारण चार्ल्स लूथर का कुछ बिगाड़ न सका। दूसरी ओर सैक्सनी का राज-कुमार लूथर का रक्षक बन गया। अब कोई भी लूथर का बाल बाँका नहीं कर सका। उसने जर्मन भाषा में बाइबिल का अनुवाद कर प्रकाशित करा दिया जिसे अब सर्वसाधारण भी बड़ी रुचि के साथ पढ़ने लगे। जर्मनी का प्रत्येक वर्ग उसके सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ और लोगों में स्वतन्त्रता की भावना जग उठी। किसानों तथा सैनिकों में विद्रोह का बीज अंकुरित होने लगा। किसानों ने देखा कि सामन्तों के अत्याचार से छुटकारा पाने का यही सुअवसर है। सैनिकों ने सोचा कि यह जर्मनी की राष्ट्रीय एकता के लिए मौका आया और उन्होंने पोप के अनुयायियों से युद्ध करने के लिए ठान लिया। लेकिन लूथर विद्रोही क्रान्तिकारी नहीं था। वह अन्य क्षेत्रों में उच्छृंखलता की वृद्धि नहीं देखना चाहता था। अतः उसने विद्रोहियों का पक्ष नहीं लिया और राजकुमारों को सहयोग दिया। राजकुमार लोग पोप की अधीनता से मुक्त होकर अपनी राजशक्ति में वृद्धि करना चाहते थे। धर्म सुधार का यह राजनीतिक पक्ष था जिसका आरम्भ जर्मनी से होता है। किसान तथा सैनिकों के विद्रोह दबा दिये गए। १५५५ ई० में आग्सबर्ग की सन्धि हुई और प्रत्येक राजा को अपनी प्रजा का धर्म निश्चित करने का अधिकार मिला। राजकुमारों के समर्थन से लूथर

का धार्मिक आन्दोलन भी सुदृढ हो गया यद्यपि यह पूर्णरूपेण जन-आन्दोलन का रूप नहीं धारण कर सका।

लूथर की स्थिति दृढतर होती गई। उसके अनुयायियो की सख्या निरतर बढती गई। उसका चलाया हुआ धर्म प्रोटेस्टेंट धर्म के नाम से विख्यात हुआ क्योकि इस धर्म मे रोमन चर्च के सिद्धान्तो का विरोध (प्रोटस्ट) किया गया था। उत्तरी जर्मनी मे इसी नवीन धर्म की प्रधानता स्थापित हो गई थी। दक्षिणी जर्मनी कैथोलिक ही रहा।

चार्ल्स पचम को जब अवकाश मिला तो उसने प्रोटेस्टेंट धर्म को कुचलना चाहा। इस बीच लूथर की मृत्यु हो चुकी थी। चार्ल्स ने प्रोटेस्टेंटो के साथ अत्याचार करना शुरू किया। किन्तु जो कार्य शमन की नीति से होता है वह दमन की नीति से कदापि नहीं हो सकता। चार्ल्स स्वय पराभूत हुआ और निराशा के गर्त्त मे गिरा। अन्त मे उसने स्पेन के एक मठ मे शरण ली।

लूथर का स्थान

लूथर एक प्रगतिशील सुधारक था किन्तु खूनी क्रान्तिकारी नहीं था। उसी ने वास्तविक धर्मसुधार-आन्दोलन का सूत्रपात किया और उसे राजनीतिक रूप प्रदान किया। उसने जर्मन जाति की राष्ट्रीय भावना को जागरित किया और इसके राष्ट्रीयकरण के लिए मार्ग प्रस्तुत किया। उसने बाइबिल का स्थानीय भाषा मे रूपान्तर कर इसे लोकप्रियता प्रदान किया और सर्वसाधारण की सेवा की।

अन्य धर्म-सुधारक

लूथर की विचारधारा से अन्य देशो मे भी लोग प्रभावित हुए। स्वीटजरलैण्ड के ज्यूरिक नगर मे ज्विगली (१४८४-१५३१ ई०) के नेतृत्व मे आन्दोलन हुआ। किन्तु लूथर तथा ज्विगली के तरीके भिन्न थे। लूथर अनुदार था तो ज्विगली क्रान्तिकारी। ज्विगली के आन्दोलन को दमन करने के लिये कैथोलिको ज्यूरिक पर धावा बोला। फल-स्वरूप ज्विगली का अत हो गया परन्तु ज्यूरिक के लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त होकर रही।

जॉन काल्विन (१५०६-६४ ई०) के पथप्रदर्शन मे एक तीसरे सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ। वह फ्रास का रहनेवाला था किन्तु जब उसकी जान पर नौबत आई तो अपनी जन्मभूमि छोडकर १५३६ ई० मे वह जेनेवा भागकर चला गया। यहाँ वह प्रोटेस्टेंटो का नेतृत्व करने लगा। वह उच्चकोटि का तार्किक था और प्रत्येक बात को बुद्धि की कसौटी पर कसता था। उसके नियम बड़े ही कठोर थे। जो बात बाइबिल मे नहीं थी उसे मानने के लिए वह तैयार नहीं था। वह लूथर की अपेक्षा अधिक जनतान्त्रिक था और विशुद्धता पर बहुत जोर देता था। सेवा और सादगी का वह सच्चा समर्थक था। वह किसी भी प्रकार के मनोरजन तथा खेल-तमाशे का विरोधी था। ताश के खेल और दावत

पर भी प्रतिबन्ध था। अत उससे कला तथा विज्ञान को प्रोत्साहन नहीं मिला। उसमे धार्मिक सहिष्णुता का भी अभाव था। रोमन चर्च से उसने अपना सम्बन्ध बिल्कुल पृथक् कर लिया और भौतिक भोगो को तिलाजलि दे दी। वह भाग्यवाद का कट्टर समर्थक था। इसके अनुसार ईश्वर जिसे मुक्त करना चाहता है उसे ही अपने मे विश्वास करने के लिए प्रेरित करता है और ऐसा ही व्यक्ति सत्य का शोधक बन सकता है। उसने बालको की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया और शिक्षा का प्रधान उद्देश्य भव्य चरित्र-निर्माण करना घोषित किया।

प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रसार

लूथर प्रधानत जर्मन था और उसकी अनुदारता के कारण प्रोटेस्टट धर्म बहुत व्यापक न बन सका। उसके विचार जर्मनी के राजकुमारो के ही अनुकुल थे। अतः उन्होने इस धर्म को स्वीकार कर लिया। उनके उदाहरण से प्रभावित हो नार्वे, स्वेडन तथा डेनमार्क के राजकुमारो ने भी इस धर्म को ग्रहण कर लिया और अपने-अपने देश मे इसे राज-धर्म का बाना पहना कर गौरवान्वित किया। प्रोटेस्टट धर्म के व्यापक एव विस्तृत प्रचार का श्रेय तो काल्विन को प्राप्त है। उसके सरक्षण मे जेनेवा इस धर्म का प्रधान केन्द्र बन गया। वहाँ कैथोलिक धर्म के विरोधियो का ताँता बँध गया। काल्विन ने उन्हे अपने मत क स्कूल मे शिक्षित किया और वे लौट कर जहाँ भी गए वहाँ अपना पसीना तथा खून तक बहा कर प्रोटेस्टेट धर्म की रक्षा की।

यूरोप के कई देशो मे काल्विन के समर्थक छा गए। स्वीटजरलैण्ड तो उनका अड्डा ही बना हुआ था, हालैण्ड, फ्रास, स्कॉटलैण्ड, इगलैण्ड आदि देशो मे भी उनकी धर्म-पताका फहरा रही थी। फ्रास म वे ह्यूजेनौट के नाम से विख्यात थे जिनमे मध्यम वर्ग के ही अधिकाश लोग थे। वहाँ धर्मसुधार-आन्दोलन अधिक लोकप्रिय न हो सका। केथोलिको ने उनके साथ बडा अत्याचार किया। १५७८ ई० मे बार्थोलम्यू के हत्याकाड मे सहस्रो ह्यूजेनौट्स मौत के मुँह मे चले गए। कितने लोगो ने इगलैण्ड, जर्मनी और अमेरिका म शरण ली। धीरे-धीरे फ्रास मे भी इनकी स्थिति दृढ हो गई। १५९८ ई० मे हेनरी चतुर्थ के राज्यकाल मे नेन्टिज का राजनियम पास हुआ जिसके द्वारा प्रोटेस्टेंटो के प्रति उदार व्यवहार होने लगा। हॉलैण्ड मे धर्मसुधार-आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन भी था। हॉलैण्ड स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय के अधिकार मे था। अत विदेशी शासन से छुटकारा पाने के लिए विद्रोह हुआ और अन्त मे हॉलैण्ड मे जनतन्त्र की स्थापना होकर रही। स्कॉटलैण्ड मे काल्विन का शिष्य जॉन नौक्स था और वहाँ यह सम्प्रदाय प्रेसबिटेरियन के नाम से प्रसिद्ध था।

इगलैण्ड मे प्रोटेस्टट धर्म की स्थापना की कहानी बडी ही मनोरञ्जक है। वह धर्मसुधार

आन्दोलन प्रारम्भ मे न तो धार्मिक था और न राष्ट्रीय । यह विशेष परिस्थिति का उत्पादन था—पोप तथा राजा के आपसी झगड का परिणाम था । अष्टम हेनरी अपनी प्रथम पत्नी कैथराइन का त्याग करना चाहता था । पोप ने अनुमति नही दी । अत. हेनरी इगलैण्ड के चर्च का स्वय प्रधान बन बैठा और राष्ट्रीयता के आधार पर इसका सगठन किया जाने लगा । वही अब पादरियो को नियुक्त करने लगा । जनता ने भी उसका साथ दिया । उसने अपने विरोधियो को दबाने की भरपूर चेष्टा की । उन्हे देश से बाहर निकाल दिया गया । चर्च और मठा का असीम धन जब्त कर लिया गया । इससे राज्य की आय तथा शक्ति मे पर्याप्त वृद्धि हुई । एडवर्ड षष्ठ के समय मे प्रोटेस्टेट धर्म फूला-फला लेकिन मेरी ट्यूडर के शासनकाल म प्रोटेस्टेटा पर हाथ साफ किया गया क्योंकि वह कैथोलिक धर्म का कट्टर पक्षपाती थी । किन्तु अत्याचार और दमन से सुधार-आन्दोलन प्रबल होता गया । अत मे एलिजाबेथ के राज्यकाल में एक मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया और कुछ परिवर्तनो के साथ प्रोटेस्टेट धर्म स्वीकार कर लिया गया । देश मे राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हो गई ।

अभी तक आस्ट्रिया तथा दक्षिणी जर्मनी मे नये धर्म की जड न जम सकी क्योकि पोप तथा सम्राट का वहाँ विशेष प्रभाव था । दोना ही कैथोलिक धर्म के दृढ स्तम्भ थे ।

धर्मसुधार-आन्दोलन के परिणाम

प्रतिवादात्मक सुधार-आन्दोलन

प्रोटेस्टेट सम्प्रदाय के विस्तृत प्रचार से यूरोप के अधिकाश भाग का दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया । तीन प्रकार के प्रोटेस्टेट सम्प्रदाय विशेष प्रचलित थे—लूथर के अनुयायी, काल्विन के अनुयायी और ऐग्लिकन चर्च के अनुयायी । इनकी लोकप्रियता से कैथोलिक सम्प्रदाय को यह भय हुआ कि यदि उसके सिद्धान्तो तथा व्यवहारो मे समयानुसार परिवर्तन नहीं हुआ तो इस सम्प्रदाय का अस्तित्व ही लुप्त हो जाएगा । अत आत्मरक्षा के हेतु प्रचलित बुराइयों और कुरीतियों को दूर करना अनिवार्य समझा गया । पाल चतुर्थ नामक पोप ने इस सुधार-आन्दोलन का नेतृत्व किया । उसने भोग-विलासो का परित्याग कर सादगी का उदाहरण उपस्थित किया । इस तरह अनेक कुशल पोपो के पथ-प्रदर्शन मे बहुत से महत्त्वपूर्ण सुधार के लिए प्रयत्न किये गए । इसी घटना को इतिहास मे प्रति-वादात्मक सुधार-आन्दोलन कहते हैं । इसके दो रूप थे—धार्मिक सिद्धान्तो की व्याख्या तथा धर्मप्रचार । इनकी पूर्त्ति के लिए तीन साधन अपनाए गये .—ट्रेंट का सम्मेलन, जेसस सस्था और धार्मिक न्यायालय । पहले ने धर्म की व्याख्या की और दूसरे तथा तीसरे ने उसका प्रचार ।

ट्रेंट नगर में एक विशाल धर्म-सम्मेलन का आयोजन किया गया था । १८ वर्ष के

अन्दर (१५४५—६३ ई०) इसकी कई बैठकें हुई। कैथोलिक चर्च की कुरीतियाँ उठा दी गई। प्राय• छोटे-बड़े सभी पदो पर योग्य व्यक्तियो की नियुक्ति की जाने लगी। धर्माधिकारियो की सच्चाई, पवित्रता तथा सादगी पर विशेष जोर दिया गया। भ्रष्टाचारी और अनुशासनहीन पादरियो का कठोर दण्ड देने का नियम बनाया गया। गिरजो, मठा तथा अन्य शिक्षण-सस्थाओ मे बाइबिल के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था की गई। प्रोटेस्टट धर्म सम्बन्धी पुस्तको तथा लेखो के प्रकाशन और प्रचार के अन्य साधना पर प्रतिबन्ध लगाया गया।

कैथोलिक सम्प्रदाय मे एक नयी सस्था का उदय हुआ जो जेसुइट्स सस्था के नाम से प्रसिद्ध है। इसे जीसस की सस्था भी कहा जाता है। इसके सदस्य जेस्वीट्स कहलाते थे। इसका सस्थापक एक स्पेन निवासी था जिसका नाम इग्नेशियस लायोला (१४९१-१५५६ ई०) था। वह मुख्यत एक सैनिक था। अत• वह अनुशासन तथा नियमो के पालन पर विशेष जोर देता था। इस सस्था का एक प्रधान होता था जो आजीवन इस पद पर विराजमान रहता था। इसका प्रथम प्रधान इग्नेशियस स्वय था। इसके सदस्यो के लिए कठोर नियमो की व्यवस्था की गई थी। ईश्वरभक्ति, पोपभक्ति, आज्ञाकारिता, सादगी, ब्रह्मचर्य आदि बातो पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शिक्षा का प्रचार तथा दीना, आहतो और पीड़ितों की सेवा इस सस्था का मुख्य उद्देश्य था। अत इसकी ओर से अनेक शिक्षालय और चिकित्सालय जहाँ-तहाँ खोले गए। शिक्षा-प्रणाली मे बाइबिल की प्रधानता थी। इस सस्था ने विदेशो मे भी अपने धर्मप्रचारको को भेजा जिनके प्रयत्न स एशिया तथा अमेरिका के विभिन्न देशो मे कैथोलिक इसाई मत का प्रचार हुआ।

धार्मिक न्यायालय कोई बिल्कुल नयी सस्था नहीं थी। मध्यकाल से ही इसका उपयोग किया जा रहा था। धर्म-विरोधियो को दण्ड देने के लिए ही इसकी स्थापना हुई थी। यह न्यायालय चर्च के विरोधियो को क्रूर से क्रूर दण्ड देता था। धर्मसुधार-आन्दोलन के युग मे इस न्यायालय का विशेष प्रयोग होने लगा था। यह आतक के द्वारा प्रोटेस्टेट विचारधारा की गति को रोकना चाहता था, किन्तु इसका सारा प्रयत्न विफल रहा।

इसाई धर्म की एकता का अन्त

धर्मसुधार-आन्दोलन का दूसरा परिणाम था इसाई धर्म की एकता का अन्त। मध्ययुग धार्मिक एकता का युग था। सभी लोग कैथोलिक रोमन चर्च की छत्रछाया मे रहते थे और इसका प्रधान पोप था। राजनीतिक साम्राज्य का सिरमौर सम्राट् था तो धार्मिक साम्राज्य का पोप। सम्राट् मे राजसत्ता निहित थी और पोप मे धर्मसत्ता। किन्तु प्रोटेस्टेट धर्म के उदय के साथ धार्मिक एकता का आदर्श जाता रहा। अब चर्च दो प्रकार के

हो गए—कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट। इसके सिवा प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय मे भी कई शाखाएँ स्थापित हो गई, जैसा कि पहले देखा जा चुका है। कैथोलिक चर्च में भी धीरे-धीरे विभाजन होने लगा था।

धार्मिक युद्ध का श्रीगणेश

इसाई धर्म की एकता का ही केवल अन्त नहीं हुआ, बल्कि विभिन्न विरोधी सम्प्रदायो के बीच सघर्ष का भी श्रीगणेश हुआ। १६वीं और १७वीं सदी का पूर्वार्द्ध कठोर विशुद्धवाद, घोर असहिष्णुता तथा धार्मिक युद्ध का युग था। धर्म के नाम पर पशुओ की भाँति मनुष्यो का बलिदान किया जा रहा था और खून की नदियाँ बहाई जा रही थीं। अगणित व्यक्तियो का बध हुआ और कितने अपनी जन्मभूमि को छोड़कर विदेशो मे शरण लेने के लिए बाध्य हुए। धर्म के ही आधार पर यूरोप दो गुटो मे विभक्त हो गया था—कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट और दोनो ही एक दूसरे के अस्तित्व को मिटा देने के लिए कमर कसकर तैयार हो गये। कुछ काल तक सास्कृतिक तथा राजनीतिक उन्नति मे रुकावट पैदा हो गई।

चार्ल्स पचम ने जर्मनी मे नये आन्दोलन को कुचलने के लिए कोई कोर-कसर उठा नहीं रखा था और प्रोटेस्टेंटो से लडाई तक ठान ली थी। १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध मे फ्रास मे भयकर गृहयुद्ध हुआ जिसमे हजारो प्रोटेस्टेंट मौत के घाट उतरे और बहुतेरे भाग कर विदेश चले गए। इगलैण्ड तथा स्पेन के बीच आर्मडा की भीषण लड़ाई हुई जिसमें स्पेन बर्बाद हो गया। सत्रहवी सदी के पूर्वार्द्ध मे इगलैण्ड मे भी धर्म के आधार पर गृहयुद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप चार्ल्स प्रथम को फाँसी हुई और प्रजातन्त्र राज्य का असफल प्रयोग हुआ। ११ वर्षो तक निरकुशता की प्रधानता रही और राष्ट्रीय चर्च की क्षति हुई। बहुत से प्यूरिटनो को जो, काल्विन के अनुयायी थे, अमेरिका मे शरण लेनी पडी। कैथोलिक स्पेन ने प्रोटेस्टेंट नीदरलैण्ड पर अत्याचार का पहाड़ ही ढा दिया था। नीदरलैण्ड स्पेन के राज्य के अन्तर्गत था, अत वहाँ के निवासियो ने धार्मिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए विद्रोह कर डाला। फिलिप द्वितीय स्पेन का सम्राट् था। उसने बडी बर्बरता के साथ विद्रोह को दबाने का प्रयत्न किया, किन्तु नीदरलैण्ड वाले स्वतन्त्र होकर ही रहे।

धार्मिक असहिष्णुता तथा सकीर्णता का भीषण और भयकर परिणाम था यूरोप का ३० वर्षीय युद्ध (१६१८—४८ ई०)। लगभग सारा यूरोप इसमे शामिल था। हिंसा ने अपना प्रचण्ड रूप धारण कर नग्न नृत्य किया, सहस्रो की सख्या मे पशुओ की भाँति नर-सहार हुआ, मनुष्य ने मनुष्य के खून से होली खेली। धर्मान्ध यूरोप के धरातल का अधिकाश भाग रक्तरजित तथा निर्जन बन गया। जर्मनी बर्बाद हो गया, सर्वत्र

अव्यवस्था फैल गई। लेकिन यूरोप के होश भी ठिकाने आ गए, आँखें खुल गई। वेस्टफालिया की सन्धि के द्वारा १६४८ ई० मे युद्ध का अन्त हुआ। ससार के इतिहास मे यह एक युगप्रवर्तक सन्धि है। अब लोगो ने असहिष्णुता के कुफल को समझ कर सहिष्णुता की नीति स्वीकार कर ली। धार्मिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त मान लिया गया, सभी धर्मावलम्बियो को रहने की आज्ञा मिल गई और धार्मिक युद्ध के दिन बीत गए। लेकिन प्रत्येक देश में यह नीति एक-ब-एक कार्यान्वित नहीं कर दी गई, बल्कि धीरे-धीरे कार्यरूप मे लाई गई।

राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन

धर्मसुधार ने राष्ट्रीय भावना को जागरित किया। जो सभ्यता पहले धर्म-प्रधान थी वह अब राष्ट्र-प्रधान बन गई। देशी भाषाओ में बाइबिल के अनुवाद और पूजा-पाठ होने लगे। इससे राष्ट्रीय साहित्य के विकास मे सहायता पहुँची। धर्म मे जनता की अभिरुचि बढी। धनधान्य से पूर्ण मठो के टूटने से राष्ट्रीय राज्यो की आय तथा शक्ति मे वृद्धि हुई। व्यापार आदि के सम्बन्ध मे भी जो धार्मिक बन्धन थे, टूट गए। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता धर्म-निरपेक्ष होती गई और इसमे सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नति पर विशेष जोर दिया जाने लगा।

राज्यो की स्थिति में परिवर्तन

भौगोलिक अन्वेषण के युग मे स्पेन तथा पुर्तगाल की प्रधानता स्थापित हो गई थी। वे ही इस क्षेत्र मे अग्रदूत रहे थे। इन देशो ने नए व्यापारिक मार्गो से पूरा लाभ उठाया और अमरिका तथा भारत के व्यापार पर एकाधिपत्य स्थापित कर धन-दौलत की वृद्धि की। लेकिन धार्मिक युद्धो तथा राष्ट्रीयता के कारण इनकी स्थिति बिगड़ गई। अब ये तृतीय श्रेणी के राज्य बन गये। राष्ट्रीय राज्यो का उत्थान हुआ। हॉलैण्ड, फ्रास तथा इगलैण्ड की महत्ता बढ चली और इनमे व्यापारिक तथा औपनिवशिक स्पर्द्धा का बीज अकुरित होने लगा जो क्रमश: फूलने-फलने लगा। इस सघर्ष का आधुनिक युग की विशेषताओ मे एक प्रमुख स्थान है। इस तरह धर्मसुधार ने वर्त्तमान यूरोप के निर्माण मे सहायता प्रदान की है।

मानसिक क्राति का प्रारम्भ

सर्वसाधारण अन्धविश्वासो के दलदल मे बुरी तरह फँसे हुए थे। वे पोप को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतीक और अचूक मानते थे। उनके विरुद्ध मुँह खोलने का किसी को साहस नही होता था और न किसी को अधिकार था। धर्मसुधार-आन्दोलन ने इस धारणा के भूत का अन्त कर डाला। अब समाज मे उथल-पुथल मच गई। लोगो के मस्तिष्क मे

क्रान्ति उत्पन्न हो गई। अब यह स्पष्ट हो गया कि कोई भी पोप का विरोध कर सकता है और प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से सोचने तथा बोलने का अधिकारी है। इसी पृष्ठभूमि मे राजनीतिक स्वतन्त्रता का बीज भी छिपा हुआ है। अब तक शक्ति का स्रोत राजाओं तथा पोपों के बीच विभक्त था। किन्तु अब राजा सर्वशक्तिशाली हो गया और उसकी स्वेच्छाचारिता के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया। लेकिन अब जनसाधारण मूक नहीं थे जो अत्याचार का सहन करते। जब राजा मनमाना करने लगा तो जनता ने उसका भी विरोध किया। इसका इगलैण्ड प्रथम ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार धर्मसुधार पुनरुत्थान का ही एक अग था। दूसरे शब्दो मे धर्मसुधार-आन्दोलन सांस्कृतिक पुनरुत्थान-आन्दोलन का ही पूरक था।

— ——

अध्याय २४

राजतन्त्र का प्राबल्य--यूरोप तथा एशिया

(क) यूरोप

भूमिका

मध्यकाल में ही यूरोप के अधिकाश भागो में राष्ट्रीय राज्यो के निर्माण का शिलान्यास हो चुका था, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इन राज्यो के शासन-प्रबन्ध में सर्वसाधारण का कोई उत्तरदायित्व नहीं था और राजा निरकुश होते थे। किन्तु देश के सभी लोग अपने राज्य की सीमावृद्धि और स्वतन्त्रता के लिए उत्सुक रहते थे। इस तरह मध्ययुग में सशक्त राजतत्र का जो शिलान्यास हुआ उस पर आधुनिक युग में उसका विशाल भवन निर्मित हुआ। १७वी तथा १८वीं शताब्दी सशक्त राजतत्र के उत्कर्ष का युग था। इसके कई कारण थे।

राष्ट्रीयता का उत्थान सर्वप्रधान कारण था। इसका बीज तो पहले ही अकुरित हो चुका था। नवीनकाल के पदार्पण के साथ यह पूर्ण रूप से फूलने-फलने लगा। राज्यों के निर्माण में धर्म की महत्ता घटने लगी थी और भाषा, परम्परा और जातीय एकता ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। इससे राष्ट्रीयता की भावना विशेष रूप से जाग्रत हुई और राज्य सीमा निश्चित करने में अधिक सुविधा हो गई। प्रत्येक राज्य में स्वतत्र रूप मे भाषा की वृद्धि होने लगी थी और साहित्य में वहाँ की घटनाओ को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। धर्मसुधार आन्दोलन ने पोपशाही का अन्त कर प्रत्येक देश में धार्मिक एकता को प्रोत्साहित किया। पवित्र रोमन साम्राज्य के पतन के कारण यूरोप की राजनीतिक एकता की परम्परा का अन्त हो रहा था। राष्ट्रीयता के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा सामन्त वर्ग था। किन्तु मध्यम वर्ग के अभ्युदय और बारूद के आविष्कार ने इस वर्ग की जड खोद डाली। राज्य की शान्ति और स्थिरता मे मध्यमवर्ग का स्वार्थ निहित था। अत इसने राजा को बराबर अपना सहयोग दिया। मध्यकालीन अराजकता के फलस्वरूप सर्वसाधारण के हृदय में भी शान्ति-कामना प्रज्वलित हो उठी थी। नवीन भौगोलिक खोजो ने भी प्रत्येक देश के गौरव तथा वैभव को बढ़ा कर राष्ट्रीय भावना को सबल बनाया।

इस प्रकार राष्ट्रीयता सशक्त राजतन्त्रो का प्रधान आधारस्तम्भ थी। किन्तु पुनरुत्थान तथा धर्मसुधार--काल के कुछ विद्वान लेखको ने भी राजाओ के हाथ को सुदृढ करने मे सहयोग दिया। इटालियन लेखक मेकियाविली, फ्रासीसी लेखक बोडिन और अगरेजी लेखक

हॉब्स ने क्रमश 'दी प्रिंस,' 'दी स्टेट' और 'लेवियाथन' नामक पुस्तकें लिखीं। इन सब ने शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्र का दिल खोलकर समर्थन किया।

इंगलैंड

ट्यूडर राजाओं के शासन-काल (१४८५—१६०३ ई०) में राष्ट्रीय निरंकुश राजतंत्र का विकास हो चुका था। इस समय तक पार्लियामेण्ट भी शक्तिशाली हो गयी थी। किन्तु संकटपूर्ण विशेष परिस्थिति के कारण पार्लियामेण्ट राजाओं का विरोध करने में समर्थ नहीं थी। दूसरे, ट्यूडर शासक भी पार्लियामेण्ट से बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवहार करते थे। वे लोकमत की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते थे। जनता के सहयोग से ही उन्होंने रोम से सम्बन्ध विच्छेद कर राष्ट्रीय धर्म स्थापित किया था। तीसरे, देश की मानप्रतिष्ठा, धन-वैभव, विद्या, कला, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति हुई थी। इस दृष्टि से एलिजाबेथ का शासन तो स्वर्णयुग था

एलिजाबेथ के शासन-काल में निरंकुश राजतंत्र का पूर्ण विकास हो चुका था। सामन्त बिल्कुल शक्तिहीन हो गए थे। लेकिन इस समय तक जनशक्ति का भी विकास होने लगा था और जब सर्वसाधारण की स्वतन्त्रता का अपहरण होने लगा तो वे राजशक्ति का विरोध भी करने लगे।

स्टुअर्ट काल में (१६०३—८८ ई०) सारी परिस्थितियाँ बदल गई। विरोधात्मक भावनाएँ और भी अधिक प्रोत्साहित और प्रबल हो उठीं। भीतरी और बाहरी, किसी प्रकार का संकट नहीं रहा। अत अब निरंकुश राजतंत्र की आवश्यकता नहीं रह गई। किन्तु पूर्वकालीन स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम (१६०३—४९ ई०) ने समय की परीक्षा नहीं की। वे अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर राजाओं के दैवी अधिकार पर जोर देने लगे। वे अपने को कानून तथा सर्वसामान्य से ऊपर समझते थे। वे लोकमत को ठुकरा कर मनमाना कर लगाने लगे। लोगों को बन्दीगृह में भेजकर उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण किया और धार्मिक क्षेत्र में असहिष्णुता दिखलाई। चार्ल्स ने तो पूरे ग्यारह वर्षों तक कोई पार्लियामेंट ही नहीं बुलाई। इन सबका परिणाम बड़ा ही भयंकर हुआ। जनशक्ति राजशक्ति की अपेक्षा अधिक बलवती होती है, वह अजेय है। आठ वर्षों तक इंगलैंड बुरी तरह गृहयुद्ध में फँसा रहा। अन्त में चार्ल्स प्रथम को फाँसी के तख्ते पर झूलकर अपने प्राण से हाथ धोने पड़े। १६४९ ई० के प्रारम्भ में यह दुर्घटना हुई। अब इंगलैंड में गणतंत्र राज्य का श्रीगणेश हुआ। सेना की प्रधानता थी जिसका नेता क्रौमवेल था। उसने संरक्षक के रूप में पाँच वर्षों (१६५३—५८ ई०) तक राज्य किया। किन्तु गणतन्त्र प्रधानत. सैनिक राज्य था जिसे जनता का सहयोग नहीं प्राप्त था। इसमें धर्म तथा राजनीति में भी सम्मिश्रण हुआ था। अत. क्रौमवेल की मृत्यु के पश्चात शीघ्र ही इसका

पतन हुआ और १६६० ई० में चार्ल्स द्वितीय को पुन राजगद्दी पर बैठाया गया। इतिहास में यह घटना राज्य-पुनरुत्थान (रेस्टोरेशन) के नाम से प्रसिद्ध है।

चार्ल्स द्वितीय बड़ा ही योग्य और चालाक राजा हुआ। वह दूरदर्शी और व्यावहारिक था। उसने लोकमत का आदर किया और पार्लियामेण्ट को जिसमें जनता के प्रतिनिधि थे, खुश रखा। अत: उसने २५ वर्षो तक शासन किया। किन्तु उसका भाई स्वेच्छाचारी और असहिष्णु था। उसने मनमाने ढग से जनता की उपेक्षा कर निरकुश धर्म-राज्य स्थापित करना चाहा। उसका उद्देश्य तो पूरा होना दूर रहा, वह ३ ही वर्ष के अन्दर गद्दी से भी च्युत हुआ। पार्लियामेण्ट ने अपने पक्ष के व्यक्ति—विलियम और मेरी को गद्दी प्रदान की। १६८८ ई० में यह घटना हुई। यह रक्तहीन क्रान्ति थी और इसके परिणाम बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए। अतः इसे गौरवपूर्ण क्रान्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

विलियम ने अधिकार-पत्र (१६८६ ई०) में अगरेजी जनता के अधिकारो को स्वीकार किया। इसके पूर्व जॉन ने १२१५ ई० में मैग्नाकार्टा और चार्ल्स प्रथम ने १६२८ ई० में अधिकार प्रार्थना-पत्र के रूप में भी जनता के अधिकारो को मजूर किया था। किन्तु इन सब का यह अर्थ नही है कि १६८६ ई० के पश्चात इगलैंड में प्रजातत्र स्थापित हो गया। १६८६ ई० से १८३२ ई० तक इगलैंड का शासन कुलीनतत्र था जिसमे भूमिपतियो और पूजीपतियो का हाथ था। वे ही पार्लियामेण्ट के भाग्यविधायक थे। अभी जनता को मता-धिकार नही प्राप्त था। परन्तु अब निरकुशता के दिन भी लद चुके थे। राजाओं की आँखें खुल गई थीं। वे पार्लियामेंट और लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। राज्यमन्त्री पार्लियामेंट की इच्छानुसार ही चलने के लिए उत्सुक रहते थे। १७१४ ई० में हैनोवर वंश के राज्यारोहण ने महान् क्रान्ति के कार्यों को पूरा कर दिया। विलियम के ही राज्य में कैबिनेट प्रणाली का उदय हो चुका था। १७१४ ई० के बाद इसका विकास हुआ। वालपोल के प्रधान मन्त्रित्व ने इस प्रणाली की जड़ मजबूत कर दी। कैबिनेट-प्रणाली के विकास के साथ पार्लियामेंट का शासन पर पूर्ण नियत्रण स्थापित हो गया। जार्ज तृतीय ने अपने प्रथम २२ वर्षों के शासन-काल (१७६०-८२ ई०) में इस स्थिति को बदलना चाहा किन्तु वह असफल रहा। १७८३ ई० में छोटा पिट इगलैंड का प्रधान मत्री हुआ और इसके साथ ही वैधानिक राजतत्र-प्रणाली की नींव सुदृढ हो गई।

हालैंड

इगलैंड की भाँति हालैंड में भी निरकुश शासन की जड़ नहीं जम सकी। १५७० ई० हालैंड तथा बेल्जियम ने स्पेन की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। दक्षिणी नीदरलैंड (बेल्जियम) तो असफल रहा और कैथोलिक स्पेन के अधीन कायम रहा। किन्तु १६०९

ई० में उत्तरी नीदरलैंड (हालैंड) स्वतंत्र हो गया और विलियम दी साइलेन्ट के नेतृत्व में गणराज्य की स्थापना हुई।

फ्रांस

१५वीं सदी के अन्त तक फ्रांस में भी राष्ट्रीय राजतन्त्र की नींव पड़ चुकी थी। किन्तु सामन्तवाद का प्रभाव बना रहा। १६वीं सदी के अन्त में हेनरी चतुर्थ ने बोर्बन वंश की नींव डाली। उसके पुत्र लूई १३वें के समय में यह नींव सुदृढ़ हो गई जिसका श्रेय राजा के प्रधान मंत्री रिशलू का था। उसने फ्रांस को यूरोप का एक प्रधान राज्य बना दिया। १६४३ ई० में राजा और प्रधान मंत्री दोनों की ही मृत्यु हो गई। अब लूई चतुर्दश गद्दी पर आरूढ़ हुआ।

लूई चतुर्दश ने दीर्घकाल (१६४३-१७१५ ई०) तक राज्य किया। १६६१ ई० तक अल्पवयस्क होने के कारण वह शासन के क्षेत्र में क्रियाशील नहीं था। उसका मंत्री मजारिन राज्य का देख-भाल करता था। राजाओं की निरंकुशता के कारण षड्यन्त्र का बाजार गर्म हो चला था। षड्यन्त्रकारियों ने राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जो फ्रॉन्ड-युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मजारिन ने बड़ी ही दक्षता के साथ विद्रोहियों को दबा दिया। १६६१ ई० में उसकी मृत्यु हो गई और लूई ने स्वयं शासन की बागडोर अपने हाथ में ग्रहण की।

लूई चतुर्दश के शासन काल में बोर्बन राजवंश उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गया। फ्रांस का निरंकुश शासन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका। लूई बहुत ही महत्वाकांक्षी शासक था। वह अपने देश को भीतरी और बाहरी खतरों से सुरक्षित रख कर इसका गौरव बढ़ाना चाहता था। वह अपने देश के लिए प्राकृतिक सीमा की खोज में था। वह एक ओर अपने राज्य की सीमा राइन नदी और दूसरी ओर पिरेनीज पर्वत तक बढ़ाना चाहता था। अपने उद्देश्य की पूर्ति में उसे बहुत कुछ सफलता भी मिली। पूर्वी हिस्से में वह अधिक सफल रहा उसने एक विशाल सेना सुसंगठित की और युद्ध तथा विजय के द्वारा अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया। कोलबर्ट जैसे योग्य मन्त्री के सहयोग से देश के धन-वैभव में वृद्धि हुई। देश धन-धान्यपूर्ण हो गया। सर्वत्र लूई की तूती बोल रही थी। लगभग अर्द्ध शताब्दी तक यूरोप उससे भयभीत रहा और वह इसका अधिनायक बन गया था। उसने देश के कानून को ताक पर रख कर मनमाना किया और गर्वपूर्ण शब्दों में घोषणा की थी कि 'मैं ही स्टेट हूँ।' उसके शासन-काल में फ्रांस उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया और यूरोप में सर्वशक्तिशाली राज्य बन गया।

राजनीतिक उत्कर्ष के साथ फ्रांस की सांस्कृतिक विजय हुई। इसकी राजधानी वर्साई की ओर सारे यूरोप की दृष्टि लगी रहती थी। राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में इसका यही

स्थान था जो रोम का धार्मिक क्षेत्र में रह चुका था। उसका दरबार आदर्श-तुल्य था। लुई सर्वत्र प्रशंसा और अनुकरण का विषय बन गया था। उसकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि उसने कला तथा विद्या को प्रश्रय देकर प्रोत्साहित किया। उसके दरबार में बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान्, कवि, दार्शनिक, नाटककार, वैज्ञानिक, इंजीनियर आदि रहते थे। कार्नील मोलियर तथा रेसीन सुविख्यात नाटककार और लॉफौंटेन दार्शनिक थे। फ्रांसीसी भाषा का समुचित विकास हुआ और इसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। फ्रांसीसी राज्य की तुलना में यूरोप के अन्य राज्य तुच्छ दीख पड़ते थे। उसके प्रभाव का इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि यूरोप के इतिहास में १७वीं सदी का उत्तरार्द्ध 'लुई चतुर्दश का युग' कहलाने लगा और वह महान् सम्राट की उपाधि से सम्मानित हुआ।

लेकिन यह सब होते हुए भी फ्रांसीसी राज्य की नींव कमजोर रह गई, राजसत्ता की दीवार में सुराख रह गए। राज्य के उत्कर्ष और गौरव, तड़क-भड़क, मान-मर्यादा में असलियत का अभाव था। इनमें पतन का बीज भी छिपा था जो लुई के मरणोपरान्त प्रतिफलित होने लगा। इनमें क्रान्ति की वह चिनगारी छिपी थी जो ७५ वर्षों में भीषण रूप में जग उठी। २० अगस्त, १७१५ ई० को लुई चतुर्दश का प्राणान्त हुआ और देश पतनोन्मुख हो गया। हम अब इसके कारणों का विशद विवेचन करेंगे।

लुई की नीति संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण और व्यक्तिगत थी। इसके निर्धारण में फ्रांस की जनता का कोई हाथ नहीं था। वह विशुद्ध निरंकुशता के सिद्धान्त का पोषक तथा पालक था। अतः शासन ऊपर के बोझ से दबा हुआ था और इसमें नीचे से कोई सन्तुलन नहीं था। लुई ने कितनी ही महान् भूल कीं जिनमें एक भी आधुनिक काल में किसी मंत्रिमंडल के पतन के लिए पर्याप्त होती। सत्ता और वैभव ने उसे मदान्ध बना दिया था और वह सर्वसाधारण के प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल गया। जनता के खून और पसीने पर वर्साई के दरबार का अस्तित्व खड़ा था। इसके प्रदर्शन में उसकी निर्धनता छिपी हुई थी। राजधानी की धूमधाम, चहल-पहल, शान-शौकत के पीछे निरीह एवं भोली जनता की दुःख-दर्द भरी कहानी थी। लुई के भोग-विलास में सहस्रों सामान्य जनों की आह मिश्रित थी। उसकी युद्धनीति देश के लिए घातक सिद्ध हुई। देश निर्धन हो गया। राजकोष रिक्त ही नहीं हुआ बल्कि ऋण के भार से लद गया। उसके पारिवारिक लाभ के हेतु देश को स्पेन के उत्तराधिकार की दीर्घकालीन लड़ाई में सम्मिलित होना पड़ा। प्रजा टैक्स के बोझ से तबाह थी। किन्तु देश और राष्ट्र के आन्तरिक विकास पर जोर नहीं दिया गया। अतः उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए, आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई। इस तरह राज्य की शक्ति का स्रोत सूखने लगा। लुई की धार्मिक नीति ने देश की स्थिति को और भी भयंकर बना डाला जिसका परिणाम बहुत ही बुरा हुआ। धार्मिक क्षेत्र में वह कट्टर तथा असहिष्णु था।

उसने फ्रासीसी प्रोटेस्टेंटो (ह्यूजेनौट्स) की स्वतन्त्रता छीन ली और उन पर अत्याचार का पहाड ढा दिया। वे केथोलिक धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए, किन्तु बहुत से अपनी जन्मभूमि छोड कर अन्य देशो मे चले गए और उन देशों की उन्नति मे सहायक सिद्ध हुए। वे कला और कारीगरी के कार्यों मे बड़े कुशल थ। उनके देश-निर्वासन से फ्रास के व्यवसाय को गहरा धक्का लगा और दूसरे देशों ने उनसे लाभ उठाया।

इस तरह यदि फ्रास के उत्कर्ष का श्रेय लूई को प्राप्त है तो इसके पतन का कलक भी उसी के मत्थे मढा जाता है। उसने फ्रासीसी राजतन्त्र को विनाश के पथ पर मोड दिया, इसकी जड खोद कर इसे खोखला बना डाला। एक फ्रासीसी लेखक[1] के मतानुसार उसने इसे विनष्ट ही कर डाला। यदि उसकी निरकुशता प्रबुद्धता पर आधारित होती तो वह विशेष रूप से सफल और महान् शासक होता और इतिहास मे उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता।

लूई के मरने पर उसका पौत्र लूई १५वॉ फ्रास की गद्दी पर बैठा। वह १७१५ ई० से १७७४ ई० तक गद्दी पर आसीन रहा। उसके समय मे निरकुशता की अयोग्यता तथा असमर्थता स्पष्ट हो गई। सर्वसाधारण दुखी तथा चिन्ताग्रस्त थे। जीवन मे कोई दिलचस्पी नही थी। राजतन्त्र आलोचना और आक्षेप का विषय हो रहा था और इस तरह भावी क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। १७७४ ई० म लूई १६वॉ गद्दी पर आरूढ हुआ। उसके समय मे देश की आर्थिक स्थिति बिल्कुल बिगड गई। और १७८६ ई० मे विश्व-विख्यात फ्रास की राज्य क्रान्ति का विस्फोट हो गया जिसका विस्तृत विवरण अन्यत्र किया गया है।

आस्ट्रिया और प्रशा

आस्ट्रिया मे हैप्सबर्ग घराने का राज्य था। १६वी सदी मे इस वश मे चार्ल्स पञ्चम (१५१६-५६ ई०) प्रसिद्ध राजा हुआ था। वह पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट भी था। उसकी मृत्यु के बाद यह वश दो शाखाओ मे बँट गया। एक शाखा का राज्य १७०० ई० तक स्पेन मे कायम रहा था और लूई चतुर्दश के पौत्र के राज्यारोहण के साथ इसके राज्य का अन्त हो गया। दूसरी शाखा का राज्य आस्ट्रिया मे कायम रहा। इसी शाखा के वशज आस्ट्रिया के राजपद और रोमन साम्राज्य के सम्राट-पद को सुशोभित करते रहे। १८०६ ई० मे नेपोलियन ने सम्राट के पद का अन्त कर डाला, किन्तु प्रथम महायुद्ध के अन्त तक आस्ट्रिया का राज्य कायम रहा और वे १६१८ ई० तक इस राज्य के राजा और सम्राट बने रहे।

आस्ट्रिया का साम्राज्य अति विशाल था और यह विशालता इसकी एक कमजोरी थी।

---
१. लावी (Lavisse)

इसका प्रबन्ध करना आसान कार्य नही था। इसकी दूसरी कमजोरी थी कि यह बहुभाषी साम्राज्य था। इसमे अनेकानेक भाषा तथा जाति के लोग बसते थे। इन कमजोरियो के होते हुए भी आस्ट्रिया मे कुछ प्रसिद्ध शासक हुए जिन्होने यहाँ की राजसत्ता को सुदृढ बनाया। ऐसे शासको मे मेरिया थेरेसा और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी जौसेफ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मेरिया थेरेसा (१७४०-'८० ई०) यूरोप के इतिहास मे एक सफल शासिका थी। उसके राज्याभिषेक के समय आस्ट्रिया, मोरेविया, हगरी, बोहेमिया, साइलेशिया, बेल्जियम और टाइरोल साम्राज्य मे सम्मिलित थे। उसने बडी ही निपुणता के साथ शासन किया। उसी के स्थापित आधार पर जौसेफ ने राज्य को दृढतर किया। आस्ट्रिया तथा यूरोप के इतिहास मे जौसफ (१७८०-९० ई०) का स्थान महत्वपूर्ण है। उसके विचार बहुत ही उत्तम थे। यह आदर्शवादी था और जनता का सच्चा शुभचिन्तक। वह एक सुदृढ केन्द्रीय शासन स्थापित करना चाहता था किन्तु इसमे उसे पूरी सफलता नही मिली। उसकी असफलता का कारण यह था कि उसके विचार समयानुकूल न थे। किन्तु निस्सदेह वह एक प्रजाप्रिय शासक था और दिल से अपनी प्रजा का हित चाहता था।

यो तो यूरोप मे सर्वत्र निरकुश राजतत्र का दौर था किन्तु १८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इसकी एक विशेषता थी प्रबुद्धता। अतः यह प्रबुद्ध निरकुशतत्र-युग कहलाता है। इस युग के शासक स्वेच्छाचारी तथा महत्त्वाकाक्षी थे। उनकी दृष्टि मे प्रजा का कोई अधिकार नही था और वे स्वय भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। वे साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध करते थे जिनमे धन-जन की पर्याप्त क्षति होती थी। युद्ध-व्यय का बोझ जनता को उठाना पडता था। परन्तु वे अपनी प्रजा की सर्वथा उपेक्षा नही करते थे। वे बडे परिश्रमी होते थे और जनहित के कार्य मे अभिरुचि रखते थे। वे समझते थे कि लोक-कल्याण करना उनका प्रधान कर्त्तव्य है। उन्होने अपने देश मे अनेक सुधार किया और कला तथा विद्या को प्रश्रय दिया। अत. उनकी निरकुशता कुछ हद तक लोक-प्रिय थी।

आस्ट्रिया के शासक मेरिया थेरेसा और जौसेफ इसी प्रबुद्ध निरकुश तत्र के प्रतीक थे। अतः उनके समय मे देश की विशेष उन्नति हुई।

प्रशा का शासन भी प्रबुद्ध निरकुश तत्र था। वहाँ हौहेन्जोलर्न घराने का राज्य था। ब्रेडेनवर्ग की डची के आधार पर इसका विकास हुआ था और यह एक साम्राज्य के रूप मे परिवर्तित हो गया। यह विकास दुनिया के इतिहास मे एक अद्भुद घटना है। सर्वप्रथम फ्रेडरिक विलियम प्रथम (१६४०—'८८ ई०) ने निरकुश राजतत्र की नीव खडी की। वह महान् इलेक्टर के नाम से प्रसिद्ध है। फ्रेडरिक विलियम द्वितीय (१७१३—'४० ई०) ने एक विशाल सेना का सगठन किया और राज्य के वैभव मे

वृद्धि की। अब एक योग्य प्रतिभाशाली व्यक्ति के उत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। इतिहास उस व्यक्ति को फ्रेडरिक महान् के नाम से याद करता है। उसने अड़तालीस वर्षों तक (१७४०—'८८ ई०) राज्य किया। उसके समय में प्रशा का विकास चरम सीमा पर पहुँच गया। उसकी राजधानी पोट्सडम में थी। वह लूई चतुर्दश के समान निरंकुश था और कई बातों में उसका अनुकरण करता था। उसने सेना को सुशिक्षित तथा सुसंगठित किया और राज्य का विस्तार किया। धन-वैभव के प्रदर्शन में उसकी भी अभिरुचि रहती थी। उसने भी लूई की भाँति एक भव्य राज-भवन का निर्माण कराया। किन्तु उसकी निरंकुशता प्रबुद्धता से सन्तुलित थी। वह अपने को प्रजा का स्वामी नहीं बल्कि सेवक मानता था। 'सर्व-साधारण के लिए सब कुछ, पर उनके
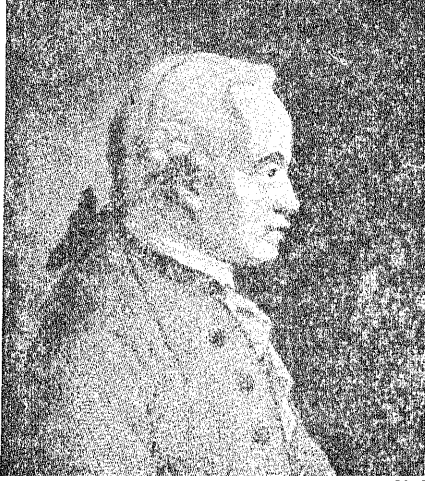
चित्र ५—फ्रेडरिक महान

द्वारा कुछ नहीं'—यही उसका आदर्श था। उसने कला तथा विद्या को प्रोत्साहित किया और धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता की नीति बरती। स्वयं प्रोटेस्टेंट होते हुए कैथोलिकों पर उसने कोई अत्याचार नहीं किया। उन्हें पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता थी और वे राज्य के पदों को भी सुशोभित कर सकते थे। उसने लूई के द्वारा बहिष्कृत प्रोटेस्टेंट मतावलम्बियों को अपने देश में शरण दी और इस तरह अपने बड़प्पन का पर्याप्त परिचय दिया।

इस प्रकार प्रबुद्ध निरंकुश तंत्र सिद्धान्त के माननेवाले शासक बहुत ही योग्य होते थे और वे जनता के शुभचिन्तक थे। परन्तु उनमें कुछ बड़े दोष भी पाये जाते थे। वे निरंकुश तो थे ही, उनकी महत्त्वाकांक्षा भी असीम थी। अपने राज्य और राजवंश का उत्कर्ष इनका प्रधान उद्देश्य था और अपने साध्य की पूर्ति में वे साधन की प्रकृति पर विचार नहीं करते थे। इसके लिए वे निम्नतम कार्य भी कर सकते थे। फ्रेडरिक ने साइलेशिया को बलात् अधिकृत कर लिया। इसके फलस्वरूप दो युद्ध हुए—आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध (१७४०-४८ ई०) और सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६—'६३ ई०)। प्रथम युद्ध में ग्रेटब्रिटेन आस्ट्रिया का और फ्रांस ने प्रशा का साथ दिया। किन्तु दूसरे युद्ध में स्थिति बदल

और ग्रेटब्रिटेन ने प्रशा का तथा फ्रास ने आस्ट्रिया का पक्ष लिया। प्रथम युद्ध से इगलैंड को विशेष लाभ नहीं हुआ किन्तु द्वितीय युद्ध में ब्रिटिश नीति लाभदायक सिद्ध हुई और कनाडा तथा भारत मे अगरेजों के पैर जम गए। लेकिन साइलेशिया प्रशा के ही अधीन रह गया। इससे आस्ट्रिया प्रशा से अवश्य ही क्रुद्ध रहा होगा। फिर भी नौ वर्ष के ही पश्चात् आस्ट्रिया और प्रशा ने रूस के साथ मिलकर पोलैंड को आपस मे बॅटा लिया। इनके बीच तीन बार पोलैंड का बॅटवारा हुआ (१७७२ ई०, १७६३ ई० और १७६५ ई० मे) और१८वी सदी के अन्त तक यह यूरोप के मानचित्र से मिट गया।

पोलैंड की इस दुर्दशा का कारण था उसकी आन्तरिक कमजोरी और लोलुप तथा शक्तिशाली राष्ट्रो के मध्य उसकी सकटपूर्ण स्थिति। किन्तु यद्यपि पोलैंड की राजनीतिक सीमा का अन्त हो गया, वहाँ के निवासियो की राष्ट्रीय भावना नहीं कुचली जा सकी। पोलैंड का राष्ट्र जीवित रहा और १६१८ ई० मे उसने अपना स्वतत्र अस्तित्व पुन स्थापित कर लिया।

रूस और स्वीडन

यूरोप के पूर्वी भाग मे रूस स्थित है। वहाँ निरकुश राजतत्र का उदय तो मध्यकाल में हो हो चुका था किन्तु वह यूरोप का सब से पिछड़ा भाग था। यह एशिया का ही एक अग समझा जाता था। १७वीं सदी तक उसकी यह स्थिति बनी रही। पीटर के राज्यकाल (१६८६-१७२५ ई०) के साथ रूसी इतिहास मे एक नए युग का प्रादुर्भाव हुआ। उसने रूस को यूरोप के अन्य राष्ट्रों के साँचे मे ढालने का भरपूर प्रयत्न किया। उसने पश्चिमी यूरोप के कई देशो म भ्रमण किया और वहाँ के आचार-विचार का अध्ययन किया। उसने अपने देश मे बड़े-बडे परिवर्तन करने का निश्चय कर लिया और लौटते समय कई विद्वानो तथा कलाकारो को वह अपने साथ लाया। उसने सेना का सगठन कर जहाजी बेड़ा का निर्माण किया। इस सेना के सहारे उसने राज्य का विस्तार और शासन मे परिवर्तन किया। उसने एजोव के बन्दरगाह को अपने अधिकार मे कर लिया और लीवोनिया तथा एस्टोनिया के प्रदेश छोड देने के लिए स्वीडन को बाध्य किया। पुरानी राजधानी मास्को का परित्याग कर दिया गया। पीटर्सवर्ग मे उसकी नयी राजधानी थी जिसे पेरिस और पोट्सडम के आधार पर स्थापित करने की चेष्टा की गई। इसे हर एक तरह से सुसज्जित और अलकृत किया गया। अनेक फौव्वारों, पार्कों और भवनो का निर्माण हुआ। उसने पुरानी परम्परा को समूल उखाड फेंकने की कोशिश की।

किन्तु उसके सुधार ऊपरी तह तक ही रह गए। उसने शासन और समाज मे आमूल परिवर्तन नहीं किया। निरकुशता की दृष्टि से पुरानी परम्परा ज्यो की त्यो कायम रही। वह विरोधियों को कदापि नहीं देख सकता था। उनका बध करने मे उसे जरा

सा भी सकोच नही होता था। उसने स्वय अपने पुत्र को, जो उसके सुधारो के साथ सहानुभूति नही रखता था, मरवा डाला। फिर भी आधुनिक रूसो राज्य के निर्माण के लिए उसने रास्ता खोल दिया। उसके प्रदर्शित मार्ग पर चल कर कैथराइन (१७६२-९६ ई०) ने रूसी राज्य का और अधिक विकास किया। इन्हो दोनो शासको के प्रयत्न के फलस्वरूप रूस मे आधुनिक राजसत्ता दृढ हुई। कैथेराइन अपने पति को मरवा कर गद्दी पर बैठी। उसने यूरोपीय ढग पर शासन किया। उसने पोलैड के विभाजन मे भाग लिया और प्रशा तथा आस्ट्रिया के साथ मैत्री कायम रखी। तुर्को के साथ भी एक सन्धि हुई जिसके द्वारा दोना राज्यों की सीमाएँ निर्धारित की गई। १७९५ ई० मे कैथेराइन का देहान्त हो गया और उसके बाद १९१७ ई० तक कई जार—योग्य तथा अयोग्य, सुधारवादी तथा प्रतिक्रियावादी—रूस की गद्दी पर बैठे और उसकी शक्ति मे वृद्धि करते रहे।

गुस्टवस एडलफस (१६११-३२ ई०) ने स्वीडन के राजतन्त्र की सुदृढ नीव दी। वह बड़ा वीर और साहसी था। अपनी वीरता और साहस के ही कारण उसे 'उत्तर के सिंह' की उपाधि से विभूषित किया गया था। वह जैसा महान् विजेता था वैसा ही प्रवीण शासक भी था। उसने बाल्टिक सागर पर स्वीडन का आधिपत्य स्थापित किया। वह प्रोटेस्टेंट धर्म का पक्का समर्थक था और ३० वर्षीय युद्ध मे प्रोटेस्टेंटो की ओर से शामिल हुआ था। दुर्भाग्यवश इसी युद्ध मे जर्मनी मे उसका प्राणान्त भी हो गया।

(ख) एशिया

भूमिका

एशिया तो प्राचीन काल से ही निरंकुश राजतन्त्र का वास स्थान रह चुका था। अत जिस समय यूरोप मे नवीन राजतन्त्र का उदय तथा विकास हो रहा था उस समय एशिया में भी राजतन्त्र का ही प्राबल्य था। यूरोप की भाँति यहाँ इसी समय इसका जन्म नही हुआ था। यह शैशवावस्था एव कुमारावस्था को पार कर चुका था। अत. एशिया मे जिस राजतन्त्र का दौर रहा, वह पूर्ण वयस्क हो चुका था। यूरोप की भाँति उसे अभी विकास नहीं करना था, बल्कि विकास के पथ का अधिकाश भाग वह तय कर चुका था, लगभग उत्कर्ष के उच्चतम शिखर को वह छू रहा था।

हिन्दुस्तान

यह देखा जा चुका है कि १५२६ ई० मे बाबर ने हिन्दुस्तान मे मुगल वंश की स्थापना की। वह तैमूर तथा चंगेज का वंशज था। मुगल वंश भारत मे १८५७ ई० तक कायम रहा, किन्तु १७०७ ई० के बाद से ही इसका पतन प्रारम्भ हो चुका था। १५२६ ई० और १७०७ ई० के बीच इस वंश मे ६ प्रसिद्ध सम्राट् हुए—बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब। बाबर ने मुगल राज्य की नींव दी किन्तु उसने

इसका संगठन नहीं किया। हुमायूँ तो अभागा था जो मारा-मारा फिरा। मुगल राज्य के सुदृढ़ और सुसंगठित करने का सारा श्रेय अकबर को है।

दुनिया के महान् और सफल शासकों में अकबर का भी एक स्थान सुरक्षित है। वह विशेष पढ़ा-लिखा तो नहीं था किन्तु संसार के सर्वश्रेष्ठ शासकों में से एक था। वह बहुत ही योग्य व्यक्ति था और उसका दृष्टिकोण व्यापक तथा विचार उदार थे। वह मुसलमानों के धार्मिक मरुस्थल में शाद्वल तुल्य था। वह प्रथम मुस्लिम शासक था जिसने सहिष्णुता तथा उदारता की नीति अपनायी। यूरोप के तत्कालीन इतिहास में भी ऐसी उदारता का सर्वथा अभाव था। अकबर के व्यक्तित्व में बौद्धिकता की प्रधानता थी और क्षुद्रता एवं कट्टरता से वह परे था। उसने सभी धर्मों के तथ्यों को जानने की चेष्टा की और उनके आधार पर दीनइलाही नामक एक धर्म चलाया। यह सर्वमान्य धर्म था जिसमें सर्व-धर्म समन्वय था। परन्तु इसके प्रचार के लिए उसने राज्य-शक्ति का उपयोग नहीं किया। सभी को धार्मिक स्वतंत्रता थी। हिन्दुओं को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया गया और उन्हें जजिया से मुक्त कर दिया गया। हिन्दुओं के साथ उसने वैवाहिक सम्बन्ध भी कायम किया। इस नीति के फलस्वरूप उसे भारत की सैनिक जाति राजपूतों का सहयोग प्राप्त हो गया जो मुगल साम्राज्य के सुदृढ़ आधार-स्तम्भ सिद्ध हुए। उनकी सहायता से उसने मुगल राज्य की सीमा का विस्तार किया। लगभग सारे भारत पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। उसके राज्य की सीमा काबुल-कन्धार से लेकर बंगाल तक और काश्मीर से अहमदनगर तक फैली थी। इस प्रकार वह राष्ट्रीय एकता कायम करने में बहुत कुछ सफल हुआ था। उसने केवल राज्यविस्तार ही नहीं किया बल्कि इसका सुन्दर संगठन भी किया।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि अकबर में दूसरों से सीखने की भी विलक्षण शक्ति थी। शासन-संगठन के क्षेत्र में उसने अफगान शेरशाह से बहुत कुछ सीखा। शेरशाह ही उसका आदर्श था। वह अपनी कुशल और उदार नीति के कारण पाँच वर्ष में ही लोकप्रिय शासक बन गया। बहुत सी बातों में अकबर ने उसी का अनुसरण किया था। उसने लगभग आधी शताब्दी तक (१५५६-१६०५ ई०) राज्य किया।

जहाँगीर ने अपने पिता के पद-चिह्नों का अनुसरण किया किन्तु शाहजहाँ ने नीति में परिवर्तन लाया। उसने संकीर्णता और असहिष्णुता की नीति अपनायी। उसने साम्राज्य-विस्तार करना चाहा किन्तु सफलता नहीं मिली। पश्चिमोत्तर प्रदेश और दक्षिण में उसने धन-जन का बहुत ही दुरुपयोग किया। हिन्दुओं के साथ भेद-भाव की तुच्छ नीति अपना कर उन्हें असन्तुष्ट कर दिया। औरंगजेब ने उसी की नीति को ग्रहण किया और वह उससे भी आगे बढ़ गया।

औरंगजेब ने दीर्घ काल तक (१६५८—१७०७ ई०) राज्य किया। उसमें कुछ गुण

थे। वह सच्चा मुसलमान था और उसका जीवन सादा था। वह एक योग्य सेनापति तथा राजनीतिज्ञ था। परन्तु उसकी असहिष्णुता धवल वस्त्र पर काले दाग के सदृश थी जिसने उसके जीवन को कलंकित कर डाला। वह स्वयं सुन्नी मुसलमान था। अतः वह केवल हिन्दुओं को ही नहीं, वरन् शिया मुसलमानों को भी अपना दुश्मन और काफिर समझता था। इसका परिणाम भीषण हुआ। यत्र-तत्र विद्रोहाग्नि भभक उठी जिसे दबाने में वह असफल रहा। राजपूतों का सहयोग जाता रहा। दक्षिण की शिया रियासतों—बीजापुर तथा गोलकुण्डा—के साथ छेड़छाड़ किया जिसमें उसके धन-जन का दुरुपयोग ही हुआ। साम्राज्य के जिस विशाल भवन का निर्माण अकबर ने किया था, औरंगजेब ने उसकी नींव को ही कमजोर बना दिया। अब किसी बड़े धक्के के लगने पर उसका धराशायी हो जाना स्वाभाविक था।

१७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु हुई और मुगल साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब की असहिष्णुता के कारण तो यह सम्भव हुआ ही, उसके अन्य कारण भी थे। उसके उत्तराधिकारी निःशक्त और अयोग्य थे। सैन्यशक्ति क्षीण हो गई और शासन में अनेक बुराइयों का समावेश हो गया। युद्ध की प्रधानता होने से आर्थिक स्थिति खराब हो गई। अब विदेशियों को आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन मिला। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण हुए। साम्राज्य की कमजोरी से हिन्दू जातियों ने लाभ उठाया। सिक्ख, जाट, राजपूत, मराठे—सभी का उत्थान होने लगा। मराठों के उत्थान का श्रेय उनके नेता शिवाजी को प्राप्त था। मुगलों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का वह सर्वोत्तम उदाहरण था। उसके नेतृत्व में मराठों ने मुगलों के छक्के छुड़ा दिए। फिर भी हिन्दू राज्य-स्थापना के लिए उनका स्वप्न अधूरा ही रह गया। सुअवसर आकर भी उनके सामने से निकल गया। क्यों? मराठों ने सारी भारतीय शक्ति को संगठित नहीं किया। वे उत्तरी भारत के हिन्दुओं, खास कर राजपूतों के साथ मिल-जुल कर काम नहीं करते थे। अतः उन्हें इनका सहयोग नहीं प्राप्त हुआ। उनमें स्वयं एकता का अभाव था। १७६१ ई० में पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली ने उन्हें पराजित कर निःशक्त बना डाला।

भारत में एक अन्य विदेशी शक्ति थी जिसने मुगल साम्राज्य के पतन से विशेष लाभ उठाया। वह शक्ति थी अंग्रेजों की। सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ से व्यापार के लिए वे भारत में आने लगे थे। किन्तु उपयुक्त अवसर पाकर वे भारतीय राजनीति में भी हस्तक्षेप करने लगे। अनेक योग्य शासकों और सेनापतियों के प्रयत्न से भारत में अंग्रेजी राज्य कायम हो गया। परन्तु भारतीयों में स्वतन्त्रता की भावना जीवित थी। उन्होंने १८५७ ई० में अंग्रेजों के विरुद्ध प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम छेड़ दिया, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इसी

समय अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह द्वितीय को बन्दी के रूप मे रगून भेज दिया गया और भारत अंग्रेजी साम्राज्य का प्रधान अग बन गया।

मुगल कालीन सभ्यता

सस्कृति की दृष्टि मे मुगल राज्य भारत के इतिहास मे द्वितीय स्वर्ण युग कहा जा सकता है। मुगल काल मे, खासकर १७वी सदी मे, सर्वत्र शान्ति स्थापित थी। अत. सभ्यता तथा सस्कृति के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण था। मुगल दरबार मे शिष्टाचार पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। धन-वैभव की कमी नही थी। सम्राट भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। लोगो का जीवन-स्तर भी ऊँचा था। मुगल सम्राट साहित्यिका और कलाकारा को प्रश्रय देते थे और उन्हाने कला तथा विद्या को प्रोत्साहित किया था। बाबर तथा जहाँगीर स्वय कुशल लेखक थे। अबुलफजल, गुलबदन, फरिश्ता आदि मुगल काल के प्रसिद्ध इतिहास लेखक थे। फारसी भाषा का विकास हुआ। यह दरबार की भाषा थी। अत सभ्य तथा सुशिक्षित लोग इसे भी सीखते थे। इस भाषा मे सस्कृत ग्रन्था का अनुवाद कराया गया। अबुलफजल और फैजी फारसी के प्रकाण्ड विद्वान थे। हिन्दी भाषा का भी विकास हुआ। हिन्दी-जगत के प्रसिद्ध कवि—सूर, तुलसी, मीरा, केशव, देव, बिहारीदास आदि इसी काल में हुए हैं। इन्हे राज्याश्रय नहीं प्राप्त था, किन्तु उपयुक्त वातावरण के कारण ये साहित्य की साधना कर सके। हिन्दी और फारसी के सम्पर्क से उर्दू भाषा का भी विकास होने लगा था।

साहित्य के क्षेत्र मे ही उन्नति नहीं हुई, कला तथा सगीत का भी विकास हुआ। तानसेन, बैजू बावरा और बाजबहादुर प्रसिद्ध सगीतज्ञ थ। कला के क्षेत्र म हिन्दू-मुस्लिम शैली का विकास हो रहा था जिसे भारतीय शैली कहा जा सकता है। हुमायूँ का मकबरा और फतेहपुर सीकरी का प्रासाद इस शैली के उत्कृष्ट नमूने है। अकबर ने कई इमारते बनवाई जिनमे फतहपुर सीकरी का बुलन्द दरवाजा प्रसिद्ध है। शाहजहाँ ने दिल्ली मे जामा मस्जिद, दीवाने खास और दीवाने आम तथा आगरे मे मोती मस्जिद और ताजमहल का निर्माण कराया। इनमे ताजमहल वास्तु-कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। चित्रकला ने भी उन्नति की। सैयद अली और अब्दुल समद चित्रकारी मे बड़े प्रवीण थे। जहाँगीर और शाहजहाँ चित्रकला को प्रोत्साहित किया।

चीन

यह देखा जा चुका है कि १६४४ ई० मे मचु वश के लोगो ने मिंग वश का अन्त कर डाला। मचु वश को चिग वश भी कहा जाता है। मचु वश के लोग मगोल जाति के थे। उन्होने बड़ी सुगमता से चीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उनका राज्य २६८ वर्षों (१६४४—१६१२ ई०) तक कायम रहा। लगभग दो सौ वर्षों तक उनका

शासन गौरवपूर्ण रहा। भारत मे जो स्थान मुगलों का था वह उन्हे चीन मे प्राप्त था। उनका साम्राज्य अर्द्ध-विदेशी था। वे विदेशी तो थे किन्तु देश के आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप नहीं करते थे और जनहित के कामो मे अभिरुचि रखते थे। उन्होने राज्य का विस्तार किया और विभिन्न क्षेत्रो मे उन्नति की। उनके समय मे राज्य की सीमा पश्चिम मे तुर्किस्तान, उत्तर मे मगोलिया और दक्षिण मे तिब्बत तथा कोचीन चीन तक फैल गयी। दुनिया के विशाल साम्राज्यो मे इसकी भी गणना होने लगी।

इस वंश ने कुछ असाधारण योग्यता के शासको और राजनीतिज्ञो को उत्पन्न किया। कागही इस वंश का दूसरा सम्राट था। उसने बाल्यावस्था मे ही गद्दी प्राप्त की और ६१ वर्षो (१६६२—१७२३ ई०) तक शासन की बागडोर उसके हाथ मे रही। वह कोई महान् विजेता या वीर सैनिक तो नहीं था, परन्तु एक कुशल राजनीतिज्ञ, सफल शासक और संस्कृति का पोषक था। उसके समय मे साम्राज्य का अधिक विस्तार हुआ और धनदौलत की वृद्धि हुई। वह फ्रांस के सम्राट् लूई चतुर्दश का समकालीन था और कई बातो मे दोनो की तुलना भी की जाती है। किन्तु दोनो मे महान् अन्तर भी था। कागही लूई के कुछ दुर्गुणो से मुक्त था। वह युद्ध-प्रिय और असहिष्णु नहीं था। वह उदार शासक था। अतः उसके राज्यकाल मे सुख और शान्ति का वातावरण कायम रहा। वह कनफ्यूशियन धर्म का समर्थक था और चीनी दर्शन तथा साहित्य का विद्वान था। उसके प्रोत्साहन से चीनी साहित्य मे तीन महान ग्रन्थो की रचना हुई—ज्ञानकोष, शब्दकोष और साहित्य कोष। शब्दकोष मे ४०,००० शब्द है। प्रायः प्रत्येक शब्द के साथ युग-युग के साहित्यको का उद्धरण दिया हुआ है। ज्ञानकोष १६२८ जिल्दो मे सम्पादित हुआ है और प्रत्येक जिल्द मे २०० पृष्ठ है। पच्चीकारी तथा चित्रकला का भी विकास हुआ। ज्ञानकोष मे अनेक चित्रो का समावेश है।

कागही के पश्चात् उसका पोता चानलुंग प्रसिद्ध सम्राट हुआ। यह चौथा सम्राट था और इसने भी ६० वर्षो (१७३६—९६ ई०) तक राज्य किया। इसने अपने दादा के ही पद-चिह्नो का अनुसरण किया। इसने राज्यविस्तार करते हुए कला तथा साहित्य को प्रोत्साहित किया। उसने तुर्किस्तान को जीता और नेपाल के गुरखो से बदला चुकाया। गुरखो ने तिब्बत पर आक्रमण किया था किन्तु वे मार भगाए गए और नेपाल पर भी चढ़ाई कर दी गई। गुरखो ने चीन की अधीनता स्वीकार कर ली। उसके साम्राज्य मे मञ्चूरिया, मगोलिया, तुर्किस्तान और तिब्बत सम्मिलित थे और अनाम, स्याम, कोरिया, बर्मा आदि अधीनस्थ राज्य थे। उसके समय मे साहित्य, कला, व्यापार आदि का भी विकास हुआ। कितने नए ग्रन्थ लिखे गए और पुराने ग्रन्थो की खोज कर उन्हे सुरक्षित रखा गया। इसी समय चाय का व्यापार शुरू हुआ। उसके दरबार मे इंगलैण्ड के राजा जार्ज तृतीय

ने लार्ड मेकार्टनी को १७६२ ई० मे भेजा था। वह प्रथम ब्रिटिश-दूत था जो व्यापारिक सुविधा के लिए चीन आया था। सम्राट ने उसका स्वागत तो किया किन्तु सुविधाएँ नही दी। उसने ब्रिटिश सम्राट के पास एक पत्र लिखा जिसके कुछ अश इस प्रकार है :—

"आपके राजदूत ने मुझे आपका पत्र तथा भेट की वस्तुएँ दी हैं। यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि इतनी दूर रहते हुए आपकी भक्ति मेरे प्रति कितनी अधिक है। राजदूत को सम्मानपूर्वक रखने के लिए मैंने अपने मत्रियो को आज्ञा दे दी है। किन्तु व्यापारियो को व्यापार के लिए देश मे बसने की आपकी प्रार्थना मै स्वीकार नही कर सकता क्योंकि यह मेरे देश के नियमो के विरुद्ध है। हमारा मुख्य कर्त्तव्य प्रजा का हित-चिन्तन है। मेरी दृष्टि मे धन-दौलत की कोई कीमत नही है। मुझे विदेशी असभ्य जातियो के सामान को अपने देश मे मँगाने की कोई आवश्यकता नही है। हमारा सम्राज्य उन सब सामानो से भरपूर है जो मनुष्य के लिए आवश्यक ह।"

चीनलुग की मृत्यु के साथ मचु साम्राज्य का वास्तविक गौरव भी जाता रहा। उसकी प्रभा निकलने लगी, यद्यपि ढाँचा दीर्घकाल तक कायम रहा। उत्तरकालीन राजा अयोग्य थे। विशाल साम्राज्य होने के कारण उसका प्रबन्ध करना कठिन हो गया था। सामन्तो की शक्ति क्रमशः बढ़ने लगी थी। शासन मे भ्रष्टाचार आ गया। जनता की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। वह करो के बोझ से दबी जाती थी। घूसखोरी का बाजार गर्म था। प्राय: सभी राजकर्मचारी रिश्वत लेने लगे थे। होकुम नामक प्रधानमत्री भी इस बुराई का शिकार था। उसे प्राणदण्ड दिया गया और उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई थी। इतना होने पर भी घूसखोरी की प्रथा बिल्कुल बन्द नही हुई। चीन मे यूरोप-वासियो की प्रतियोगिता और शोषण-नीति भी भयकर रूप मे काम करने लगी थी। इसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय म किया जायगा।

इन सभी बुराइयो के कारण चीन मे बहुत से क्रान्तिकारी दल स्थापित होने लगे। श्वेत लिली और देवी न्याय समितियाँ प्रमुख क्रान्तिकारी सस्थाएँ थी। जहाँ-तहाँ विद्रोहाग्नि भड़कने लगी। ताइपिग विद्रोह विशेष उल्लेखनीय है। हुग सुचुआन नामक एक ईसाई ने इसका नेतृत्व किया था। कई प्रान्तो मे इसकी ज्वाला फैल गई थी और विद्रोहियो ने नानकिंग मे अपनी राजधानी भी स्थापित कर ली थी। किन्तु अभी सारा देश क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए तैयार नही था। अत उक्त विद्रोह को सर्वसाधारण का सहयोग नही प्राप्त हो सका और यह असफल रहा। मचु वश का पतन कुछ काल के लिए रुक गया।

फारस

सन् ६५१ ई० मे फारस के प्रसिद्ध साम्सानिद वश के शासन का अन्त हो गया और अरबो ने इस देश पर अपना आधिपत्य जमा लिया। अरबो के पहले वहाँ आर्य सभ्यता

का प्रसार था। अब दोनो सभ्यताओं मे सम्पर्क हुआ और वे एक दूसरे से प्रभावित हुए। लेकिन इस्लाम की विशेष उन्नति हुई और फारस शिया सम्प्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। नवी सदी मे यह देश स्वतन्त्र हो गया किन्तु उसकी स्वतन्त्रता स्थायी नही रह सकी और यह तुर्को के अधीन चला गया। १३वीं शती के प्रारम्भ मे चगेज खाँ के नेतृत्व मे मगोलो ने फारस पर अधिकार कर लिया और उसके मरने पर साम्राज्य के कई टुकडे हो गए। फारस हलाकू नामक मगोल के हाथ मे सौप दिया गया। अरबो की तुलना मे तुर्क तथा मगोल सभ्यता तथा सस्कृति के क्षेत्र मे पिछड़े हुए थे। इनमे भी मगोलो की अपेक्षा तुर्क अधिक सभ्य थे। अत: तुर्को के अधीन फारस मे सभ्यता तथा सस्कृति उन्नत दशा मे थी। उन्हा के शासन-काल मे फिरदौसी तथा उमर खैयाम जैसे प्रसिद्ध कवियो का उत्थान हुआ था। कितने अन्य विद्वानो को भी राज-दरबार का सरक्षण प्राप्त था। १४वी सदी मे तैमूर नाम के एक तुर्क ने हलाकू वश को समाप्त कर फिर तुर्की वश का शासन स्थापित किया। लगभग एक शताब्दी तक इन तुर्को ने राज्य किया और इनके समय मे भी कला तथा साहित्य को प्रोत्साहन मिला। इस बीच वहाँ के निवासियो मे राष्ट्रीयता की भावना उदित होने लगी थी। १५वीं सदी के अन्त मे तुर्की शासन का अन्त हो गया और एक स्वदेशी वश का शासन स्थापित हुआ। यह सफावी वश के नाम से विख्यात है।

सफावी वश का शासन

सफावी वश के राज्यारोहण के साथ ईरान मे आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। इसने लगभग २३६ वर्षो (१४९९-१७३६ ई०) तक राज्य किया। शाह इस्माइल इस वश का सस्थापक था। उसने फारस के शाह की उपाधि ग्रहण की। वर्तमान ईरान की महत्ता का यही से प्रारम्भ होता है। तबरेज मे उसने अपनी राजधानी कायम की। वह बहुत लोकप्रिय शासक था। वह अली के पुत्र हुसेन का वशज था और सस्सानिद वश से भी सबन्धित था। उसने शिया मत को देश का राजधर्म बना दिया। किन्तु इससे टर्की और फारस मे दीर्घकालीन सघर्ष का सूत्रपात हुआ। उसके समय मे फारस राज्य की सीमा फारस की खाडी, अफगानिस्तान और फरात नदी तक विस्तृत थी। उसके मरने पर १५२४ ई० मे उसका पुत्र शाह तहमास्प गद्दी पर बैठा। उसे पूर्व मे उजबेग तथा पश्चिम मे उस्मानी तुर्कों का सामना करना पडा था। भारत से भागकर मुगल बादशाह हुमायूँ उसी के दरबार मे ठहरा था। उसी के समय मे इगलैंड के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ था।

सफावी वश मे शाह अब्बास प्रथम (१५८७-१६२९ ई०) सुविख्यात शासक हुआ। इगलैंड की साम्राज्ञी एलिजाबेथ, स्पेन के राजा फिलिप और भारत के मुगल सम्राट अकबर तथा जहाँगीर उसके समकालीन थे। अब्बास बडा ही योग्य शासक था और उसे महान् की

पदवी से विभूषित किया गया था। इस्पाहान में उसकी राजधानी थी जहाँ अनेक सुन्दर भी भवनों का निर्माण हुआ था। उसने तुर्कों को पराजित किया और राज्य मे शान्ति स्थापित रखी जिससे कलाकौशल और उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन मिला। कालीन और गलीचे बनाने की कला का पूरा विकास हुआ। अनेक पुल, सडक और सराय बनाये गए। कला और साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति हुई। फारसी भाषा का खूब प्रचार हुआ। वस्तुतः फारसी सभ्यता तथा संस्कृति का यह स्वर्ण काल था। सफावी वश के शासन-काल मे ही फारस तथा भारत के बीच राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ था। मुगल कई बातो में फारसवासियो के ऋणी थे।

किन्तु सफावी वंश का गौरव स्थायी नही रह सका। भोग-विलास और षड्यन्त्र के कारण इसकी शक्ति का दुरुपयोग होने लगा। शिया और सुन्नी सम्प्रदायो के झगडे के कारण भी कमजोरी उत्पन्न होने लगी। अफगानो का आक्रमण भी शुरू हो गया। १७३२ ई० मे अब्बास तृतीय शाह हुआ। इसके समय मे देश की दशा बहुत चिन्ताजनक हो गई। प्रजा असन्तुष्ट थी, जमादार स्वतन्त्र होने के लिए प्रयत्न करते थे। सर्वत्र अव्यवस्था फैल रही थी। अफगानो ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। उन्होने इस्फहान पर भी आधिपत्य जमा लिया और अब्बास को गद्दी से उतार दिया। इसी समय नादरशाह नामक तुर्की सरदार ने फारस पर आक्रमण कर गद्दी पर अधिकार कर लिया।

नादिरशाह

नादिरशाह ने ११ वर्षो तक शासन किया (१७३६-४७ ई०)। वह सुन्नी धर्म का मानने वाला था, साथ ही वह बहुत बडा लुटेरा तथा लडाकू भी था। उसमे क्रूरता कूट-कूट कर भरी थी। उसने आसपास के देशो को विजित किया और असख्य व्यक्तियो को मौत के घाट उतार दिया। उसने भारत पर चढाई की (१७३८-३९ ई०)। मुगलो को पराजित किया, रक्त की होलियाँ खेलीं और खूब लूटपाट मचाया। भारत से अतुल धन और शाहजहाँ का तख्ते-ताऊस लेकर अपने देश मे लौटा। उसने बोखारा और खीव पर अधिकार किया। लेकिन वह अप्रिय बना जा रहा था। उसकी नीति सकीर्ण एव कट्टरतापूर्ण थी। उसने शिया धर्म को कुचलने का प्रयत्न किया। सर्वत्र लोग उससे असन्तुष्ट हो गए। १७४७ ई० मे उसी के वर्ग के लोगो ने उसका काम तमाम कर डाला।

नादिरशाह के मरने के बाद लगभग आधी शताब्दी तक फारस मे अव्यवस्था का साम्राज्य रहा। तत्पश्चात् १७९४ ई० मे आगा मुहम्मद नामक एक सरदार ने काजर वश की स्थापना की। इस वश ने १३० वर्षो (१७९४-१९२५ ई०) तक राज्य किया और इसमें कुल ७ प्रमुख सम्राट हुए। इस वश का अन्तिम सम्राट अहमद था जिसे १९२५ ई० में हरा कर रजाशाह पहलवी शाह बन बैठा।

अध्याय २५

यन्त्रयुग का प्रादुर्भाव—औद्योगिक क्रान्ति

भूमिका

साधारणतः क्रान्ति का जो अर्थ समझा जाता है, औद्योगिक क्रान्ति वैसी नही थी। इतिहास मे हमलोग अमेरिकी, फ्रांसीसी, रूसी और अन्य कितनी ही क्रान्तियो का वर्णन पाते है। इनका सम्बन्ध पार्टियो, हथियारो, युद्धो, सधियो, खून-खतरे आदि से रहता है। इस तरह की क्रान्तियाँ प्राय राजनीति के क्षेत्र मे हुआ करती हैं। औद्योगिक क्रान्ति इनसे बिलकुल भिन्न थी। इनमे न तो कोई दलबन्दी थी और न कोई युद्ध हुआ, न तो किसी का एक बूँद खून ही बहाया गया और न किसी के साथ कोई सन्धि ही हुई। इसकी कोई खास तिथि या दिन भी नहीं है। फिर भी सर्वसम्मति से इसे क्रान्ति कहा जाता है और वह यथार्थ भी है। वास्तव मे क्रान्ति का अर्थ है किसी समाज के स्वरूप म या मनुष्य की विचारधारा मे पूर्ण या मोलिक परिवर्तन। औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा मनुष्य के जीवन तथा स्वरूप मे ऐसे ही आमूल परिवर्तन हुए।

पुरातन काल से १८वी शती के मध्य तक मानव-समाज ने जो प्रगति की उसका आधार मनुष्य का बल ही रहा था। सारे कार्य के लिए उसे अपने ही हाथ-पैर का भरोसा रहता था। यदि वह अपना हाथ-पैर नहीं चलाता तो उसे नग्न और भूखे रहने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं था। वह बैल, घोड़े, ऊँट आदि जैसे कुछ उपयोगी जानवरो से भी सहायता लेता था। किन्तु १८वी शताब्दी के मध्य से सारी स्थिति बदलने लगी। अब सारा काम यन्त्रो के द्वारा होने लगा। यन्त्र तथा गतियुग का शिलान्यास हुआ। अब मनुष्य के समय तथा शक्ति मे पर्याप्त बचत होने लगी। जो काम सैकड़ो और सहस्रो व्यक्तियो के द्वारा मोटे ढग पर वर्षो मे सम्पादित होता था, वह अब कुछ ही मनुष्यो के द्वारा महीनो, सप्ताहो या चन्द दिनो के अन्दर बड़ी बारीकी से पूरा होने लगा। एक देश से दूसरे देश मे जिस सन्देश को पहुँचने मे वर्ष और महीने गुजर जाते थे वही अब कुछ मिनटो और सेकन्डो मे पहुँचने लगा। सक्षेप मे इस क्रान्ति के वैसे ही महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए जैसे किसी महान् या सफल राजनीतिक क्रान्ति के होते हैं।

लेकिन इस क्रान्ति की कुछ खास विशेषताएँ हैं। इसमे रक्तपात तथा कोलाहल का सर्वथा अभाव था और यह शान्तिपूर्ण साधनो के द्वारा सम्पन्न हुई। इगलैण्ड मे सर्वप्रथम इसका जन्म हुआ और धीरे-धीरे विश्व के प्रायः सभी देशो मे इसकी लपटे फैल गई।

सभी देशो मे इसका प्रभाव भी एक-सा रहा। किन्तु सर्वसाधारण के जीवन पर किसी भी क्रान्ति की अपेक्षा इसका प्रभाव अधिक स्थायी तथा व्यापक रहा है। इसके आरम्भ या अत होने का कोई निश्चित दिन नही बताया जा सकता। २०वी शताब्दी मे भी इसका क्रम जारी है। हॉ, १७५० और १८५० ई० के बीच इसका विकास विशेष रूप से हुआ था।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण

अभी कहा गया है कि यह क्रान्ति शान्तिपूर्ण साधनो के द्वारा हुई। इसके मूल मे वैज्ञानिक उन्नति थी। यह क्रान्ति कूटनीतिज्ञो या राजनीतिक सस्थाओ के प्रयत्नो के कारण नही वरन विज्ञान के आविष्कारको और उसके प्रयोगकर्ताओ की सम्मिलित चेष्टाओ के परिणामस्वरूप हुई थी। मध्ययुग मे मनुष्य की बुद्धि धार्मिक चहारदीवारी के भीतर सीमित थी। अत॰ वह कुछ सोचने या प्रयोग करने मे लाचार थी। किन्तु सास्कृतिक पुनरुत्थान तथा धर्मसुधार-आन्दोलन ने मानव-बुद्धि को मुक्त कर दिया। अब स्वतन्त्र वातावरण मे स्वाभाविक रूप से मनुष्य का बौद्धिक विकास होने लगा। इससे वैज्ञानिक आविष्कार को बहुत प्रोत्साहन मिला। विज्ञान तथा उद्योग मे घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हो गया। उद्योग-धन्धो के लिए नये-नये आविष्कार हुए, यातायात के साधनों मे उन्नति हुई और कृषि के क्षेत्र मे नयी-नयी विधिया का प्रचलन हुआ।

आधुनिक काल के प्रादुर्भाव के साथ धर्म का महत्त्व घटा और भौतिकता की महत्ता बढी। अब सासारिक समस्याओ को हल करने की ओर लोगो की विशेष प्रवृत्ति हुई। वे अपने जीवन को अधिक से अधिक भोग-विलासमय बनाने के लिए प्रयत्न करने लगे। इसके लिए यह आवश्यक था कि वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि हो और वे सस्ती पर साथ ही बारीक हो। यह कल-कारखाने के उपयोग और स्वतन्त्र व्यापार की नीति के द्वारा ही सम्भव था। इन सभी बातो की पूर्ति के लिए मनुष्य सतत् शोध और साधना करने लगे। आदम स्मिथ ने 'वेल्थ आफ नेशन्स' नामक पुस्तक १७७६ ई० मे प्रकाशित की जिसमे उसने श्रम-विभाजन और स्वतन्त्र व्यापार पर विशेष जोर दिया।

मध्यम वर्ग का बहुत पहले से उत्तरोत्तर उत्थान हो रहा था। इस वर्ग के लोगो के पास पूँजी भी काफी थी। पूँजी की अधिक वृद्धि करना पूँजीपतियो की मनोवृत्ति होती है। अत. वे इसके लिये अनेक उपायों को सोच रहे थे। भौगोलिक खोजो ने उन्हे स्वर्ण अवसर प्रदान किया। इनके द्वारा नवीन मार्गों तथा कई देशो का पता लगा जिससे व्यापार तथा बाजार का क्षेत्र बढा।

इगलैण्ड में सर्वप्रथम क्यों ?

उपरोक्त सभी कारणों से औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, किन्तु इसका श्रीगणेश इगलैण्ड मे हुआ। इसके कई कारण थे।

(१) राजनीतिक दृष्टि से इगलैण्ड सुरक्षित था, शासन-प्रणाली सुदृढ थी। किसी ऐसे बाहरी खतरे का भय नहा था जिसके लिए उसे दिन-रात परेशान होने की आवश्यकता होती।

(२) इगलैण्ड एक द्वीप है, जिसके चारो ओर जल है। जमीन के भागो मे समुद्र के घुस जाने से इसका किनारा विस्तृत और कटा हुआ है। इसी से वहाँ बड हो उपयोगी बन्दरगाह भी पाये जाते है। वहाँ को नदियो भी शक्ति-दायिनी ह। अत जहाज-निर्माण के लिए सुविधा प्राप्त थी।

(३) यहाँ पूँजो को विशेपता थो। देश मे कुशल तथा अकुशल दोना प्रकार के मजदूरो की भरमार थी। फिर फ्रास के प्रोटेस्टट शरणार्थी आकर इगलेंड मे बस गये थे। उनके आने से इगलैंड के कौशल तथा पूँजी मे और वृद्धि हो गई थी।

(४) इगलंड मे लोहा, कोयला आदि जैसे कच्चे माला की भी प्रचुरता थी और वे बन्दरगाहा तथा एक दूसरे के निकट पाए जाते थे।

(५) बनी हुई माला की खपत के लिए इसके अधीन बहुत से बाजार थे जब कि दूसरे राज्य अपने घरेलू समस्याओ मे व्यस्त थे, इगलेड अपना औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने मे लगा था। अँगरेजी व्यापार भी बहुत से प्रतिबन्धो से मुक्त था।

(६) नेपोलियन-युगोन युद्धा के फलस्वरूप अँगरेजी व्यापार का बहुत प्रोत्साहन मिला। युद्धकाल मे इगलैड भौगोलिक स्थिति तथा सामुद्रिक शक्ति के कारण अन्य देशो का पर्याप्त मात्रा मे माल पहुँचाने लगा था। यूरोप के देशो मे मालो के आने-जाने पर अनेक नियत्रण लगे हुए थ। बाहर से भी अँगरेजी माला की माँग मे वृद्धि हो गई। आयात-निर्यात की वृद्धि से उसके बन्दरगाह माला से पूर्णतया भरे रहते थे।

(७) ब्रिटेन मे बहुत से वैज्ञानिक पैदा हुए जिन्होने भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे बहुमूल्य आविष्कार किया। अँगरेजी समाज मे उनका सम्मान होता था।

क्रान्ति की प्रगति

तीन क्षेत्रा म क्रान्ति के चिन्ह दृष्टिगोचर हुए—कृषि, उद्योग-धन्धे और आवागमन। अब प्रत्येक क्षेत्र मे क्रान्ति की प्रगति का अवलोकन करना चाहिए।

(क) कृषि सम्बन्धी परिवर्तन—१८ वी सदी के पूर्वार्द्ध तक इगलेड ग्राम तथा कृषि-प्रधान देश था और वहाँ के लोगा का मुख्य पेशा खेती करना ही था। लेकिन उस समय तक प्राचीन तथा मध्यकालीन विधियो तथा औजारो से ही खेती की जाती थी। प्रचलित प्रथा के अनुसार जिस खेत मे दो साल फसल बोई जाती थी उसे तीसरे साल खाली छोड दिया जाता था। इसका उद्देश्य था कि उस खेत की खोई हुई उर्वराशक्ति फिर से प्राप्त हो जाय। प्रत्येक ग्राम मे उपजाऊ जमीन के सिवा चरागाह या परती जमीन भी रहती थी।

इस प्रचलित प्रणाली से लाभ तो कम थे, पर हानियाँ अधिक थी। फिर भी यह

प्रणाली तब तक चलती रही जब तक इसमे काम चल रहा था। किन्तु १८वा सदी मे कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई जिससे कृषि-सुधार करना आवश्यक हो गया। इगलैंड की जनसख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। इसलिए प्रचुर मात्रा मे अनाज की आवश्यकता पडने लगी। उस युग मे युद्ध की प्रधानता थी जिसके कारण विदेशो से अनाज मँगाने मे कई कठिनाइयाँ था। अत. अपने ही देश मे अधिक अन्न पैदा करना आवश्यक था।

वर्कशायर मे जेथ्रोटल नाम के व्यक्ति ने सर्वप्रथम कृषि की ओर ध्यान दिया। वह खेत का अच्छी तरह जुतवा कर बडी सावधानी से बीजो को एक-एक कर सीधी पक्ति मे गिराने लगा। अब एक एकड जमीन मे पहले की अपेक्षा बीज एक चौथाई के अनुपात मे लगने लगे और उनके निकल आने पर उनकी जडो मे मिट्टी देना भी आसान हो गया। लेकिन अब मजदूरो का काम बढ गया। कुछ समय बाद उसने ड्रिल' नामक एक मशीन का आविष्कार कर लिया। अब इसके द्वारा फसलो की आसानी से निकौनी हो जाती और उनकी जडो मे मिट्टी पड जाती। इसके अतिरिक्त उसने 'होइग' नाम की भी एक मशीन ढूँढ निकाली जिससे खेतो का जोतना आसान हो गया। कृषि के क्षेत्र मे टाउनशेन्ड का नाम भी उल्लेखनीय है। उसने अपनी नॉर्फोक की जमींदारी मे चतुर्वर्षी चक्र की एक योजना का प्रयोग किया। वह एक ही खेत मे क्रमानुसार गेहूँ, चुकन्दर या शकरकन्द, जौ या जई और दूब या अन्य घास की फसल उगाने लगा। इससे भूमि मे पूरी खाद मिलने लगी, उसकी उर्वराशक्ति बढने लगी और मवेशियो को पर्याप्त चारा भी मिलने लगा।

पशुओ के विषय म भी परिवर्तन हुए। अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध मे भेडो का वजन लगभग तीन गुना और पशुओ का दुगुना बढ गया। इस क्षेत्र मे रॉबर्ट बेकवेल का नाम विशेष प्रसिद्ध है। उसने मवेशियो तथा भेडो की नस्ल को उन्नत किया। उसके साँड और भेड लम्बे तथा मोटे होते थे जिन्हे देखने के लिए दूर-दूर से लोग आते थे।

इस तरह कृषि तथा पशुओ मे विशेष प्रगति होने लगी, खेतो के लिए नयी-नयी खादे और पशुओ के लिए खाद्य मिलने लगे। अत पशुओ के मास मे भी वृद्धि होने लगी। इनकी देख-रेख के लिए स्मीथफील्ड क्लब, सरकारी कृषि विभाग आदि कई सस्थाएँ खुल गई। आर्थर यग ने कृषि सम्बन्धी कई लेखो को लिखा और घूम-घूम कर उनका प्रचार किया। यही नहीं, कुछ और भी परिवर्तन हुए। परती जमीन को जुताऊ बनाने की चेष्टा होने लगी। छोटी-छोटी भूमि को टुकडियो को बडे-बडे खेतो और फार्मों मे परिवर्तित कर दिया जाने लगा। सबसे बडी बात तो यह थी कि खुले खेतो के चारा ओर मेडं डालकर बाड़ बाँध दिये जाने लगे। इस तरह ७० लाख एकड जमीन घेर डाली गयी। जब कृषक इसका विरोध करने लगे तब पार्लियामेंट इसके लिये कानून बनाने लगी।

पार्लियामेंट ने कई बार कानून बनाया लेकिन १८०१ ई० मे एक जेनरल एनक्लोजर ऐक्ट भी पास कर दिया गया।

इन सुधारो के कारण इगलैण्ड की कृषि-व्यवसाय मे एक नये युग का पदार्पण हो गया। खेती-बारी एक लाभप्रद पेशा हो गयी और लोग इसकी उन्नति के लिये पूरा खर्च करने लगे। अब देश की फसल मे पहले से पाँचगुनी वृद्धि हो चली।

किन्तु कुछ हानि भी हुई। छोटी-छोटी भूमि की टुकडियो मे नये ढग से खेती करना सम्भव नही था। जमीन भी अधिक महँगी हो गयी। अत छोटे-छोटे किसान अपनी जमीन बेच देने के लिये बाध्य हुए और वे कल-कारखानो तथा खेतो मे मजदूरी करने के लिये विवश हुए। अब गरीबो और मजदूरो की सख्या मे वृद्धि हो चली और छोटे-छोटे किसानो का अन्त हो गया। परती जमीन को जुताऊ बना देने और सभी खेतो को घेर देने से मवेशियो को चारा की कठिनाई होने लगी। अब उनके चरने के लिये भूमि का अभाव हो गया।

. (ख) **उद्योग-धन्धों मे परिवर्तन**—कृषि के बाद अन्य उद्योग-धन्धो की भी उन्नति होने लगी। पहले कपडे के ही व्यवसाय मे परिवर्तन हुआ। अब तक सूत की कताई और कपडे की बुनाई दोनो ही काम चरखे तथा करघे के द्वारा किए जाते थे। किन्तु अब दोनो कामो के लिए नए-नए आविष्कार हुए। १७३३ ई० मे लकाशायर के जॉन के ने 'फ्लाइग शट्ल' का आविष्कार किया। उसके द्वारा सभी जुलाहे बड़ी तेजी से काम करने लगे और सूत की माँग बढ चली। १७६४ ई० मे ब्लेकबर्न का निवासी जेम्स हारग्रीव्स ने 'स्पिनिग जेनी' का आविष्कार किया जिसमे १६ तकुए एक पहिए के घूमने से चलते थे। १७६६ ई० मे प्रेस्टन निवासी रिचार्ड आर्कराइट ने 'वाटरफ्रेम' निकाला जिसमे पानी की शक्ति से चरखा चलता था। हारग्रीव्स तथा आर्कराइट की मशीनो के आधार पर १७७६ ई० मे बोल्स के निवासी क्रौम्पटन ने 'म्यूल' नाम की मशीन बनाई जिससे बारीक सूत अधिक परिमाण मे निकलने लगा। बुनाई मे उन्नति करने के लिए एडमन्ड कार्टराइट ने १७८५ ई० मे पानी के सहारे चलने वाला एक करघा तैयार किया जो 'पावरलूम' कहलाने लगा।

वाष्पशक्ति का ज्ञान लोगो को बहुत पहले से था। किन्तु १७६६ ई० मे जेम्सवाट ने इससे इजिन चलाने का काम लिया। १७८५ ई० से कताई और बुनाई की मशीनो को चलाने मे भी इसका प्रयोग होने लगा। कुछ वर्षो के बाद इससे स्टीमर (१८१२ ई०) और (१८१४ ई०) के इजिन भी चलाये जाने लगे। रैल का इजिन वाष्पशक्ति से चलाने [श्रेय जार्ज स्टीफेन्सन को प्राप्त हुआ।

कल-कारखाने की वृद्धि के साथ ही उन्हें चलाने के लिए लोहे तथा कोयले की आव-

श्यकता बढी। अत. इन व्यवसायो मे भी खूब उन्नति हुई। अब जगलो के कट जाने से लकडी के कोयले की कमी हो गई। अत. एक नए प्रकार की भट्टी का निर्माण किया गया जिसमे पत्थर के कोयले तथा जले हुए कोक से काम लिया जाने लगा। लोहे के उत्पादन मे भी वृद्धि हुई और अब एक नवीन लौह-युग का पदार्पण हो गया। धीरे-धीरे हेनरीफोर्ड की चेष्टाओ से लोहे की ढलाई करने तथा उसके छड और चद्दरें आदि बनाने की विभिन्न प्रक्रियाएँ निकल पड़ी। १७७६ ई० मे सर्वप्रथम लोहे का पुल और १७६० ई० मे लोहे का जहाज बना। लोहे के साथ कोयले की माँग भी बढ़ी, अतः खानो से अधिक कोयला निकलने लगा। पहले तो विस्फोट एव अन्धकार के कारण खानो मे काम करना बडा ही सकटाकीर्ण था किन्तु १८१५ ई० मे हम्फ्रीडेवी ने एक रक्षक बत्ती (सेफ्टी लैम्प) का आविष्कार किया। खानो से पानी के निकास का प्रबन्ध भी हो चुका था। अब खानो के भीतर काम करना आसान हो गया।

(ग) आवागमन सम्बन्धी परिवर्त्तन—देश मे कल-कारखानों की वृद्धि के कारण बहुत अधिक माल तैयार होने लगे जिन्हे विभिन्न जगहो में भेजने की आवश्यकता आ पड़ी। अत. आवागमन के साधनों की उन्नति करना भी आवश्यक हो गया।

१८ वीं सदी के प्रारम्भ तक आवागमन के साधन बड़ी ही बुरी दशा मे थे। सडकें खराब थी। वे प्रायः कच्ची होती थीं जिन पर बरसात मे कीचड का ढेर लग जाता था और गाड़ियो का चलना कठिन हो जाता था। अब इन बुराइयों को दूर करने की चेष्टा होने लगी। ऐसे इन्जीनियरो मे मेटकाफ, टेलफोर्ड और मैकडम के नाम विशेष उलेखनीय है। मेट्काफ तथा टेलफोर्ड के पथ-प्रदर्शन मे अच्छी सडके बनाई जाने लगीं। टेलफर्ड के उद्योग से पक्की सड़कें बनने लगी।

किन्तु सड़को पर भारी माल ढोने मे अधिक समय और धन का खर्च पडता था, अत ट्रामगाड़ियों का निर्माण हुआ। पहले तो लकडी की लाईन पर ये गाडियाँ चलाई गयीं, लेकिन १७७६ ई० के बाद लोहे की पटरी बनने लगी। १७८४ ई० मे पामर ने नई डाक की व्यवस्था की। इस तरह पहले की अपेक्षा समय और धन के खर्च मे कुछ बचत तो हुई, किन्तु स्थल—मार्ग मे अभी भी खर्च कम नही था। अत जलमार्ग का भी विकास हुआ। इगलैंड मे सर्वप्रथम १७५६ ई० में नहर बनाई गई। ड्यूक आफ ब्रिजवाटर कोयले की एक खान का मालिक था। उसने ब्रिन्डले नामक एक इजीनियर के पथ-प्रदर्शन मे वोर्सलो से मैन्चेस्टर तक आधुनिक ढग की नहर बनवाई। अब इन जगहों मे कोयले ढोने का खर्च बहुत कम हो गया। १८वी सदी के अन्त तक कई नहरों का निर्माण हो गया और लन्दन, ब्रिस्टल, लिवरपूल आदि जैसे बड़े-बड़े शहर नहरों

४

के द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित हो गये। फोर्थ और क्लाइड नदियो से भी नहरें निकाली गयी।

१६वीं सदी के प्रारम्भिक काल मे भाप से सचालित जलयाना तथा रेलगाडियो क प्रचार हुआ। १८१६ ई० मे सर्वप्रथम वाष्पनौका ने २५ दिना मे अटलाटिक महासाग का पार किया। फुल्टन नामक एक अमेरिकन ने इसका आविष्कार किया था। १८०४ ई० मे प्रथम इजिन का निर्माण हुआ और १८२५ ई० मे सर्वप्रथम रेलगाडी चली। जाज स्टीफेन्स-नामक अग्रेज ने राकेट नाम के एक नई रेल के इजिन का आविष्कार किय जिसकी चाल ३५ मील प्रति घन्टे थी। अब धीरे-धीरे इगलेंड तथा यूरोप म रेलगाडियें का जाल-सा बिछ गया। १८४० ई० म पेनो पोस्टेज की प्रथा कायम हुई और १८७५ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय डाक-सघ स्थापित हुआ। १८७६ ई० मे टेलीफोन का आविष्कार हुआ फेरेडे आदि वेज्ञानिको ने बिजली का आविष्कार किया जिसन गति के क्षेत्र मे क्रान्ति उत्पन्न कर दी। १८३५ ई० मे सर्वप्रथम बिजली के सहारे तार द्वारा समाचार भेजा गया और इसके १५ वर्ष बाद इगलेंड तथा फ्रास के बीच पानी के अन्दर से 'केबुल' द्वारा समाचार भेजा गया। अब टेलिग्राफी का तीव्र गति से प्रचार हुआ। १८७६ ई० म टेलिफोन का आविष्कार हुआ। १८८० ई० मे पेट्रोल की खोज हुई। इसके बाद पट्रोल की शक्ति से मोटरे चली। वायुयान के आविष्कार ने तो यातायान की गति मे अपूर्व प्रगति ला दी। १८६७ ई० मे सर्वप्रथम वायुयान उड़ा जिसका निर्माण प्रोफसर लेगवे ने किया था। अमेरिका के राइट बन्धुओ ने १६०३ मे वायुयान मे बैठकर उड़ान की। १६०६ ई० से वायुयाना के क्षेत्र में अधिक प्रगति हुई।

सन् १८७६ ई० में एडिसन नामक अमेरिकन वैज्ञानिक ने ग्रामोफोन का आविष्कार किया। १८६३ ई० म इसीने सिनेमा को जन्म दिया। १८६५ ई० मे लूमेरे नामक फ्रासीसी वैज्ञानिक ने फिल्म प्रोजेक्टर का आविष्कार किया। इसी साल इटली के वेज्ञानिक मार्कोनी ने रेडिओ और वायरलेस का आविष्कार किया। १६२६ ई० मे अगरेजी वैज्ञानिक बियर्ड ने टेलीविजन का आविष्कार किया।

इस बीच कुछ और महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए। १८२७ ई० मे दियासलाई का आविष्कार हो चुका था। १८४० ई० मे स्काटलैण्ड निवासी मैकमिलन ने बाइसिकिल का आविष्कार किया था। १८६० ई० मे फोटोग्राफी, १८७३ ई० मे टाइपराइटर और १८८४ ई० मे फाउन्टेनपेन का आविष्कार हुआ था। चिकित्सा शास्त्र में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है और अब चीर-फाड़ का काम बहुत सरल बन गया है। आगे चलकर कृषि के क्षेत्र मे बेल या घोड़ों से चलनेवाले हलो के स्थान पर ट्रैक्टरों का आविष्कार हुआ। कई प्रकार के रासायनिक खादो के द्वारा उत्पादन कई गुना अधिक बढ़ा लिया गया।

क्रान्ति का प्रसार

हम देख चुके हैं कि सर्व प्रथम इगलैण्ड मे क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे क्रान्ति की लहर यूरोप के अन्य देशो तथा अमेरिका मे फैलने लगी। १८१५ ई० मे नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप मे इसके प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया। जर्मनी, बेल्जियम, फ्रास तथा स्वीटजरलैण्ड मे विशेष रूप से क्रान्ति का प्रसार हुआ। परन्तु इसमे भी इगलैड का प्रमुख सहयोग रहा। फ्रास मे डागलास तथा बेल्जियम मे कोकरिल नामक अगरेज ने यत्रो के प्रचार मे अधिक हाथ बटाया। किन्तु कालान्तर मे वस्तुओ के निर्माण मे कई देश इगलैण्ड से भी आगे बढ़ गये। जर्मनी मे धातु सम्बन्धी और फ्रास मे कपडा सम्बन्धी कार्य बहुत उत्तमता से होने लगा था।

फ्रांस—१६वी शताब्दी के प्रथम चरण तक फ्रास कृषि-प्रधान देश था। उद्योग-धन्धे साधारण पैमाने पर होते थे। मध्यकालीन गिल्ड-प्रथा का प्रचार था। प्रत्येक व्यवसाय के लोग पृथक्-पृथक् गिल्ड मे सगठित थे। प्रत्येक गिल्ड एक दूसरे से स्वतन्त्र था और इसका अपना सभापति तथा कार्य-समिति थी। प्रत्येक गिल्ड के अपने-अपने नियम थे जिन्हें मानने के लिए इसके सदस्य बाध्य थे। मालो के उत्पादन, वितरण और मूल्य आदि पर गिल्ड का नियत्रण था। प्रारम्भ मे गिल्ड उपयोगी सस्था सिद्ध हुई किन्तु आधुनिक काल मे यह असामयिक हो गई और इसके दोष प्रत्यक्ष हो गये। इस प्रथा के अन्तर्गत प्रतियोगिता के लिए स्थान नही था। अत व्यक्ति की प्रतिभा के विकास के लिए उपयुक्त क्षेत्र का अभाव था। लोग व्यक्तिवाद की ओर विशेष झुकने लगे थे। अत. धीरे-धीरे गिल्ड-प्रथा का नाश हुआ और प्रत्येक व्यक्ति व्यावसायिक क्षेत्र मे स्वतन्त्र हो गया।

गिल्ड-प्रथा के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी थे जिनसे फ्रास मे औद्योगिक क्रान्ति विलम्ब से हुई। इगलैण्ड के समान वहाँ प्रचुर मात्रा मे खनिज पदार्थ नही पाये जाते थे। दूसरे, १७८६ ई० से १८१५ ई० तक फ्रास मे क्रान्ति तथा युद्ध के कारण अशान्ति और अव्यवस्था का साम्राज्य था। तीसरे, इगलैण्ड उसका सबसे बड़ा दुश्मन था अत. उससे किसी प्रकार का सहयोग मिलना असम्भव था। लेकिन १८१५ ई० के बाद नेपोलियन के पतन के साथ स्थिति मे परिवर्त्तन हो गया। देश मे धीरे-धीरे शान्ति स्थापित हुई। इस समय तक गिल्ड-प्रथा की भी अवनति हो चुकी थी। अपने लाभ के हेतु इगलैण्ड फ्रास के औद्योगिक विकास मे सहयोग देने लगा और फ्रास इगलैण्ड से यन्त्र खरीदने लगा। धीरे-धीरे देशीय खनिज पदार्थों का भी उपयोग होने लगा। रेलें बनने लगी। फ्रास मे कई नदियाँ भी हैं। अत. जल तथा वाष्पशक्ति का प्रयोग होने लगा। नहरें निर्मित होने लगी। कलो की भरमार हो गई। बड़े-बड़े नगर कायम हो गये। फ्रास मे व्यावसायिक विकास की एक विशेषता यह रही है कि वहाँ भोग-विलास सम्बन्धी सुन्दर तथा आकर्षक

वस्तुएँ अधिक बनती है। अत वहाँ हस्तकुशल कारीगरो की भी आवश्यकता बनी रहती है। लेकिन अन्य व्यावसायिक देशो मे इनकी कोई आवश्यकता नही या नाममात्र की रह गई है।

जर्मनी—फ्रास से भी पीछे जर्मनी मे उद्योग-धन्धो का विकास शुरू हुआ। इसके कई कारण थे। यहाँ भी गिल्ड-प्रथा का बोलबाला था। लोगो की कृषि मे विशेष अभिरुचि थी। नेपोलियन ने जर्मनी की भूमि पर दीर्घकाल तक युद्ध किया था जिससे वहाँ के निवासियो की आर्थिक स्थिति बिगड गई थी। गरीबी के कारण बहुमूल्य चीजो के व्यवहार के लिए कोई प्रोत्साहन नही था। उसके पास जहाज तथा बाजार का अभाव था और देश मे यातायात की दशा बडी ही बुरी था। कई छोटे-छोटे स्वतत्र राज्य थे और केन्द्रीय सरकार का कोई सगठन नही था।

बिस्मार्क की प्रतिभा और प्रयास से स्थिति मे परिवर्तन हुआ। १८७१ ई० मे जर्मनी एक साम्राज्य के रूप मे परिवर्तित हो गया, उसका एकीकरण हुआ और एक सुदृढ केन्द्रीय शासन स्थापित हुआ। देश मे व्यवस्था स्थापित हुई और अब व्यावसायिक विकास की ओर ध्यान दिया गया। प्रारम्भ मे इगलेण्ड से पर्याप्त सहयोग मिला और देश मे कल-कारखानो की भरमार हो गई। पहले जलशक्ति से काम होता था, धीरे-धीरे वाष्पशक्ति का व्यवहार होने लगा। सूती, रेशमी और ऊनी कपडे तथा धातु सम्बन्धी मालो का विस्तृत पैमाने पर उत्पादन होने लगा। यातायात के साधनो मे विकास हुआ। देश मे रेल, सड़क तथा नहरो की भरमार हो गई। धीरे-धीरे मशीन भी बनने लगी। जर्मनी मे लोहे की अधिकता रही है। वेस्टफालिया, ऊपरी साइलेशिया और सार प्रदेश तो इसके प्रधान केन्द्र है। धातु के कामो मे वह इगलेण्ड तथा अमेरिका का मुकाबला करने लगा। विज्ञान की उन्नति के साथ जर्मनी ने रासायनिक व्यवसाय का भी विकास किया। उसके मालो की भी सर्वत्र माँग होने लगी। फ्रास के दो प्रधान व्यावसायिक क्षेत्र—अल्सेस तथा लोरेन पर भी जर्मनी का अधिकार हो गया था अत इससे उसके व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। इन सभी कारणो से १९वी सदी के प्रारम्भ तक जर्मनी एक प्रमुख व्यावसायिक देश बन गया।

रूस—सत्रहवी शताब्दी तक रूस मध्यकालीन पिछड़ा हुआ राज्य था। यह एशिया का ही एक अग समझा जाता था। लोग खेती-बारी मे सादा जीवन व्यतीत करते थे। शासन निरकुश था और व्यवसाय के विकास मे उसे कोई दिलचस्पी नही थी। १८वी शताब्दी मे पीटर और कैथेराइन के प्रयास से रूस मे पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार हुआ। लेकिन १८९० ई० तक रूस में उद्योग-धन्धो का विकास नहीं हुआ। जनता निर्धन थी, पूँजी का अभाव था। रूस की जनसख्या का अधिकाश भाग दासत्व की बेडी मे जकड़ा

हुआ था। उन्हें देश की उन्नति में कोई रुचि नहीं थी। वे तो अपनी मुक्ति के लिए ही चिन्तित थे।

१९वीं सदी के अन्तिम चरणों से स्थिति में परिवर्तन हुआ। अन्य औद्योगिक देशों का प्रभाव पड़ा और व्यावसायिक विकास आवश्यक समझा गया। इस समय तक दासों को मुक्त कर दिया गया था। शासन भी उद्योग-धन्धों के विकास में दिलचस्पी लेने लगा। विदेशी पूँजीपतियों को रूस में पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। देश का औद्योगिक विकास शुरू हो गया लेकिन प्रथम महायुद्ध के अन्त तक औद्योगिक विकास में कोई विशेष सफलता नहीं मिली। बोलशेविक सरकार की स्थापना के साथ इस दिशा में द्रुतगति से प्रगति शुरू हुई। अब तक कई पंचवर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित हो चुकी हैं और सारे देश में कल-कारखानों की भरमार हो गई है और आवागमन के साधनों का जाल-सा बिछा हुआ है। अब रूस विश्व का एक प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र बन गया है। और अमेरिका की बराबरी करने लगा है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका—१७८३ ई० तक तो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का कोई अस्तित्व ही नहीं था। वह इंगलैण्ड की दासता में जकड़ा हुआ था जो उसका भरपूर शोषण कर रहा था। उसका कच्चा माल इंगलैण्ड में जाता था और वह अंगरेजी माल खरीदने के लिये बाध्य था। १७८३ ई० में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और संयुक्त राष्ट्र का जन्म हुआ। तत्पश्चात् इसकी उन्नति दिन दूनी रात चौगुनी होने लगी। पहले कृषि के क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई और उत्पादन में वृद्धि हुई। किन्तु संयुक्त राष्ट्र का औद्योगिक विकास होना तो स्वाभाविक और अनिवार्य था। पूँजी तथा श्रम की वहाँ बहुलता है। जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। सब तरह के कच्चे मालों की अधिकता है। खनिज पदार्थों का भी अभाव नहीं। अनेक नदियाँ और झीलें हैं। क्षेत्रफल भी बहुत अधिक है। सभी तरह के साधनों से अमेरिका परिपूर्ण है। पहले यूरोपियन लोग अमेरिका में भी हस्तक्षेप करते थे और कहीं-कहीं अपना आधिपत्य भी जमाने के फेर में थे। किन्तु १८२३ ई० में प्रेसिडेंड मुनरो ने 'अमेरिका-अमेरिका वासियों के लिए' का सिद्धान्त प्रकाशित किया और अमेरिका का द्वार विदेशियों के लिए बन्द हो गया। पनामा नहर के निर्माण से पूर्वी और पश्चिमी तट तथा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका एक दूसरे से सम्बन्धित हो गए हैं। इन सभी विभिन्न कारणों से १९वीं सदी में अमेरिका का औद्योगिक विकास बड़ी ही द्रुतगति से हुआ। २०वीं शताब्दी में भी उसकी प्रगति जारी रही है। आज अमेरिका समस्त विश्व में सर्वसम्पन्न देश है और वहाँ की बनी हुई चीजें सर्वत्र देखने को मिलती हैं। वह विश्व में प्रथम कोटि का शक्तिशाली राष्ट्र बन गया है।

जापान—प्रथम महायुद्ध के अन्त तक एशिया के देशों में औद्योगिक क्रान्ति का

विकास नही हुआ था। इसका कारण था कि सारे एशिया पर पाश्चात्य साम्राज्यवाद का जाल-सा बिछा हुआ था। विदेशियो के द्वारा इन देशा का शोषण हो रहा था। १९२०ई०के बाद एशियाई देशों मे जागरण हुआ और अपनी स्वतन्त्रता के लिए ये सचेष्ट हो उठे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रत्येक देश अपना-अपना आर्थिक विकास करने की कोशिशकर रहा है।

किन्तु एशिया मे जापान अपवादस्वरूप है। १८५३ ई० के बाद यहाँ पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार हुआ और जापान ने अपनी परम्परा के साथ उसका मेल कर लिया। उसने पश्चिमी सभ्यता के आवश्यक तत्वो को शीघ्रता से ग्रहण कर लिया। १८६७ ई० मे जापान मे क्रान्ति हुई और सुदृढ केन्द्रीय शासन स्थापित हुआ। इसके बाद जापान की उन्नति तीव्र गति से शुरू हुई। शिक्षा का प्रचार हुआ, शिक्षाप्रणाली मे व्यवसाय के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। होनहार जापानी विद्यार्थियो को उच्च शिक्षा पाने के लिए विदेशो मे भेजा जाने लगा। सरकार ने देश के औद्योगीकरण मे बडी तत्परता दिखलाई। इसने व्यवसायियो और विद्यार्थियो को आर्थिक सहायता प्रदान की। जापान मे औद्योगिक विकास के लिए कुछ अन्य बातो की भी सुविधा है। यहाँ लोहे तथा कोयले की खान पाई जाती है। पर्वतो की अधिकता है जहाँ से नदियाँ निकल कर तीव्र गति से प्रवाहित होती है। इन नदियो से बिजली आसानी से उत्पन्न होती है। अत वहाँ बिजली सस्ती है और कल-कारखानो मे इसका उपयोग पर्याप्त मात्रा मे होता है। जापान मे बड़े-बड़े जङ्गलो की भी अधिकता है जिनमे उपयोगी लकडियाँ मिलती है। शहतूत के वृक्षो पर रेशम के कीडे पाले जाते है। इन सभी कारणो से जापान का औद्योगीकरण शीघ्रतापूर्वक हो गया। देश मे कल-कारखानो की भरमार हो गई और यातायात के साधनो मे उन्नति हुई। बडे-बडे व्यावसायिक नगर बस गए। मालो का उत्पादन बढ गया। इसके लिए 'बाजार' की आवश्यकता हुई। अत जापान ने साम्राज्यवादी नीति ग्रहण की और चीन तथा आस-पास के भू-भागो पर आधिपत्य कायम करना शुरू कर दिया। १९०४-५ ई० मे उसने रूस जैसे विशाल देश को युद्ध मे पराजित कर ससार को चकित कर दिया।

समाज और अर्थ पर क्रान्ति का प्रभाव

क्रान्ति के इतने महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए कि वर्तमान औद्योगिक युग का इसे जन्मदाता कहा जाता है। आधुनिक काल की सारी प्रवृत्तियो और समस्याओ का मूल इसी क्रान्ति मे निहित है। पर इससे लाभ और क्षति दोनो ही हुए।

लाभ

१. वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति—हम देख चुके है कि किस भाँति इगलैण्ड मे ही सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति हुई। कृषि की नई विधियाँ चली, यन्त्रो के अद्भुत आविष्कार हुए तथा आवागमन के साधनो मे उन्नति हुई। इन परिवर्त्तनो के कारण

इगलैण्ड की सारी आकृति ही बदल गई। वह पहले एक कृषि-प्रधान देश था किन्तु अब व्यावसायिक देश हो गया। अब कृषि का स्थान उद्योग-धन्धो ने ले लिया। अत औद्योगिक क्रान्ति के कारण इगलैण्ड के वाणिज्य-व्यवसाय मे अपूर्व उन्नति हुई और वह विश्व का बाजार ही हो गया। हिन्दुस्तान तथा अन्य उपनिवेशो से भी वह अपने कल-कारखाना के लिए कच्चा माल लेने लगा और इन जगहा मे अपना तैयार माल भेजने लगा। इस तरह ससार के अधिकाश भाग के व्यापार तथा समुद्र पर उसने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

२ **राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि**—वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति के साथ राष्ट्रीय सम्पत्ति की भी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। १६वी सदी के प्रारम्भ मे इगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड की सम्पत्ति का अनुमान दो अरब पौड तक किया गया था। इस सम्पत्ति मे उत्तरोत्तर वृद्धि ही हो रही थी। इसी के बदौलत इगलैण्ड अमेरिकन क्रान्ति-जनित अपनी क्षति को शीघ्र पूरा कर सका। इतना ही नहीं, फ्रासीसी क्रान्ति के कारण जो भीषण दीर्घकालीन युद्ध हुआ उसका भी भार इगलैण्ड आसानी से सह सका और उसने नेपोलियन को हराकर सारे यूरोप की रक्षा की।

३ **जनसख्या मे वृद्धि**—देश की जनसख्या मे भी तीव्र गति से वृद्धि होने लगी थी। १३७० ई० मे इगलैण्ड तथा वेल्स की जनसख्या सवा इक्कीस लाख के लगभग थी। करीब दो सौ वर्षों मे यह दुगुनी हो गई। १७६० ई० मे यह सख्या ७० लाख के लगभग थी और जार्ज तृतीय के राज्यकाल के अन्त तक यह सख्या भी दुगुनी बढ गई।

४ **शहरो का विकास**—जनसख्या मे वृद्धि होने के साथ केन्द्र भी परिवर्तित हो गया। कृषि-प्रधान देश के लोग तो ग्रामा मे रहा करते थे किन्तु अब लोग ग्रामो से हटकर व्यावसायिक केन्द्रा मे बसने लगे। इस तरह पहले दक्षिण-पूर्वी भाग की आबादी घनी थी। नार्फोक ब्रिस्टल आदि प्रसिद्ध और बडे-बडे नगर स्थापित हुए थे। लेकिन अब उत्तरी-पश्चिमी भाग की आबादी बढने लगी और इसी भाग मे मैन्स्टर, लिवरपूल आदि जैसे बडे-बडे शहर बस गए।

५. **कल-कारखाने की अधिकता**—व्यवसाय-प्रधान देश होने का मतलब था कल-कारखाना पर अधिक से अधिक निर्भर रहना। जहाँ-जहाँ कारखानो खुले थे वही आबादी की वृद्धि हो गई और शहर बस गए। इस तरह इगलैण्ड मे कल-कारखानो की भरमार हो गई, उसके साथ ही पृथ्वी पर गतियुग का भी आगमन हुआ। अब दुनिया के देशो की दूरी कम हो गई, विश्व अपेक्षाकृत छोटा हो गया। अब यात्रा करने और सदेश भेजने मे बड़ी सुविधा हो गई।

६. **धन के आधार पर समाज का विभाजन**—कल-कारखाने की अधिकता के कारण विस्तृत पैमाने पर मालो का उत्पादन होने लगा। बहुत से अगरेज लाखपति और करोड़पति

बनने लगे। अब धन के आधार पर समाज तीन भागों में बँट गया—पूँजीपति, मध्यमवर्ग और मजदूर।

७. मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी और बैंकों की स्थापना—देश में मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों की भरमार हो गई। क्रान्ति के कारण पूँजी की माँग बहुत बढ़ गई थी। हिस्सों के द्वारा ही अधिक पूँजी प्राप्त की जा सकती थी। अत मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियाँ खुलने लगीं। पूँजी को सुरक्षित रखने के लिए बैंक स्थापित होने लगे। धीरे-धीरे बैंकों की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति कायम हुई और विश्वव्यापी व्यापार को प्रोत्साहन मिला। इससे वस्तुओं के मूल्य में अपेक्षाकृत समानता और स्थिरता उत्पन्न हो गई।

८ जीवनस्तर की ऊँचाई—अधिक परिमाण में मालों के उत्पादन होने से चीजें सस्ती हो गईं। अत. जैसा हम लोग देख चुके हैं, अंगरेजी व्यापार और राष्ट्रीय सम्पत्ति में बड़ी तेजी से वृद्धि होने लगी। इससे पूँजीपतियों को तो असीम लाभ हुआ ही, मध्यम तथा निम्न श्रेणी के लोगों की भी उन्नति हुई। पहले की अपेक्षा सभी लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठ गया। अब सर्वसाधारण को भी सभी सुविधाएँ प्राप्त हो गईं जिन्हें, पहले कुछ थोड़े से भाग्यशाली पुरुष ही पाते थे। भोग-विलास के मापदण्ड से ही मध्य तथा वर्तमान युगों को स्पष्ट रूप से बाँटा जा सकता है। मध्यकालीन युग में जो अमीर और धनी समझे जाते थे उन्हें भी भोग-विलास के सामानों का सर्वथा अभाव था। बहुत कम घर में दो से अधिक बिछौने पाये जाते थे। दो सदी पूर्व हजार में एक भी व्यक्ति मोजा नहीं पहनता था। एक सदी पूर्व ५०० में एक व्यक्ति उसका उपयोग नहीं करता था। किन्तु अब हजार में से एक भी व्यक्ति बिना मोजा का नहीं मिलेगा।[1] अब निश्चित रूप से समाज भौतिकवादी बन गया। अधिकाधिक सुख की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट होने लगा।

९. मजदूरों को लाभ—पहले की अपेक्षा उन्नत अवस्था हो जाने से मजदूरों की संख्या में वृद्धि हो गई और उनकी शक्ति का विशेष उपयोग होने लगा। उन्हें नियत समय पर कार्य मिलने लगा और उनकी मजदूरी भी बढ़ चली। उनका मानसिक विकास भी होने लगा। काम करने की नई-नई विधियों की खोज होने लगी। वे आपस में मिलने-जुलने लगे। सर्वव्यापक समस्याओं को सुलझाने के लिये पारस्परिक विचार विनिमय होने लगा। अत उनमें संगठन की शक्ति विकसित होने लगी। वे आगे चलकर व्यवसाय संघ जैसी अपनी संस्था कायम करने लगे और अपनी असुविधाओं को दूर करने के लिये संगठित रूप से माँग करने लगे।

---

[1]इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट ऑफ इंगलैंड—आर० एन० दूबे।

१०. **समाज-सुधार**—अनेक बुराइयों को दूर करने के लिये समाज-सुधार की ओर भी लोगों की भावना जाग्रत हुई। इसके लिये शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक समझा गया। अत: मानव-मनोवृत्ति मे परिवर्तन होने लगा। विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न होने लगा। स्त्रियां, बच्चों, मजदूरो आदि के साथ शनै. शनै. उचित व्यवहार होने लगा।

हानियाँ—नयी प्रणाली ने लाभों के अतिरिक्त कितने ही दोषों को भी जन्म दिया।

१ **गृह-व्यवसाय-प्रणाली का अन्त**—अब तक गृह-व्यवसाय-प्रणाली का प्रचार था। लोग अपने घर के अन्दर ही अपने बाल-बच्चो तथा स्त्रियो के साथ साधारण पैमाने पर माल का उत्पादन कर लिया करते थे। किन्तु कल-कारखानो के हो जाने से विशाल पूँजी तथा बड़े-बड़े घरों की आवश्यकता आ पडी। यह नयी स्थिति साधारण व्यक्ति के लिए अनुकूल न रही। इसके सिवा कारखाने के जरिये कम समय मे अधिक माल का उत्पादन होने लगा। वे चीजें अधिक सस्ती होती थी। अत. प्राचीन परिपाटी के लोगों के लिए इनकी प्रतियोगिता करना भी सम्भव न रहा। अत अब फेक्टरी-प्रणाली के उदय के साथ गृह-व्यवसाय का अन्त हो गया।

२. **बेकारी की समस्या**—गृह-व्यवसाय के मारे जाने से कितने लोग बेकार हो गये। कल-कारखानों मे भी सभी मजदूरों के लिये स्थान मिलना कठिन था। जो काम अधिक समय मे हजारा मनुष्य अपने हाथ से करते, अब वह कल के जरिये थोड़े व्यक्ति थोड़े समय मे करने लगे। इसके सिवा कल-कारखानों मे तो कुशल मजदूर ही अधिकतर लिए जाते थे और सभी मजदूर एक समान कुशल नहीं थे। अतः अब हजारा व्यक्ति बेकार होकर मारे-मारे फिरने लगे।

३ **चीजों की अच्छाई मे कमी**—पूँजीपतियों को अपने मुनाफे की ही विशेष चिन्ता रहती थी। अत मालों के अधिक उत्पादन में ही उनका स्वार्थ था। इससे माला की मात्रा पर जितना ध्यान दिया जाता था उतना उनकी अच्छाई पर नही।

४. **मजदूरों की दासता**—मजदूरों की दशा मे जितना सुधार नही हुआ उससे कह अधिक उनकी हालत खराब हो उठी। मजदूरों की स्वतत्रता जाती रही। कल-कारखानों के मालिक ता बड़े-बड़े पूँजीपति ही होते थे और वे सैकडा, हजारो तथा लाखों की सख्या मे मजदूरों का काम करने के लिए भर्ती करते थे। अतः दो प्रकार से उनकी स्वतत्रता छिन गई। वे मिल-मालिका और कलों—दोनो के ही दास बन गए।

५ **मिलों मे स्त्रियो तथा बच्चों की नियुक्ति**—मजदूरों के दुःख की कोई सीमा नहीं थी। मिल-मालिका को उनकी भलाई की कुछ चिन्ता नहीं थी। वे तो अपने स्वार्थ के वशीभूत हो अन्धे हो गये थे। मिला मे हजारो की सख्या मे स्त्रियो और बच्चा की नियुक्ति की जाती थी। इन्हें पुरुषों की अपेक्षा मजदूरी कम देनी पडती थी और इन पर नियंत्रण

रखना आसान था। बच्चे कामल शरीर के होते थे। अत. उनमे विशेप स्फूर्ति रहती थी और वे बडी तेजी के साथ चिमनियो को साफ किया करते थे। भूख और गरीबी से पीडित स्त्रियो और बच्चा के लिये दूसरा कोई चारा भी नहीं था। वे कारखानो मे काम करने के लिए विवश थे।

६ काम करने की अनिश्चित अवधि—किन्तु क्या पुरुप, क्या स्त्रियाँ और क्या बच्चे! सब की मजदूरी बहुत साधारण थी लेकिन काम बहुत कडा लिया जाता था। काम करने की अवधि निश्चित न थी। ७ से ६ वर्ष तक की उम्र के लडके-लडकियो से सभी कारखाने तथा खाना मे १२ घटे तक काम लिया जाता था। कभी-कभी तो ४ वर्ष तक के बच्चे काम मे लगा दिए जाते थे। मजदूरो से १७ से १८ घटे तक काम लिया जाता था। बच्चे दिन-दिन भर किवाड खोलते और बन्द करने या जजीरो को अपने कमर मे बाँध कर घुटना के सहारे कोयले की भारी-भारी गाडियो को खींचते थे। थकावट के कारण यदि बच्चो पर नीद का आक्रमण होता तो उन पर कोडे पडते या उन्हे गालियाँ दी जाती। लम्बे घण्टो तक काम कराने की परिपाटी तो थी ही, किन्तु खपत की अपेक्षा उत्पादन अधिक हो जाने पर मजदूरो को अचानक हटा भी दिया जाता था। फिर भी वे कोई सघ नही बना सकते थे क्योकि कानून उनके खिलाफ था।

७ पारिवारिक जीवन की उपेक्षा—अब पारिवारिक जीवन की महत्ता जाती रही। घर प्राय. वीरान रहने लगा। वह केवल भोजन और शयन-गृह रह गया। स्त्री, पुरुष और बच्चा को आपस मे मिलने-जुलने का अवकाश न रहा। पारम्परिक प्रेम का अभाव हो गया। माता-पिता के प्रति बच्चो की कर्त्तव्य एव प्रेम-भावना क्षीण पडने लगी।

८ अस्वस्थ और सकटपूर्ण स्थिति—मजदूरा के दुखा का अभी यही अन्त नहीं होता। उनकी दशा तो बडी ही दयनीय थी। उनका रहन-सहन, खान-पान भी बुरा था। कारखाने का स्थान बड़ा ही गन्दा रहता था, जहाँ शुद्ध वायु और प्रकाश का अभाव रहता था। भयानक मशीनो से रक्षा के लिये कोई प्रबन्ध नहीं था। खानो के घोर अधेरे मे भी लगातार कई घटा तक काम करना पड़ता था।

मजदूरा का निवासस्थान भी बहुत ही गन्दा रहता था। उनके कमरे सकीर्ण होते थे जिसमें मर्द, औरत और बच्चे एक ही साथ रहते थे। पारस्परिक दुर्गुणो का विनिमय होने लगा। शराबखोरी तो एक साधारण बात हो गयी थी और चरित्रहीनता मे वृद्धि होने लगी थी। इन सबका परिणाम हुआ अगरेजो का शारीरिक तथा नैतिक पतन तथा भावी सन्तान की शक्ति का ह्रास।

ऊपर औद्योगिक क्रान्ति के जिन लाभो तथा हानियों की चर्चा की गई वे केवल इगलैड में ही नही वरन् सभी जगह न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगोचर हुए।

राजनीतिक प्रणाली पर क्रान्ति का प्रभाव

१. शासन की सुविधा—मार्गों की सुविधा होने के कारण शासक वर्ग को शासन मे भी बहुत सुविधाएँ मिल गई थीं। रोमन साम्राज्य के शासको ने शासन-व्यवस्था ठीक रखने के लिए साम्राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक सडके बनवायी थी। प्राचीनकाल मे किसी बड देश को बहुत समय तक सगठित रखना असम्भव था। नित्यप्रति बलवे हुआ करते थे, साम्राज्य क्षीण होते रहते थे और धीरे-धीरे समाप्त हो जाते थे। अब मार्गो की सुविधा से खबर मिलने और पहुचने तथा शान्ति रखने मे बहुत सहायता मिल गयी।

२ नेपोलियन के पतन मे सहायक—औद्योगिक क्रान्ति के कारण इगलैड के धन-दौलत म अपार वृद्धि हुई। अत वह क्रान्ति तथा नेपोलियन के युग के युद्धों का भार वहन कर सका और नेपोलियन को हराने मे समर्थ हो सका। नेपोलियन साम्राज्य, शोषण और स्वेच्छाचारिता का प्रतीक था। अत वह यूरोप की स्वतत्रता तथा सुरक्षा के लिए सकट था। इगलैड ने उस सकट को दूर कर यूरोप की रक्षा की।

३ प्रजातन्त्र का विकास—औद्योगिक क्रान्ति ने प्रचलित राजनीतिक प्रणाली को असामयिक बना दिया। जनसख्या मे वृद्धि, केन्द्र-परिवर्तन और मध्यवर्ग के उत्थान के कारण तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था मे सुधार अत्यावश्यक हो गया। इसके लिए पर्याप्त विलम्ब हो रहा था। १८१५ ई० तक तो इस विलम्ब के कारण क्रान्ति और नेपोलियन के समर के युद्ध थे। १८१५ ई० के बाद भी परिस्थिति विषम हो गई थी। किन्तु १८३२ ई० मे राजनीतिक सुधार होकर ही रहा। उस सुधार का श्रेय औद्योगिक क्रान्ति को ही प्राप्त है। इसी क्रान्ति के प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप यह सुधार हुआ और यह सन्देहजनक है कि फ्रासीसी क्रान्ति के अप्रत्यक्ष परिणामस्वरूप भी वैधानिक सुधार होता।

४ साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव—औद्योगिक क्रान्ति के कारण विस्तृत पैमाने पर मालो का उत्पादन होने लगा अत उन्हे खपाने के लिए बाजारो की जरूरत पडी। कल-कारखाने चलाने के लिए बाहर से कच्चे मालो की भी आवश्यकता पडती थी। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु पिछडे हुए भू-भागो पर आधिपत्य स्थापित करना आवश्यक था। अत. महान् राज्यो के बीच घोर प्रतियोगिता का बीजारोपण हुआ। इस तरह साम्राज्य-वाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्व का प्रादुर्भाव हुआ जो विश्वव्यापी युद्ध के कारण बने।

५ पूँजीवाद का जन्म—औद्योगिक क्रान्ति से पूँजीवाद का जन्म हुआ और भूमि-पतियो के स्थान पर पूँजीपति समाज का नेतृत्व करने लगे। राजनीतिक क्षेत्रों मे भी उनका गहरा प्रभाव था। धन के बल से वे मतदाताओं को खरीदने लगे थे। धारा-सभा मे उनके जो प्रतिनिधि जाते थे वे उनके हितो की विशेष चिन्ता करते थे।

६ वर्ग-सघर्ष—पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ वर्ग-सघर्ष का भी उदय हुआ।

पूँजीपतियों में सहानुभूति की मात्रा कम या नहीं के बराबर होती है और वे मुनाफे के लिए विशेष चिन्तित रहते हैं। उत्पादन के सारे साधनों—जमीन, फैक्टरी, कच्चा तथा पक्का माल आदि—पर उन्हीं का एकमात्र अधिकार रहता है। मजदूर केवल अपनी निश्चित मजदूरी के भागी होते हैं। अत व्यवसाय का लाभ पूँजीपतियों की जेब में जाता है और इससे राष्ट्र का कुछ भी हित नहीं होता। इसके फलस्वरूप पूँजीपतियों के धन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और दूसरी ओर श्रमजीवियों को भर-पेट भोजन मिलने का भी ठिकाना नहीं। इस तरह देश के अन्दर पूँजीपतियों तथा श्रमजीवियों के बीच की खाई गहरी होती जाती है और दोनों में वर्ग-संघर्ष बढ़ता जाता है।

७ **समाजवाद का विकास**—मजदूरों के कष्टमय जीवन में सुधार लाने के लिए अनेक प्रयत्न होने लगे। व्यवसाय संघ (ट्रेड यूनियन) ऐसी ही एक संस्था थी। किन्तु इंगलैंड में १८७१ ई० तक इसकी कोई वैध स्थिति न थी। उसी साल सरकार ने इसे स्वीकृति दी और इसके बाद संघ तत्परता से काम करने लगा। अन्य देशों में भी इसका अनुकरण हुआ। किन्तु व्यवसाय-संघ मजदूरों के हितों की रक्षा का साधन मात्र था। क्रान्ति ने एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो समाजवाद (सोशिलिज्म) कहलाता है। कुछ उदारवादी विचार के उद्योगपति इस सिद्धान्त के समर्थक थे जिनमें रॉबर्ट ओवेन का नाम विशेष प्रसिद्ध है। वह स्कॉटलैंड के एक कारखाने का स्वामी था और उसमें उसने मजदूरों के लिए अनेक सुधार किया। सिद्धान्त के प्रतिपादकों में सेंट साइमन और लूई ब्लैंक का नाम सर्वप्रथम आता है। पर पूँजीपतियों ने इसका विरोध किया और जबर्दस्त रूप से। किन्तु इस विरोध का फल हुआ कि समाजवाद के सिद्धान्त ने और भी उग्र रूप धारण किया। जर्मनी का निवासी कार्लमार्क्स इस उग्र समाजवाद का प्रवर्त्तक था। आगे चलकर यही सिद्धान्त साम्यवाद (कम्यूनिज्म) भी कहलाया। आज की राजनीति में समाजवाद या साम्यवाद का प्रमुख स्थान है। यहाँ तक कि कई यूरोपीय एवं एशियाई देशों में शासन ही इसी पर आधारित है। अत. हम समाजवाद की रूपरेखा एवं इसके विस्तार पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

समाजवाद और इसका प्रसार

कार्लमार्क्स

समाजवाद के सिद्धान्त का सार यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार वस्तु मिलनी चाहिये और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य भी करना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर समस्त राष्ट्र का अधिकार हो। यह अच्छे या बुरे किसी ढङ्ग से समाज में धनी-गरीब के बीच संघर्ष

का अन्त कर एक वर्गहीन समाज की व्यवस्था करना चाहता है। समाजवाद की रूप-रेखा निश्चित करने और इसे आगे बढाने का विशेष श्रेय कार्लमार्क्स को ही प्राप्त है।

कार्लमार्क्स (१८१८—८३ ई०) जर्मनी का रहने वाला एक यहूदी था। वह गम्भीर विद्वान तथा दार्शनिक था। फ्रेड्रिक एगेल्स उसका घनिष्ठ मित्र था। दोनों ने मिलकर १८४७ ई० मे कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो प्रकाशित किया। १८४८ ई० मे राष्ट्र विप्लव मे उसने भाग लिया और उसके दण्डस्वरूप जर्मनी से बहिष्कृत कर दिया गया। वह लदन चला गया और वहाँ उसने खूब गहन अध्ययन किया और १८६७ ई० मे 'कैपिटल' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस अमर कृति के रूप मे उसने समाजवादी आन्दोलन को एक दर्शनशास्त्र प्रदान किया। उसके विचार से समाज मे दो वर्ग हैं—धनी तथा निर्धन और इन दोनो वर्गों मे निरतर सघर्ष होता रहता है। अत· आर्थिक परिवर्तन होने से ही समाज मे परिवर्तन होता है। आर्थिक परिस्थिति का मनुष्य के विचार तथा कार्य पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। पूंजीवाद का विनाश अत्यावश्यक है। हिंसात्मक साधनों से भी इसका अन्त किया जा सकता है। विश्व के सभी मजदूर एक हैं और उनकी समस्या भी एक है। उन्हे अपने बन्धनो को तोड कर एकता के सूत्र मे आबद्ध हो जाना चाहिये। सारी सम्पत्ति के वे ही उत्पादक हैं। अत उन्हें भी मालों के नफे मे उचित हिस्सा मिलना चाहिए। समस्त विश्व मे श्रमिको का ही आधिपत्य रहना चाहिये। ये कार्लमार्क्स क कुछ प्रमुख सिद्धान्त थे। प्रचार-कार्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सगठन भी शुरू हुआ। वीं सदी के उत्तरार्द्ध मे प्रथम और द्वितीय अन्तर्राष्ट्री समाजवादी सघ का निर्माण हुआ किन्तु वे पूरे सफल नही हुए। १८८३ ई० में कार्लमार्क्स की और उसके १२ वर्ष बाद उसके मित्र एगेल्स की मृत्यु हो गई।

समाजवाद का प्रसार

१९०५ ई० मे रूस मे एक क्रान्ति हुई किन्तु वह आगे नही बढ सकी। १२ वर्ष पश्चात् लेनिन के नेतृत्व मे दूसरी क्रान्ति हुई जिसमे सफलता भी मिली। रूस मे समाजवादी सरकार कायम हुई और यह उस समय से यूनियन ऑफ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक कहलाता है। १९१९ ई० मे लेनिन ने तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सघ कायम किया। इसका उद्देश्य था सारी दुनिया में समाजवाद का प्रचार किया जाय। स्टैलिन इस सिद्धान्त का विरोधी था और १९४३ ई० में उसने इस सघ का अन्त कर डाला।

१८४८ ई० और १८७१ ई० मे फ्रास में भी समाजवादियो ने अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा, किन्तु वे सफल नहीं हुए। १८७१ ई० मे वहाँ प्रजातन्त्र स्थापित हुआ और वैधानिक तरीकों से मजदूरो की दशा मे सुधार होता रहा है। जर्मनी मे भी १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में समाजवादियों ने उपद्रव मचाना शुरू किया। विस्मार्क ने उन्हें दबाने की कोशिशि की

किन्तु उसने समाजवादी नीति के आधार पर कुछ सुधार भी किया। अत यहाँ भी समाजवादी क्रान्ति नही हो सकी। इगलैड मे भी ऐसा क्रान्ति सफल नहा हुई और वैधानिक साधनों के द्वारा हा मजदूरो की दशा मे सुधार होता रहा है। उन्हे मताधिकार दिया गया है और अन्य कितनी सुविधाएँ दी गई हैं। २०वी शताब्दी मे मजदूर-पार्टी उन्नति करने लगी और प्रथम महायुद्ध के बाद १९२३-१९५१ ई० के बीच इसने ४ बार अपनी सरकार भी बनायी है।

२०वी शताब्दी मे प्रथम महायुद्ध के बाद एशिया मे भी समाजवाद का प्रचार होने लगा है। प्राय सभी प्रमुख देशो मे समाजवादी तथा कम्युनिस्ट पार्टियाँ कायम हुई है और वे इस क्षेत्र मे सतत प्रयत्नशील है। १९४९ ई० मे चीन मे उन्ह अद्भुत सफलता मिली है और वहाँ कम्युनिस्टो ने अपनी सरकार स्थापित कर ली है। विश्व मे रूस के बाद यह दूसरा विशाल समाजवादी देश है।

आधुनिक काल मे अमेरिका पूँजीवाद का विशाल स्तम्भ है, किन्तु वहाँ समाजवाद को सफलता नही मिल सकी यह कोई आश्चर्य की बात नहा। शोषण, अपहरण और अन्याय के ही भीषण तथा भयकर वातावरण मे समाजवाद फूलता-फलता है। अमेरिका के मजदूर सुखमय जीवन व्यतीत करते है। उनका जीवनस्तर अन्य देशो के मजदूरो का अपेक्षा अधिक ऊँचा है।

अध्याय २६

क्रान्ति की लहर—अमेरिका का स्वातन्त्र्य संग्राम

भूमिका

सत्रहवीं सदी मे अँग्रेजो ने उत्तरी अमेरिका मे बारह उपनिवेशो की स्थापना की और एक उपनिवेश १८वी सदी के पूर्वार्द्ध मे स्थापित हुआ। अँग्रेजो के अतिरिक्त अन्य यूरापीय भी वहाॅ बस गए जैसे—डेन, जर्मन, फ्रासीसी, स्पेनिश आदि। लेकिन अँग्रेजो की सख्या अधिक थी और उनकी ही तूती बोल रही थी। उन्होंने डचो और फ्रासीसियो को भी पराजित कर उनके उपनिवेशो पर अधिकार कर लिया। उपनिवेशा पर अग्रेजो का अधिकार था और वे उसकी एकमात्र सम्पत्ति समझे जाते थे। उनपर ग्रेट ब्रिटेन का निरकुश शासन चरमावस्था को पहुँच चुका था। अत· इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। १८वी सदी के उत्तरार्द्ध मे उपनिवेशो ने अपनी मातृभूमि के विरुद्ध विद्रोह कर डाला। उनके विद्रोह या क्रान्ति को स्वातन्त्र्य सग्राम भी कहते हे।

कोई भी क्रान्ति एकाएक नहीं हो जाती, उसकी जड बहुत पीछे तक जाती है। सामान तो पहले से ही मौजूद रहते हैं और कोई ऐसी घटना घट जाती है जो चिनगारी का काम करती है और क्रान्ति का विस्फोट हो जाता है। इस तरह प्रत्येक क्रान्ति के लिए दो प्रकार के कारण होते है—मौलिक या दूरवर्ती और तत्कालिक या समीपवर्त्ती।

मौलिक कारण

१ **अमेरिकन उपनिवेश-वासियो का ब्रिटेन के प्रति बुरा रुख**—उपनिवेशो मे कुछ लोग ऐसे थे जो ब्रिटेन के प्रति शत्रुता की भावना रखते थे। खास कर न्यू इगलैण्ड के बाशिन्दे उन प्रोटेस्टेंटों के वशज थे जो स्टुअर्ट काल मे धार्मिक मतभेद होने से इगलैण्ड से निर्वासित कर दिए गए थे। कितने कैथोलिक भी थे जो धार्मिक अत्याचार के भय से इगलैण्ड छोडकर यहाॅ बस गए थे। अत. स्वाभाविक ही इन लोगो का ब्रिटेन के प्रति बुरा रुख था। स्वतन्त्रता के ये पुजारी अन्ध-राजभक्ति के आदी नही थे। अत. वे ब्रिटेन के अन्याय तथा अत्याचार की पुनरावृत्ति सहने के लिए कब तैयार हो सकते थे?

२. **उपनिवेशो का क्रमिक विकास तथा उनके द्वारा स्वतन्त्रता का स्वाद**—यह स्पष्ट है कि एक नवयुवक की अपेक्षा एक लड़के को नियन्त्रण में रखना अधिक आसान

था। परन्तु अमेरिका के उत्तरी राज्यो के उग्रपन्थी जनतन्त्र के ही कट्टर समर्थक थे। उनकी राजनीति मे धनी, गरीब सभी समान थे। अँग्रेजी समाज धन पर आधारित कुलीनो का समाज था, परन्तु अमेरिकन समाज मे समानता थी और बड़े से बड़े पदो पर भी प्रतियोगिता प्रणाली के द्वारा ही नियुक्ति की जाती थी। दक्षिणी राज्यो मे ही कुलीनता का कुछ विशेष प्रभाव था। अँग्रेज साम्राज्यवादी थे परन्तु अमेरिकनो मे साम्राज्यवाद की भावना का अभाव था। उनके विचार मे अँग्रेजी साम्राज्य मे केवल उच्च वर्ग के गवर्नरो, सेनाध्यक्षो तथा प्रतियोगी व्यापारियो और दास वर्गिको का ही स्थान था।

५. असन्तोषजनक शासन-प्रणाली—उपनिवेशो मे शासन-प्रणाली बड़ी ही असन्तोषजनक थी। कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा में निरन्तर सघर्ष होता रहता था। गवर्नर और उसकी कौंसिल के सदस्य सम्राट् के द्वारा मनोनीत होते थे और वे सम्राट् के प्रति ही उत्तरदायी थे। परन्तु व्यवस्थापिका सभा के सदस्य जनता के द्वारा निर्वाचित होते थे और वे जनता के प्रति ही उत्तरदायी थे। गवर्नर को विशेषाधिकार (वीटो) प्राप्त था। वह लोक-सभा के कानून को रद्द कर सकता था। जब वह अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करता तो लोक-सभा भी वैसा ही व्यवहार करती थी। वह गवर्नर के वेतन तथा नियमों को अस्वीकार कर देती थी। उपनिवेश अपनी धारा-सभा को सर्वशक्तिशाली मानता था, किन्तु ब्रिटिश सरकार उसे स्थानीय तथा अधीनस्थ सस्था मानती थी। इस प्रकार की शासन-प्रणाली से अमेरिकन कब सतुष्ट रह सकते थे?

६. राजनीतिक दार्शनिको के सिद्धान्त—लॉक, टामस पेन, माटेस्क्यू और रूसो जैसे राजनीतिक दार्शनिको के सिद्धान्तो ने अमेरिकनो की राजनीतिक भावना को जाग्रत किया और उनके असन्तोष मे वृद्धि की। पेन की पुस्तक 'सामान्य तर्क बुद्धि' (कॉमन सेन्स) उपयुक्त अवसर पर प्रकाशित हुई और इसने उपनिवेश-वासियों के मानस-पटल को बहुत ही प्रभावित किया। इससे उनमे नवीन स्फूर्ति तथा चेतना का सचार हुआ।

७. असन्तोषजनक वाणिज्य-प्रणाली—वाणिज्य-प्रणाली उपनिवेशो के असन्तोष का एक प्रधान कारण थी। इसी क्षेत्र मे उनकी सबसे बड़ी शिकायत थी। प्रचलित वाणिज्य-सिद्धान्त के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन उपनिवेशों के व्यापार पर नियन्त्रण रखता था और उनके बाजारो पर अपना एकाधिकार समझता था। उसकी दृष्टि मे उपनिवेश धन के उत्पादन के लिए साधनमात्र थे। कई मालो के बनाने पर उपनिवेशो पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। वे ऊन बहुत पैदा करते थे किन्तु उससे कोई चीज बना कर वे बाहर नहीं भेज सकते थे। उनके पास लोहे की खानें थीं किन्तु वे लोहे के सामान नही तैयार कर सकते थे। दूसरे देशो से सीधा व्यापार करने के लिए भी रोक थी। अमेरिका के लिए

यूरोप से जो भी माल आते थे वे पहले ग्रेट ब्रिटेन मे जाते थे और वहाँ पर चुंगी देने के बाद वे अँग्रेजी या औपनिवेशिक जहाजो पर ही फिर अमेरिका भेजे जाते थे। उपनिवेशो मे भी नेविगेशन ऐक्ट लागू था। वे अँग्रेजी या औपनिवेशिक जहाज पर ही माल मँगा या भेज सकते थे। उपनिवेशो के रुई तथा तम्बाकू जैसे कुछ कच्चे माल केवल ग्रेट ब्रिटेन मे ही भेजे जा सकते थे। उपनिवेश ऐसी प्रणाली को तोड़ देना चाहते थे। अब इसके दिन लद चुके थे। उपनिवेशो को इससे बहुत नुकसान होता था और इससे उनकी स्वतन्त्र भावना पर आघात पहुँचता था।

इन दूषित नियमो का निर्माण उपनिवेशो की राय से नही बल्कि ब्रिटिश पार्लियामेंट की इच्छा से हुआ था। यह पारस्परिक स्वार्थ पर आधारित आधुनिक 'इम्पीरियल प्रेफरेन्स' प्रणाली की जैसी नहीं थी बल्कि यह मनाही तथा आज्ञा पर ही निर्भर थी। इस प्रणाली के लाभ को तो देखकर उपनिवेश खुश होते थे, किन्तु इसके नुकसान से उन्हे बड़ा क्षोभ होता था। वे तब तक इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठाते थे जब तक इसके कार्यान्वित करने मे ढिलाई होती थी। इसके अलावा इन प्रतिबन्धो के बावजूद भी वे चोरबाजारी कर लिया करते थे जिसकी ह्विग सरकार उपेक्षा कर देती थी।

८ कनाडा से फ्रांस का निष्कासन—सप्तवर्षीय युद्ध मे फ्रास की हार हो गई और कनाडा से उसका निष्कासन हो गया। अब उपनिवेश-वासियो को ब्रिटेन के विरुद्ध विद्रोह करने का सुअवसर प्राप्त हो गया क्योंकि उत्तर से फ्रासीसी आक्रमण का भय दूर हो गया।

९. ग्रेनविल के चार आपत्तिजनक कार्य—१७६३ ई० मे जार्ज ग्रेनविल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हुए। उनके समय में चार आपत्तिजनक घटनाएँ घटी—

(क) कागज-पत्रो के पढ़ने से ग्रेनविल को मालूम हुआ कि अमेरिका से केवल दो हजार पौंड की वार्षिक आमदनी होती है। वह समझता था कि चोरबाजारी के कारण ही ऐसा हुआ है। अतः उसने इसे रोकने का भरपूर प्रयत्न किया। उसने प्रचलित कानूनों को एकत्रित तथा परिवर्तित करने की कोशिश की। नेविगेशन ऐक्ट बड़ी ही कड़ाई से लागू किया गया और चोरबाजारी के मामलो को देखने के लिए 'ऐडमिरल्टी कोर्ट' कायम किया गया। ग्रेनविल के इन कार्यों से उपनिवेशो में बड़ी हलचल पैदा होने लगी। अतः यह कहा जाता है कि 'ग्रेनविल के द्वारा कागज-पत्रो के पढे जाने के कारण इंगलैण्ड ने अमेरिका को खो दिया।'

(ख) फ्रासीसी पश्चिमी द्वीप समूह मे ब्रिटिश पश्चिमी द्वीप समूह से शीरा अधिक सस्ता था। अतः अमेरिका के उपनिवेश फ्रासीसी पश्चिमी द्वीप समूह से ही शीरा मँगाते थे। इसे रोकने के लिए १७३३ ई० मे एक शीरा कानून (मोलासेज ऐक्ट) पास

कर दिया गया। इसके द्वारा विदेशी शीरा के आयात पर बहुत अधिक चुंगी लगा दी गई। ग्रेनविल ने इस चुंगी को बहुत कम कर दिया। लेकिन वह चुंगी के लगाने और इसकी वसूली मे बहुत सावधान रहा। ब्रिटेन के आर्थिक सकट का ख्याल करते हुए ग्रेनविल का यह कार्य अनुचित नही था, फिर भी उपनिवेश-वासी इसे पसन्द नही करते थे।

(ग) मिसीसिपी नदी के पूरब मे कुछ प्रदेश थे जिन्हें फ्रास से लिया गया था। इन प्रदेशो पर ब्रिटिश सरकार तथा उपनिवेश अपना-अपना अधिकारस मझते थे। ग्रेनविल ने एक घोषणा प्रकाशित की जिसके अनुसार इन प्रदेशों के बड़े-बड़े भाग आदि मूल निवासियों (रेड इन्डियन्स) के लिए सुरक्षित कर दिये गये। इसके अलावा सम्राट् के द्वारा मनोनीत अध्यक्ष के बिना अनुमति के आदिम निवासियों द्वारा भूमिदान की मनाही कर दी गई। गोरो के शोषण से आदिम निवासियो की रक्षा करने के लिए यह पहली चेष्टा थी। परन्तु उपनिवेश-वासियों ने इसे अपने विकास की स्वतन्त्रता मे बाधक और अपने अधिकारो पर अतिक्रमण समझा। अतः वे ब्रिटिश सरकार के प्रति सशकित और सतर्क हो गए।

(घ) अमेरिकन उपनिवेशो पर फ्रासीसियों तथा आदिम निवासियो के आक्रमण की सम्भावना थी। अतः ग्रेनविल के विचारानुसार उनकी रक्षा के लिये एक छोटी स्थायी सेना की जरूरत थी। अतः उसने १० हजार की एक सेना स्थापित करनी चाही जिस पर तीन लाख वार्षिक खर्च होता। ग्रेट-ब्रिटेन इसका सारा खर्च नहीं दे सकता था क्योंकि अगरेजो पर राज्यकर का बोझ बहुत अधिक था, सप्तवर्षीय युद्ध के कारण ब्रिटेन का राष्ट्रीय कर्ज दूना बढ गया था और स्पेन तथा फ्रास से लड़ाई हो जाने की शका बनी हुई थी। अतः ग्रेनविल चाहता था कि खर्च का एक-तिहाई हिस्सा उपनिवेश ही दे।

तात्कालिक कारण

अमेरिकन क्रान्ति का तात्कालिक कारण यहीं से शुरू होता है। प्रस्तावित रकम को प्राप्त करने के लिए ग्रेनविल ने अपनी एक सूझ भी उपस्थित की। वह चाहता था कि एक स्टाम्प ऐक्ट पास कर सभी कानूनी कागजों पर टिकट का व्यवहार अनिवार्य कर दिया जाय। इस प्रकार विचार करने के लिए या अन्य कोई साधन ही खोज निकालने के लिए ग्रेनविल ने उपनिवेशो को एक साल का समय दिया। उसका यह प्रस्ताव उचित ही था—क्योंकि (क) कर साधारण था, (ख) इनका खर्च इगलैंड में न होकर अमेरिका की रक्षा पर ही होता, और (ग) कितने ही लोगो की सम्मति मे उपनिवेशों के ऊपर टैक्स लगाने का ब्रिटिश पार्लियामेट का अधिकार वैध था।

१. स्टाम्प ऐक्ट (१७६५ ई०)—उपनिवेशो ने प्रस्तावित धन को प्राप्त करने का

कोई नया साधन नही बतलाया, अत. ग्रेनविल ने १७६५ ई० मे स्टाम्प ऐक्ट पास कर दिया ।

पार्लियामेंट भवन मे स्टाम्प ऐक्ट पास करना तो सहज था किन्तु अमेरिका मे टैक्स वसूलना कठिन था। उपनिवेशो मे बडी उत्तेजना फैली। उपनिवेश-वासियो की दृष्टि से ब्रिटिश पार्लियामेंट को उन पर आन्तरिक टैक्स लगाने का कोई अधिकार नही था। अत. उन्होने इसका एक स्वर से विरोध किया। इसके कई कारण थे—(क) ब्रिटिश पार्लियामेंट तीन हजार मील की दूरी पर स्थित थी। (ख) इसमे उनका कोई प्रतिनिधित्व नही था। यह अगरेजों का परम्परागत सिद्धान्त है कि बिना प्रतिनिधित्व के कोई टैक्स नही लगाया जा सकता। प्रतिनिधित्व के बिना टैक्स लगाने का प्रयत्न अत्याचार घोषित किया गया। (ग) उन्हे यह सन्देह हुआ कि शिपमनी की भाँति इसे स्थायी कर बनाने की कोशिश की जा रही है। (घ) उन्हे यह भी भय होने लगा कि यदि वे इस बार इस टैक्स को स्वीकार कर लेंगे तो आगे भी नये टैक्स लगाने के लिए पार्लियामेंट उत्साहित हो जायगी। और (ङ) इस समय उनपर कोई बाहरी खतरा भी नही था।

अतः जब टैक्स वसूल करने की कोशिश होने लगी तो स्थिति गम्भीर हो गई। बेंजामिन फ्रैंकलिन ने घोषणा कर दी कि हमे तलवार से भले ही नष्ट कर दिया जाय, पर हम स्टाम्प ऐक्ट नही स्वीकार करेंगे। जहाँ-तहाँ दगे होने लगे। गवर्नरो के घरो में आग लगाई जाने लगी और कलक्टरो की मूर्तियाँ बना कर उनका अपमान किया जाने लगा। अमेरिका मे ब्रिटेन के विरुद्ध मोर्चा तैयार हो गया। १३ मे से ६ उपनिवेशो के प्रतिनिधि टैक्स का विरोध करने के लिए न्यूयार्क मे जमा हुए। अगरेजी माल का बहिष्कार करने की बात सोची जाने लगी।

अमेरिकन नीति के सम्बन्ध मे ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के बीच मतभेद था। कुछ अमेरिकनो के पक्ष में और कुछ विपक्ष में थे। १७६६ ई० मे रॉकिंघम ने स्टाम्प ऐक्ट रद्द कर दिया किन्तु एक दूसरा ऐक्ट यह दिखाने के लिए पास किया गया कि ग्रेट ब्रिटेन को उपनिवेशो पर टैक्स लगाने का वैध अधिकार था।

२. इम्पोर्ट ड्यूटीज ऐक्ट (१७६७ ई०)—अब स्थिति में सुधार की आशा हुई, किंतु शीघ्र ही फिर गड़बड़ी पैदा हो गई। १७६७ ई० मे पिट मन्त्रिमडल के चासलर टाउनशेन्ड ने 'अमेरिकन इम्पोर्ट ड्यूटीज ऐक्ट' पास कर अमेरिका में शीशा, रग, कागज और चाय के आयात पर चुगी लगा दी। उसके विचार मे बन्दरगाहो पर वसूल होने के कारण ये बाह्यकर थे, अतः इनके विरोध की सम्भावना नहीं थी। इस रकम से वह उपनिवेशों के गवर्नरों तथा दूसरे अफसरों का वेतन देना चाहता था। जो अब तक वहाँ की धारा-सभा किया करती थी। इससे औपनिवेशिक गवर्नर धारा-सभाओं के चगुल से मुक्त हो जाते।

उपनिवेश-वासियों की दृष्टि मे यह औपनिवेशिक स्वराज्य के मौलिक सिद्धान्त पर बहुत बड़ा आघात था। अतः इसका भी घोर विरोध किया गया।

३. चाय पर चुगी जारी रखने की चेष्टा (१७७० ई०)—१७७० मे लार्ड नॉर्थ प्रधानमंत्री हुआ और उसका मन्त्रित्व १२ वर्षों तक कायम रहा। उसने कागज, रग तथा शीशा पर से चुगी हटा दी परन्तु ब्रिटेन के टैक्स लगाने के अधिकार को कायम रखने के लिए चाय की चुगी पूर्ववत् जारी रखी। पर यह उसकी बड़ी भूल साबित हुई। उसने यह नही समझा कि उपनिवेश-वासियो ने टैक्स लगाने के सिद्धान्त का ही विरोध किया था, रकम का नहीं। अतः उनका रोष पूर्ववत् जारी रहा।

४. उत्तरकालीन तीन दुर्घटनाएँ १७७०-७३ ई०—अगले तीन वर्षो मे कुछ ऐसी उत्तेजनात्मक घटनाएँ हुई जिनसे दोनो पक्षो के बीच कटुता और भी बढ गई—

(क) बोस्टन शहर के नागरिक ब्रिटिश रेजिमेटो का अपमान करने लगे। एक दल ने कुछ सैनिकों को ही घेर लिया और वह उनके साथ बुरा व्यवहार करने लगा। उनको अपशब्द कहा जाने लगा तथा पत्थर के टुकड़े फेंके जाने लगे। उन पर गोली चलाई गई जिससे कुछ व्यक्ति मर गए। उपनिवेश-वासियो ने इसका एक बड़ा खूनी हत्याकाड के नाम से प्रचार कर डाला और उपनिवेशो मे तहलका मच गया।

(ख) अमेरिका मे चोरबाजारी को रोकने के लिये एक शाही जहाज भेजा गया था। १७७२ ई० मे अमेरिकनो ने इसे जला डाला और इसके लिये उपनिवेशों मे खुशियाँ मनाई जाने लगीं। परन्तु इगलैंड मे हलचल मच गई।

(ग) दूसरे साल एक नया चाय-कानून पास किया गया। इसके द्वारा ईस्ट इन्डिया कम्पनी को भारतवर्ष से सीधे अमेरिका चाय भेजने के लिए अनुमति दे दी गई। इससे कम्पनी को आर्थिक लाभ होता और अमेरिका मे चाय भी सस्ती हो जाती। परन्तु उग्रपन्थियो ने अमेरिकनो को खुश करने के लिये इसे ब्रिटिश सरकार की एक चाल मात्र समझा। अतः विरोधी प्रदर्शन किए जाने लगे और जब बोस्टन के बन्दरगाह मे कम्पनी के जहाज पहुँचे तो कुछ लोग वहाँ के मूल निवासियों के वेश मे जहाजो में घुस गये और चाय के ३४० बक्स समुद्र मे फेंक दिए गये। यह घटना 'बोस्टन टी पार्टी' के नाम से विख्यात है।

इस दुर्घटना का समाचार पाकर अगरेज बड़े ही उत्तेजित हुए। अब उन्हें विश्वास हो गया कि अमेरिकनों ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। पार्लियामेट बड़ी ही कड़ाई से काम करने लगी। इसने १७७४ ई० मे 'मेसाचुसेट्स गवर्नमेंट ऐक्ट' पास किया जिसके अनुसार एक तरह से दिया गया चार्टर वापस ले लिया गया। बहुत से अफसर पदच्युत कर दिये गये और बहुतो की नियुक्ति सरकारी हाथो मे कर दी गई। 'गेज' नाम का एक सैनिक मेसाचुसेट्स का गवर्नर नियुक्त किया गया और उसकी सहायता के लिए पर्याप्त

सेना भेजी गई। कोई लोक-सभा करने के लिये गवर्नर की अनुमति आवश्यक कर दी गई। सभी वाणिज्य के लिये बोस्टन का बन्दरगाह बन्द कर दिया गया जिससे हजारो व्यक्ति बेकार हो गये। उपनिवेश-वासियो के राजनीतिक मुकदमों की जॉच अब ब्रिटेन मे ही होने लगी। इस तरह कुछ व्यक्तियो के दुष्कर्म का फल समूचे प्रान्त को भोगना पड़ा। उसी साल एक 'क्वेबेक ऐक्ट' पास किया गया जिसके द्वारा कनाडा की सीमा ओहियो नदी तक कर दी गई और वहाँ के कैथोलिकों को बहुत कुछ सुविधाएँ दे दी गई। इससे प्यूरिटन लोग और भी रुष्ट हो गए क्योकि इससे उनके विस्तार मे रुकावट पैदा हो गई और कैथोलिक चर्च की प्रधानता स्थापित हो गई।

दमन-नीति का प्रतिकूल फल

ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति का फल उसके प्रतिकूल ही हुआ। अपने पारस्परिक अधिकारो की रक्षा करने के लिये जार्जिया के अतिरिक्त सभी उपनिवेशो के प्रतिनिधियो ने फिलाडेल्फिया मे सर्वप्रथम एक सभा की। इस सभा ने अधिकारो का एक घोषणा-पत्र (डिक्लेरेशन आफ राइट्स) तैयार किया। पार्लियामेंट के द्वारा पास किये गये १३ कानूनो का अन्त करने के लिए मॉग पेश की गई। अगरेजी माल का वहिष्कार भी आरम्भ कर दिया गया। फरवरी १७७५ ई० मे नॉर्थ ने समझौता करने की चेष्टा की। उसने एक घोषणा की कि जो उपनिवेश साम्राज्य के खर्च मे स्वेच्छा से हाथ वटायेंगे वे सभी राष्ट्रीय टैक्सो से मुक्त कर दिये जायेंगे। परन्तु यह रियायत बहुत मामूली थी और काफी बाद मे दी गई। होनहार होकर ही रहा। ब्रिटिश सरकार ने मेसेचुसेट्स की धारा-सभा भंग कर देने की आज्ञा दी, किन्तु आज्ञा की उपेक्षा कर दी गई और लड़ने की तैयारी होने लगी। १७७५ ई० मे ग्रेटब्रिटेन और अमेरिका के बीच युद्ध का श्रीगणेश हो गया।

युद्ध और स्वतन्त्रता-प्राप्ति

४ जुलाई-१७७६ ई० को अमेरिकी कांग्रेस की बैठक हुई जिसमे सभी उपनिवेशो के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। जार्ज वाशिंगटन उनका प्रधान नेता था। इसने अमेरिकी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जिसमे ये बातें प्रमुख थीं (क) सभी मनुष्यो को स्वतन्त्रता-प्राप्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है, (ख) सरकार की शक्ति का स्रोत लोकमत है; और (ग) किसी भी देश की जनता को यह अधिकार है कि लोकमत विरोधी सरकार को वह बदल दे। युद्ध चलता रहा। दूसरे साल अगरेजी सेना ने साराटोगा में आत्म-समर्पण कर दिया। अब फ्रास उपनिवेशो की ओर से युद्ध मे कूद पड़ा। स्पेन तथा हालैंड ने भी फ्रास का अनुसरण किया। १७८१ ई० में अगरेजी सेना ने लार्ड कार्नवालिस के नेतृत्व में यार्क टाउन मे द्वितीय बार आत्म-समर्पण किया। अब युद्ध समाप्ति के निकट आ गया। १७८३ ई० में वर्सेल्स की सन्धि के द्वारा युद्ध का अन्त हो गया।

इगलैंड ने अमेरिकी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। इस तरह सयुक्त राज्य अमेरिका की नीव खड़ी हुई, किन्तु १७८३ ई० में उपनिवेशो की स्थिति दुर्बल थी और उनके सामने अनेक समस्यायें उपस्थित हो गई थी। इन समस्याओ का समाधान करने के लिये सभी उपनिवेशो के प्रतिनिधि १७८७ ई० मे फिलाडेल्फिया में एकत्र हुए। वाशिगटन के सभापतित्व मे कार्यारम्भ हुआ। दो वर्षों मे एक सघ विधान का निर्माण हुआ। इसमे केन्द्रीय और स्थानीय सरकारो के मध्य शक्ति का विभाजन किया गया। केन्द्रीय विधान मे तीन प्रधान अग थे—प्रेसिडेण्ट, जो शासन का सर्वोच्च अधिकारी था, काग्रेस, जो दो भवनो मे स्थित कानून निर्मात्री सभा थी और सघीय न्यायालय। सर्वप्रथम जार्ज वाशिंगटन ने प्रेसिडेण्ट के पद को गौरवान्वित किया। स्थानीय सरकार भी केन्द्रीय सरकार के समान ही सगठित थी और अपने अधिकारो की रक्षा के लिए इसे अधिकार प्राप्त था।

चित्र ६—जार्ज वाशिंगटन

अमेरिकी सग्राम में अंग्रेजो की विफलता के कारण

अमेरिकन सग्राम मे अगरेजो को कई असुविधाएँ थी। प्रारम्भ मे उन्हे कई सुविधाएँ दीख पड़ती थी और कोई भी ब्रिटेन की हार के विषय मे नहीं सोच सकता था। उपनिवेश ब्रिटेन के सामने तुच्छ मालूम पड़ते थे। उनके पास जल सेना का अभाव था। उनके आय के साधन मामूली और सीमित थे। बहुत से उपनिवेश-वासी या तो ब्रिटेन के प्रति राजभक्ति रखते थे या घटनाओं के प्रति अन्यमनस्क। औपनिवेशिक सैनिक अपने घर से दूर नही जाना चाहते थे। वे अस्थायी समय के लिये ही भर्ती होते थे और सकट के समय भी युद्धक्षेत्र से चले जा सकते थे। वे किसी के अधीन और खासकर दूसरे उपनिवेश के सेनापति के अधीन रहना नही चाहते थे। सेना को सामान देने वाले ठीकेदार झूठे तथा बेईमान होते थे और सेनापतियो की व्यवस्था करने वाली काग्रेस स्वय अयोग्य तथा बकवादी थी। इन सभी असुविधाओ के बावजूद भी उपनिवेशो की ही सफलता हुई और अगरेजों की पराजय हो गई। इसके कई कारण थे—

१. दूरी तथा जगल—ब्रिटेन को अपने घर से ३००० मील की दूरी पर अमेरिका से लडना पड़ता था। अमेरिका के अन्दर ही १००० मील जगल फैला हुआ था। अत. एक जगह से दूसरी जगह आवश्यकता के समय युद्ध की सामग्रियाँ तथा सूचनाएँ भेजने मे बड़ी कठिनाई होती थी और वे नहीं पहुँच सकती थीं।

२ जातीय समानता—अमेरिका मे ऐंग्लो सैक्शन जाति की ही दो प्रधान शाखाओं के बीच युद्ध हो रहा था। दूसरे शब्दो मे यह युद्ध माँ और उसकी युवती पुत्रियों के बीच था। माँ ने अपनी लड़कियो को आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रो मे पहले ही बहुत कुछ स्वतन्त्रता दे रखी थी। इस प्रकार अमेरिकन अगरेज थे और अगरेज होने के कारण ही उन्होंने अगरेजी इतिहास के आधार पर ही अपनी स्वतन्त्रता कायम की। किसी दूसरी जाति के उपनिवेश-वासी के लिए ऐसा कर सकना शायद सम्भव न होता।

३. उपनिवेश-वासियो की एकता—उपनिवेश-वासी अपने घर मे और घर के निकट लड़ रहे थे, अपने घरबार तथा जीवन की सुरक्षा के लिए लड़ रहे थे। वे ब्रिटेन के अन्याय तथा अत्याचार का विरोध कर रहे थे। अत उनमे नैतिक शक्ति का विशेष रूप से सचार हुआ था। घर के निकट होने के कारण कहीं और कभी भी सहायता पहुँचाना उनके लिए आसान था। वे सभी मार्गों तथा स्थानीय स्थितियों से पूर्ण परिचित थे।

४. उपनिवेशो की शक्ति की उपेक्षा तथा समझौता के लिए प्रयत्न—ब्रिटेन ने उपनिवेशो की शक्ति की उपेक्षा की। वह उन्हे तुच्छ दृष्टि से देखता था और अपनी शक्ति मे बहुत अधिक विश्वास करता था। एक युद्ध-कुशल कर्मचारी ने तो यहाँ तक कहा था कि अमेरिका-विजय के लिए चार रेजिमेंट ही पर्याप्त हैं। अत. उसने अपनी पूरी तैयारी नहीं की और उपनिवेशो की शक्ति का ठीक अनुमान नहीं कर सका। साथ ही वह बराबर समझौता कर लेने की आशा भी करता रहा। साराटोगा के प्रथम आत्म-समर्पण तक यही हालत रही। ब्रिटेन भूल गया था कि 'शान्ति के सिद्धान्तों पर युद्ध करना असम्भव होता है।' यदि सेनाध्यक्ष योग्य थे तो सैनिकों तथा सामानों के अभाव से उन्हें बहुत सी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता था। उनकी सेना मे भाड़े के बहुत से सैनिक शामिल थे। जिनमें देशभक्त सैनिको का उत्साह नहीं पाया जाता था।

५. जार्ज तृतीय और लार्ड नॉर्थ की अयोग्यता—जार्ज तृतीय और उसके मत्री लार्ड नॉर्थ ब्रिटेन की हार के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी थे। दोनों ही अयोग्य व्यक्ति थे। किसी देश के शासन का प्रधान उद्देश्य वहाँ की जनता का हित होना चाहिए और उस शासन की स्थिरता इसी पर निर्भर करती है कि जनता का उसमे किस हद तक विश्वास है। जार्ज की सरकार इस उद्देश्य से बहुत दूर थी। यह ब्रिटेन के व्यापार तथा उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए उपनिवेशों का शोषण करना चाहती थी। यह नीति मूर्खतापूर्ण

और असामयिक थी। ऐसी नीति से शासित वर्ग की सहानुभूति नहीं प्राप्त हो सकती थी। इसके सिवा दोनो मे ही स्थिति की गम्भीरता और दूसरो की योग्यता परखने की शक्ति नही थी।

ब्रिटिश सरकार उचित समय मे योग्य सेनाध्यक्षो की नियुक्ति नहीं कर सकती थी। इस बार बडे पिट जैसा अगरेजी सेना का कोई नायक नहीं था। लाड जार्ज सैकविल युद्ध-सचिव था जो सर्वथा अयोग्य था। बड़े पिट की तुलना मे उसकी कोई गणना ही नही थी। उसने एक बार तो मिन्डेन पर चढाई करने से मुँह ही मोड लिया था। सर विलियम हो एक सेनापति था जो साधारण शक्ति और सुस्त प्रकृति का था। कई बार सुअवसर उसके हाथ से निकल गया। यौर्क और फिलाडेल्फिया मे उसने अपना बहुत समय व्यर्थ ही नष्ट कर दिया था। ब्रूकलिग युद्ध की सफलता से उसने कोई विशेष लाभ नही उठाया। वैसे ही साराटोगा के बाद वाशिगटन बडी कठिनाई मे पड गया था, बीमारी होने के कारण उसके बहुत से सैनिक मर गये और बहुत से क्षेत्र छोड़ कर भाग गए। इस समय भी उसने लापरवाही दिखलाई। दोनो मौको पर जाडा का मौसम रहने के कारण वह आलसी बना रहा। इसके स्थान पर यदि कोई दूसरा योग्य सेनापति होता तो ऐसी अनुकूल परिस्थितियो से अवश्य लाभ उठाता।

यह भी ठीक है कि अमेरिका मे ऐसे भी लोग थे जा ब्रिटेन के प्रति राजभक्त थे। किन्तु वे अनुभवी नही थे, उनकी बुद्धि परिपक्व नहीं थी। उन्हे पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता थी। गवर्नर उनका नेतृत्व कर उनकी शक्ति को सगठित कर सकता था, किन्तु गवर्नरो मे एसी क्षमता नही थी, वे तो स्वय अयोग्य थे।

उपनिवेश-वासियो को जार्ज वाशिगटन जैसा सुयोग्य नायक प्राप्त था। वह सैन्य व्यवस्था मे कुशल, धैर्यशील तथा साहसी था। उसमे सगठन की अद्भुत शक्ति थी, वह युद्ध मे कठिन तथा सकटापन्न मौके पर भी सुदृढ़ रहने वाला व्यक्ति था। अब तक उसे पर्याप्त अनुभव भी प्राप्त हो चुका था। वह सप्तवर्षीय युद्ध के समय वर्जीनियाँ की सेना मे एडजुटेन्ट के पद पर नियुक्त था और फ्रासीसियों तथा आदिम वासियो के खिलाफ लडने में अपनी बहादुरी का परिचय दे चुका था। १७५४ ई० मे ब्रेन्डक के युद्ध मे भी उसने अदम्य उत्साह दिखलाया था।

६. **आपसी मतभेद**—जार्ज तृतीय ने विजय प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति भर कोशिश की परन्तु उसे सारे राष्ट्र का पूर्ण सहयोग प्राप्त न हो सका। जिस तरह रानी एन के राज्यकाल मे टोरी फ्रास के साथ युद्ध के विरोध मे थे वैसे ही जार्ज तृतीय के राज्यकाल मे ह्विग अमेरिका के साथ युद्ध के विरोध मे थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों के बीच अमेरिकन नीति के सम्बन्ध मे मतभेद था। राजा तथा ग्रेनविल उपनिवेशो पर

ब्रिटेन के द्वारा टैक्स लगाए जाने के अधिकार को उचित और वैध समझते थे। पिट के विचारानुसार ब्रिटिश पार्लियामेंट को उपनिवेशो पर कर लगाने का कोई अधिकार नहीं था और उसने अमेरिकनो को इसका विरोध करने के लिए उत्साहित किया। उसकी सम्मति मे गुलामी स्वीकार कर लेने पर ही उपनिवेशवासी इसका विरोध नहीं करते। एडमड बर्क जैसे महान् विचारक का सिद्धान्त कुछ दूसरा ही था। वह इसकी वैधता सम्बन्धी वाद-विवाद मे पडना नही चाहता था। उसके विचार से ब्रिटेन की यह चेष्टा असामयिक और अनुचित थी। वह उपनिवेशो के साथ समझौता कर लेने के पक्ष मे था। कॉमन्स सभा मे बर्क का एक कथन यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा —

"अमेरिका के विरोध से मै खुश हूँ। अन्याय तथा अत्याचार के कारण अमेरिकन पागल हो गए हैं। क्या आप लोग इस पागलपन के लिए उन्हे सजा देंगे जिसका बीजा-रोपण आप ही लोगो ने किया है?"

इस प्रकार अधिकतर देशवासी भी युद्ध को अनुचित तथा अन्यायपूर्ण समझने लगे थे। सेना मे भरती होने के लिए लोगो मे उत्साह का अभाव दिखाई पडता था।

७. ब्रिटिश-शक्ति का विभाजन—इस तरह ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के बीच मतभेद तो था ही, ब्रिटिश सरकार की शक्ति तथा ध्यान भी विभाजित थे। घरेलू झझटो के कारण बाहर भी कई समस्याएँ उत्पन्न हो गई। हिन्दुस्तान मे फ्रासीसी तथा मराठो की सहायता पाकर मैसूर का हैदर अली अँग्रेजो के विरुद्ध विद्रोह करने की तैयारी कर रहा था। आयरिश भी अँग्रेजो को अपने देश से भगाने के लिए बराबर ही सुअवसर की ताक मे रहते थे।

यूरोप का बर्ताव ब्रिटेन के साथ अच्छा नही था। फ्रास के सिवा स्पेन तथा हालैण्ड भी उसके दुश्मन थे। फ्रास तथा स्पेन के सम्मिलित आक्रमण का ब्रिटेन को भय था। अतः वह अपनी सीमाओ की रक्षा करने के लिए भी चिन्तित था। यूरोप के दूसरे राज्यो की सहानुभूति भी उसे प्राप्त न थी।

८. मित्रो का अभाव—सप्तवर्षीय युद्ध मे विजय के फलस्वरूप ब्रिटेन की औपनिवेशिक, सामुद्रिक तथा व्यापारिक शक्ति सुदृढ़ हो गई तथा वह विश्व मे सबसे बड़ा और शक्तिशाली राज्य बन गया। इस कारण दूसरे राज्य उससे ईर्ष्या और द्वेष करने लगे। अतः अमेरिकन सग्राम के समय किसी दूसरे राज्य ने उसका साथ नही दिया।

९. फ्रांस के द्वारा उपनिवेशो की सहायता—उपनिवेशो की सफलता के लिए फ्रासीसियों को भी श्रेय है। ब्रिटेन प्रधानतः सामुद्रिक शक्ति था और जल-सेना पर ही उसकी सफलता निर्भर करती थी। उपनिवेशो के पास जहाजो और जल-सेना का अभाव था। लेकिन फ्रास ने इस अभाव की पूर्ति कर दी। कुछ समय के लिए फ्रासीसियो ने

अँग्रेजो के सामुद्रिक आधिपत्य का अन्त कर दिया था। सप्तवर्षीय युद्ध के बाद से अँग्रेजो के जगी बेड़ो मे कमी हो गई थी। जो थे वे भी चारो ओर तितर-बितर और दूरवर्त्ती भू-भागो पर अधिकार जमाए हुए थे। अतः वे शत्रुओं के बन्दरगाहो को घेरा मे रखने के लिए असमर्थ थे। लेकिन फ्रासीसी जगी बेड़ो मे वृद्धि हो गई थी। अब दोनो के बेड़ो की सख्या लगभग बराबर हो गई थी। शिक्षण की दृष्टि से भी दोनो की जल-सेना मे विशेष अन्तर नही रह गया था। फ्रासीसियों की पुरानी युद्ध-रीति बदल गई थी। उनकी नयी युद्ध-प्रणाली यद्यपि भयानक थी फिर भी बड़ी सफल साबित हुई। फ्रासीसियो की सामुद्रिक शक्ति के ही कारण वर्जीनियाँ के यार्कटाउन बन्दरगाह मे आत्म-समर्पण करने के लिए कार्नवालिस को बाध्य होना पड़ा था।

१०. एक नवीन और विकट समस्या—ग्रेट ब्रिटेन के सामने एक बिल्कुल नई समस्या ही उपस्थित हो गई थी—किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण किए बिना ही अनेक स्वतन्त्र जातियों को एक साथ रहने के लिए बाध्य करना। ब्रिटेन इस समस्या को हल करने मे समर्थ न हो सका। वास्तव मे 'सिर्फ चाय पर तीन पेंस कर लगाने से ही अमेरिका ब्रिटेन से अलग नही हो गया, बल्कि इसका कारण था—उस युग की परम्परा तथा पृष्ठ-भूमि मे स्वतन्त्रता और एकता के सामञ्जस्य करने मे ब्रिटेन की अशक्यता।'[1]

अमेरिकी सग्राम के परिणाम

१ ग्रेट ब्रिटेन पर प्रभाव—(क) पुराने तिजारती साम्राज्य का अन्त—ग्रेट ब्रिटेन को इस युद्ध से लाभ और क्षति दोनो ही हुए। एलिजाबेथ के समय स्पेनिश आर्मडा की पराजय के बाद प्रथम अँग्रेजी साम्राज्य स्थापित किया गया। यह तिजारती साम्राज्य था जो व्यापारिक प्रतियोगिता, शोषण तथा युद्ध की नीति पर आधारित था। अब इस साम्राज्य का अन्त हो गया।

(ख) द्वितीय साम्राज्य का जन्म—एक नए साम्राज्य का जन्म हुआ जिसे द्वितीय अँग्रेजी साम्राज्य कहते हैं। यह आजादी की नीव पर स्थित था, न कि गुलामी पर। अमेरिका के स्वातन्त्र्य सग्राम की अन्यत्र पुनरावृत्ति न हो, इसलिए ब्रिटेन को अपना रुख बदलना पड़ा। एक लेखक ने कहा था कि 'उपनिवेश उन फलो के समान हैं, जो जब तक पकते नहीं तभी तक वृक्ष मे लगे रहते हैं।' अब ब्रिटेन को इस कथन की सत्यता मे पूरा विश्वास हो गया। उसे यह भी समझ मे आ गया कि राष्ट्रीय चेतना का विकास सभी उपनिवेशो में कभी न कभी अवश्य ही होगा।

(ग) जार्ज तृतीय के व्यक्तिगत शासन का अन्त—जार्ज तृतीय के व्यक्तिगत

---

[1] रैम्जे मूर—ब्रिटिश हिस्ट्री, पृष्ठ ४१०

शासन का अन्त हो गया। उसके मन्त्री लार्ड नॉर्थ को पदत्याग करना पड़ा, क्योंकि अमेरिकन युद्ध में कुप्रबन्ध के कारण सर्वत्र उसकी निन्दा होने लगी और उसमें जनता का विश्वास नहीं रह गया। युद्ध असफलता का सारा दोष भी उसी पर मढ़ा गया था।

(घ) कैबिनेट की प्रगति—जार्ज तृतीय के पूर्व इंगलैण्ड में वैधानिक शासन प्रगति पर था। पर जार्ज तृतीय के समय उसका विश्वास अवरुद्ध हो गया। जार्ज ने अपने पूर्वजों के द्वारा खोए हुए अधिकारों को प्राप्त करने की चेष्टा की और उसे कुछ सफलता भी मिली थी। अमेरिका के निकल जाने पर पुन. स्थिति बदल गई। ह्विग राजकीय प्रभाव को कम करने के लिए प्रयत्नशील हो गए। वैधानिक सुधार के लिए जोरों से माँग होने लगी। राजा की शक्ति कम करने के लिए कॉमन्स सभा में १७८० ई० में एक प्रस्ताव पास हुआ। आर्थिक तथा पार्लियामेंटरी दोनों प्रकार के सुधारों के लिए आन्दोलन होने लगा। अब पुन. कैबिनेट की प्रगति प्रारम्भ हुई और छोटे पिट के लिए रास्ता सुगम हो गया जिसने प्रधान मन्त्री की प्रमुखता स्थापित कर कैबिनेट प्रणाली को सुदृढ बना दिया।

(ङ) व्यापारिक अवनति—अमेरिकन उपनिवेशों के स्वतन्त्र हो जाने से ब्रिटेन के व्यापार तथा वाणिज्य में कमी हो गई।

(च) युद्ध से ब्रिटेन को शिक्षा—अमेरिकन युद्ध ने ब्रिटेन के लिए एक शिक्षालय का भी काम किया। ब्रिटेन ने इस युद्ध से बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण की और इससे भविष्य में लाभ उठाया।

अभी हम देख चुके हैं कि उपनिवेशों के प्रति उसकी नीति में किस तरह परिवर्तन हो गया। ब्रिटिश सरकार को यह अच्छी तरह मालूम हो गया कि युवती के साथ बच्ची की तरह व्यवहार नहीं होना चाहिए। जिस तरह माता अपने गृह की स्वामिनी होती है उसी तरह प्रौढ़ हो जाने पर लड़की को भी गृह-कार्य सौंप देना चाहिए और उसके साथ पूर्णतः समानता का व्यवहार होना चाहिए। इस तरह १९वीं और २०वीं सदी में ब्रिटेन में उपनिवेशों के प्रति उदार नीति अपनाई गई और स्वराज्य तथा पारस्परिक सहयोग के आधार पर द्वितीय तथा तृतीय साम्राज्य का निर्माण हुआ।

उसने दूसरी बात यह सीखी कि शान्ति तथा समझौता के सिद्धान्त पर युद्ध नहीं किया जा सकता। इस नीति से केन्द्रित शक्ति के साथ युद्ध-सचालन का कार्य नहीं हो पाता।

उसने तीसरी बात यह सीखी कि शत्रु कैसा भी हो, उसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। पूरी तैयारी के साथ ही उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। किन्तु ब्रिटेन इस शिक्षा को पूर्ण रूप से ग्रहण कर व्यवहार में न ला सका। अमेरिका के स्वातन्त्र्य युद्ध को समाप्त हुए अभी दस वर्ष भी नहीं बीते थे कि ब्रिटेन को एक दूसरे महायुद्ध में भाग लेने के लिए विवश होना पड़ा। यह महायुद्ध फ्रांस के साथ शुरू हुआ जो

२२ वर्षों तक चलता रहा। इसके प्रारम्भ मे ब्रिटेन ने कई ऐसी भूलें की जो अमेरिकन युद्ध के समय भी की गई थीं। उसके अफसर तथा सैनिक, सवार और पेदल, सभी अशिक्षित थे, छोकड़े तथा कुली-कबाडी, भुक्खड तथा घुमक्कड, सभी सेना मे भर्ती कर युद्ध के मोर्चे पर भेज दिए जाते थे। ऐसे कितने सैनिक थे जिन्होने कभी गोली भी नहीं चलाई थी। अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद आदि सामानो की बड़ी कमी थी। न तो कोई सवारी का उचित प्रबन्ध था और न घायल सैनिकों की सेवा-सुश्रुषा के लिए ही। इन भूलो के दुहराने का परिणाम भी बुरा ही हुआ। कई जगहो मे अँग्रेजो को पराजित होना पडा था।

२ **अमेरिका पर प्रभाव**—ऐंग्लो सैक्सन जाति की दो शाखाएँ अलग-अलग हो गई, अमेरिका स्वतन्त्र हो गया और सयुक्त राज्य का जन्म हुआ। अमेरिका अब अपनी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करने लगा और अब यह विश्व मे सर्वाधिक धनी और शक्तिशाली राज्य बन गया है। किन्तु वहाँ राजभक्त अमेरिकनो की स्थिति बुरी रही जिससे वे कनाडा मे भागने लगे।

३. **कनाडा और आस्ट्रेलिया पर प्रभाव**—अमेरिका के खो जाने से ब्रिटिश सरकार के सामने राजभक्त और कैदी सम्बन्धी दो समस्यायें उत्पन्न हुईं। लड़ाई के समय बहुत से उपनिवेश-वासी ब्रिटेन के प्रति राजभक्त बन रहे थे। अब उनका सयुक्त राज्य मे रहना कठिन होने लगा। उपनिवेश वासी उनसे बदला लेने लगे। अतः वे कनाडा आने लगे। उन्हे 'सयुक्त साम्राज्य के राजभक्त' कहते हैं। वे कनाडा मे बस गए और अपनी उन्नति करने लगे। लेकिन फ्रासीसियो के साथ जातीय और धार्मिक भेद होने के कारण इनकी नही पटती थी। इसी के बदौलत आगे चलकर कनाडा मे 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की नीव पडी।

कनाडा की भाँति आस्ट्रेलिया भी प्रभावित हुआ। ब्रिटेन से बहुत से कैदी अमेरिका के उपनिवेशो मे निर्वासित कर दिए जाते थे। इस तरह वहाँ करीब ½ लाख बृटिश कैदी एकत्रित थे। इन कैदियो को आस्ट्रेलिया मे भेज दिया गया और उसकी आबादी का बीजारोपण हुआ।

४. **आयरलैंड पर प्रभाव**—ब्रिटिश-सत्ता को कमजोर करने के लिए आयरलैंड भी कोशिश करने लगा। फिलाडेलफिया काग्रेस की नकल मे आयरिशों ने भी 'डूनगेनन' मे एक कन्वेंशन बुलाई और अपनी शिकायतों को दूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार से माँग पेश की। वे व्यापारिक प्रतिबन्धो का अन्त और स्वतन्त्र आयरिश पार्लियामेंट की स्थापना करना चाहते थे। १७८२ ई० में आयरिशों को व्यापारिक स्वतन्त्रता मिल गई और उन्हे स्वतन्त्र पार्लियामेट निर्मित करने के लिए अनुमति दे दी गई। इस प्रकार अमेरिका के

उदाहरण से आयरलैंड बहुत ही अधिक प्रभावित हुआ। 'सयुक्त राज्या की स्वतन्त्रता के बाद अमेरिकन युद्ध का यह बडा ही महत्त्वपूर्ण परिणाम था। यह मालूम होता था कि अब केवल अगरेजी साम्राज्य ही नही, ब्रिटिश द्वीप-पुज भी कई हिस्सो मे विभक्त हो जायगा।'[१]

५. फ्रांस पर प्रभाव—*(क) आर्थिक सकट*—अमेरिकन क्रान्ति ने फ्रासीसी क्रान्ति को अनिवार्य बना दिया। यह एक तरह से फ्रासीसी क्रान्ति की भूमिका थी। यो तो मालूम होता था कि अमेरिकन क्रान्ति मे भाग लेने से फ्रास की प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुई है, लेकिन वास्तव मे फ्रास को लाभ के बदले विशेष क्षति ही हुई। फ्रास का आर्थिक सकट बढ गया और यहीं से क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ। *(ख) प्रजातन्त्रात्मक विचारो का प्रचार*—दूसरे प्रकार से भी अमेरिकन क्रान्ति का फ्रास पर प्रभाव पड़ा। बहुत से फ्रासीसी सैनिकों ने अमेरिकन युद्ध मे भाग लिया और उन्होने अपनी आँखो से यह देखा कि फ्रास के दार्शनिकों ने जिन सिद्धान्तो का प्रचार किया है उन्हे अमेरिकनो ने कार्य रूप मे परिणत किया है। ये सैनिक बड़ी आशा और उत्साह से अपने देश मे लौटे। उन्होंने फ्रास मे भी उन सिद्धान्तो को कार्य रूप मे लाने की कोशिश की। अतः क्रान्ति के विस्फोट होने मे अब देर न लगी।

अमेरिकी सग्राम की महत्ता

अप्रैल १७७५ ई० मे यह सग्राम शुरू हुआ और आठ वर्षों तक जारी रहा। लेकिन इसमें बहुत अधिक तथा कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण युद्ध नहीं हुए। इस सग्राम का सामरिक महत्त्व साधारण है। दोनो तरफ की सेनाएँ छोटी थी और सैनिक युद्धक्षेत्र मे तत्परता से काम नही कर रहे थे। दोनो पक्षो के नायकों मे भी स्फूर्ति तथा सक्रियता का अभाव था। इसका कारण यह था कि ब्रिटेन तथा अमेरिका दोनो देशों में कुछ ऐसे लोग थे जो युद्ध के विरोधी थे। ब्रिटेन मे ह्विग और अमेरिका मे दक्षिणी राज्यों के लोग युद्ध नही चाहते थे।

परन्तु राजनीतिक दृष्टि से अमेरिकी सग्राम बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक है। इगलैण्ड के स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध जनतन्त्र की यह महान् विजय थी। अगरेजों ने अपने देश मे १७वीं सदी मे प्रतिनिधि सत्तात्मक प्रथा को जन्म दिया था किन्तु १८वी शताब्दी मे उपनिवेश-वासियों ने उसे जनतन्त्रात्मक रूप प्रदान किया। सर्वप्रथम यहीं सर्वसाधारण को मताधिकार प्राप्त हुआ था। सयुक्त राज्य अमेरिका प्रथम राज्य था जिसने सर्वप्रथम वशक्रमानुगत निरंकुशता का अन्त कर आधुनिक ढग के प्रजातन्त्र की स्थापना की। दूसरे, इसने अन्य देशों के लिये एक बहुत बड़ा आदर्श उपस्थित किया। इससे निरंकुशता तथा साम्राज्यवाद की चक्कियों मे पिसी जानेवाली जातियों के लिए एक सहारा मिल

---

[१]रैम्जे मूर—ब्रिटिश हिस्ट्री, पृष्ठ ४२४

गया और उनमे नवीन आशा, स्फूर्ति तथा चेतना का सचार हुआ। इस प्रकार अमेरिकी सग्राम से आयरी स्वातन्त्र्य सग्राम और फ्रास की राज्य-क्रान्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला। फ्रासीसी क्रान्ति के प्रमुख सिद्धान्तो—स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्व का मूल अमेरिकी क्रान्ति मे ही निहित है। दक्षिणी अमेरिका मे स्थित स्पेन तथा पुर्त्तगाल के उपनिवेशो को भी अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए इससे पर्याप्त प्रेरणा मिली। तीसरे, सघात्मक शासन प्रणाली का प्रयोग एव विकास करने का स्वर्ण अवसर अमेरिका को ही प्राप्त हुआ। राष्ट्रीय तथा स्थानीय हितों की रक्षा के लिये यह सफल प्रयोग सिद्ध हुआ। चौथे, लिखित विधान का व्यवहार तथा धर्म और राज्य का विलगाव अमेरिका की ही विशेषताएँ रही हैं। पाँचवे, राजनीतिक समानता तो स्थापित हुई ही, सामाजिक समानता भी कायम हुई, किन्तु इस क्षेत्र मे सिद्धान्त और व्यवहार को नहीं भूलना होगा। वहाँ दास-प्रथा कई वर्षों तक प्रचलित रही और नीग्रो लोगो की समस्या अब भी नहीं सुलझ पाई है। छठे, इगलैण्ड मे कैबिनेट शासन-प्रणाली के विकास मे सहयोग प्राप्त हुआ और इसकी प्राचीन औपनिवेशिक नीति मे उदारवादिता का सचार हुआ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का अमेरिका (१७८३—१८६५)

अमेरिका स्वतन्त्र तो हुआ किन्तु उसके सामने अभी अनेक समस्याएँ थी। उनके समाधान तथा आन्तरिक सगठन के लिये उसे शान्ति तथा अवकाश की नितान्त आवश्यकता थी। अतः जार्ज वाशिङ्गटन तथा उसके निपुण उत्तराधिकारियों के शासन-काल मे नवोदित अमेरिकी राज्य का क्रमशः सगठन होता रहा और वैदेशिक मामलों मे इसने तटस्थता की नीति अपनाई। यद्यपि १७६३ ई० से १८१५ ई० तक का समय यूरोप के इतिहास मे युद्ध-काल था फिर भी अमेरिका ने उसमे कोई दिलचस्पी नहीं ली। किन्तु दुर्भाग्यवश उसे इगलैण्ड के ही साथ युद्ध करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस आँग्ल-अमेरिकी युद्ध का अन्त भी १८१४ ई० मे ही हो गया। अमेरिका वाले यूरोप के किसी राष्ट्र के द्वारा अपने देश मे हस्तक्षेप करने देना नहीं चाहते थे। अत. जब दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों ने स्पेन के खिलाफ विद्रोह का झण्डा खड़ा किया तो स्पेन ने यूरोपीय सघ के सहयोग से उन्हें दबाना चाहा था। किन्तु अमेरिका के तत्कालीन प्रेसिडेन्ट मुनरो ने तटस्थता की नीति को स्पष्ट किया और 'अमेरिका अमेरिकनो के लिए' वाले सिद्धान्त पर जोर दिया। उसने घोषणा कर दी कि अमेरिका निवासी अपने देश मे यूरोप के हस्तक्षेप को सहन नहीं करेंगे और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध तक करेंगे। यह घोषणा 'मुनरो सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। यह आत्मरक्षात्मक थी जिसका उद्देश्य था अपने स्वार्थों की रक्षा करना। इससे उद्देश्य की पूर्ति मे सफलता भी मिली। अमेरिका का आन्तरिक सगठन हो सका और वह पश्चिम मे प्रशान्त महासागर तक फैल गया तथा इस

भाग मे कई नवीन राज्य स्थापित हुए। दक्षिण मे भी फ्लोरिडा तक अमेरिका का प्रसार हो गया।

इस सीमा-प्रसार से देश की राजनीति बहुत प्रभावित हुई। नवीन राज्यो के भी प्रतिनिधि कांग्रेस मे आने लगे। पाश्चिमी भाग मे कृषको की प्रधानता थी। अत' अब उच्च श्रेणी के लोगो के स्थान पर मध्यम श्रेणी के लोगो की धाक जमने लगी। उच्च वर्ग से ही प्रेसिडेन्ट के निर्वाचन की परम्परा टूट गई और अन्य वर्ग से भी अब उसका चुनाव होने लगा। १८२६ ई० मे पश्चिमी भाग के टेनेसी राज्य का निवासी ऐंड्रू जैक्सन प्रेसिडेंट निर्वाचित हुआ।

गुलाम-प्रथा और गृहयुद्ध

इस बीच उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यो के बीच मतभेद बढने लगा था। उनके स्वार्थों मे बहुत बड़ा अन्तर था जिससे उनमे सघर्ष अनिवार्य हो गया। उत्तरी राज्यो की उन्नति व्यापार और उद्योग-धन्धो पर आधारित थी। वे विदेश के मालो पर अधिक चुगी लगाना चाहते थे और नित्य नए-नए बाजारो की खोज मे रहते थे। उनमे उदारवादिता•की भावना विशेष थी अतः उन्होने गुलाम-प्रथा का अन्त कर दिया और अन्य राज्यो मे भी वे इसे समाप्त कर देना चाहते थे। इस नीति के फलस्वरूप १९वां सदी के मध्य मे एक दल का उदय हुआ जो प्रजातन्त्री दल (रिपब्लिकन पार्टी) के नाम से विख्यात है। दूसरी ओर दक्षिणी राज्यो मे गुलाम-प्रथा अत्यावश्यक समझी जाती थी। वहाँ उच्च वर्ग वालो की प्रधानता थी। वे गुलामो के द्वारा खेती का कार्य करते थे और उन्नति का यही मूल था। गुलाम-प्रथा को कायम रखने और इसके प्रचार मे ही उनका हित था। दूसरे, वे चुगी की दर भी बढ़ाने के विरोधी थे क्योकि इससे वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि हो जाती थी। इस तरह उत्तर तथा दक्षिण में ईर्ष्या-द्वेष की भावना बढ़ती जा रही थी। इसी स्थिति मे १८६० ई० अब्राहम लिकन प्रेसिडेंट निर्वाचित हुआ जो प्रजातन्त्री दल का सदस्य था। अब परिस्थिति गभीर हो उठी। दूसरे ही साल दक्षिण के कुछ राज्यो ने सघ से अलग हो जाने की घोषणा कर दी और एक नये प्रेसिडेंट का चुनाव कर लिया। लिंकन ने इसका घोर विरोध किया और यह घोषणा कर दी कि अमेरिकी सघ अविभाज्य है और दक्षिणी राज्यों की नीति विधान के विरुद्ध है। बस, अब क्या था उत्तर और दक्षिण मे युद्ध छिड़ गया जो चार वर्षों तक (१८६१-६५ ई०) चलता रहा। इसमे इगलैंड के मजदूर वर्ग ने उत्तरी राज्यों के साथ और उच्च वर्ग ने दक्षिणी राज्यों के साथ अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की थी। ४ वर्षों के अन्दर कई युद्ध हुए और धन-जन की अपार क्षति हुई। किन्तु अत में उत्तरी राज्यों को ही विजयश्री मिली। गुलाम-प्रथा समाप्त हो गई और संघ की एकता भी कायम रह गई। इस महत्त्वपूर्ण परिणाम का श्रेय प्रेसिडेंट लिंकन को ही प्राप्त है।

अध्याय २७

क्रान्ति का विस्फोट—फ्रांस की राज्य-क्रान्ति

भूमिका

अमेरिका के स्वातन्त्र्य सग्राम ने यूरोप मे एक दूसरी महान् राज्य-क्राति के लिये मार्ग प्रशस्त किया। १८वी सदी मे यूरोप में स्वच्छन्द राजतत्र का प्राबल्य था जिसका वर्णन हम कर चुके हैं। अब वह विकास के उच्चासन पर पहुँच चुका था। सर्वत्र निरकुश वशानुगत राजाओ की तूती बोल रही थी। वे राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति मात्र समझते थे और मनमाने ढग से इनका बँटवारा करते थे। शासक शोषक हो गए थे। शोषित, शासित वर्ग की कोई पूछ नही थी। पर दुनिया बहुत आगे बढ चुकी थी। स्वत्व को समझने का ज्ञान सब मे उदय हो गया था। मानव विकास की उस सीमा तक पहुँच चुका था जहाँ वह अपने-पराये के विषय मे सोच सके, न्याय और अत्याचार का विभाजन कर सके। सत्ताधिकारियो की बेडी मे जकड़ी हुई मूक जनता मे अब उन्मुक्त चिन्तन की धारा प्रवाहित होने लगी थी। पराधीनता की बेडियो मे अब जग लग रहा था। सत्ताधिकारी सत्ता के मद में अभी बेहोश पडे थे। अमेरिका की क्रान्ति तो इस जागरण-युग की पृष्ठभूमि मात्र थी। स्वतत्रता की गन्ध यूरोपीय जनता को भी लग चुकी थी। पराधीनता की जग लगी हुई लौह-शृखलाओ को झनझना कर तोड देने की तैयारियाँ सर्वत्र हो रही थी। समस्त यूरोप की यही स्थिति थी। वास्तव मे यूरोप उस ज्वालामुखी के सदृश था जिसका विस्फोट होना ही चाहता था। सर्व-प्रथम फ्रास मे उसका प्रलयकर विस्फोट हुआ। १७८९ ई० में वहाँ उस महान् राज्य-क्राति का सूत्रपात हुआ जिसने अगले दिनो मे समस्त विश्व को प्रकपित और प्रभावित किया। कुछ काल तक फ्रास सारी दुनिया का आकर्षण-केन्द्र बना था। आधुनिक युग की आधारभूत प्रवृत्तियाँ-राष्ट्रीयता और जनतन्त्र का प्रादुर्भाव यही से हुआ।

राज्य-क्राति के कारण

१. **राजनीतिक**—फ्रास मे एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी और निरकुश शासन स्थापित था। राजा वश-क्रमानुगत होते थे और वे दैवी अधिकारों के सिद्धान्त के समर्थक थे। उनके ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था। सर्वत्र उनकी तूती बोल रही थी। शासन में

उदारता का लेशमात्र भी समावेश न था। लूई चतुर्दश ने तो यहाँ तक कह डाला था कि 'मैं ही राज्य (स्टेट) हूँ।' उसके समय में कोई भी चूँ तक करने का साहस नहीं कर सकता था। उसके इशारे पर क्षण भर में किसी का उत्थान या पतन हो सकता था। राजा ही अपने मन्त्रियों की नियुक्ति करता था और मंत्री उसके एजेंट मात्र होते थे। राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना क्या था, मानो अपनी रोजी और अपने प्राणों से भी हाथ धोना था। किसी पर लेशमात्र भी सन्देह होने पर उसे जेल के शिकंजों में बन्द किया जा सकता था। राजा मुद्रित पत्र जारी करता था जिसमें नाम और सजा के स्थान खाली रहते थे। उसके कृपापात्र इन मुद्रित पत्रों का उपयोग करते थे और किसी को पकड़ कर रिक्त स्थानों को भर दिया करते थे। इस तरह सर्वसाधारण का जीवन सदा ही संकटापन्न रहता था।

राजा महत्त्वाकांक्षी होते थे अतः नाम और प्रतिष्ठा के लिये वे अनेक युद्धों में भाग लिया करते थे और युद्ध का अर्थ होता है असीम खर्च तथा करों में वृद्धि। फ्रांस में स्वायत्त शासन का कहीं नाम भी नहीं था, निर्वाचन जैसी कोई चीज नहीं थी। लोक प्रतिनिधि संस्था—स्टेट्स जेनरल—की उपेक्षा होती थी और १७५ वर्षों से इसकी बैठक नहीं बुलाई गई थी। कितने लोग तो यह भी भूल गये थे कि यह संस्था किस लिये थी और किस प्रकार कार्य करती थी। राज्य की सम्पूर्ण आय पर राजा का एकमात्र अधिकार था। उसके निजी और सार्वजनिक खर्च में कोई अन्तर नहीं था। अतः वह अपनी अभिलाषाओं को पूरा करने में राजकीय साधनों का दुरुपयोग करता था। वह अपने दरबारियों के साथ ऐश-आराम तथा भोग-विलास का जीवन व्यतीत करता था। राजमहल के निर्माण में ३० करोड़ रुपये खर्च हुए थे और रानी के ५०० से अधिक नौकर थे। दरबार में लगभग १५ हजार व्यक्ति रहते थे। यह था सार्वजनिक धन का अपव्यय! अतः आर्थिक संकट पैदा होना स्वाभाविक और अनिवार्य था।

७. सामाजिक—फ्रांस की सामाजिक रचना विषमताओं तथा असमानताओं पर आधारित थी। कुछ लोग अनेक अधिकारों के बोझ से लदे हुए थे और कुछ को एक भी अधिकार प्राप्त नहीं था। एक तरफ केवल अधिकार का पलड़ा था तो दूसरी ओर केवल कर्त्तव्य का। समाज में तीन वर्ग थे—पादरी, सामन्त और सर्वसाधारण। इनमें प्रथम दो वर्ग विशेषाधिकारों से युक्त थे और उच्च तथा सम्मानित समझे जाते थे। वे लक्ष्मी के प्रियपात्र थे किन्तु राज्य-करों से सर्वथा मुक्त थे। सभी ऊँचे सरकारी पद उनके लिये सुरक्षित थे। सामन्तों की बहुत बड़ी संख्या थी और वे दरबार के प्रमुख अंग थे। वे बहुत सी बड़ी-बड़ी जागीरों के स्वामी थे जो उनकी आय के मुख्य साधन थे। इसी आय के बल पर वे बड़े ठाट-बाट और तड़क-भड़क का जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु वे इतने अनुत्तरदायी थे कि जागीरों के निवासियों के हित के लिये उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं थी।

पादरी वर्ग भी दो श्रेणियो मे विभक्त था—उच्च और साधारण। उच्च पादरी और सामन्त मे कोई भेद नही था और उनकी स्थिति एक समान थी। उनकी आमदनी तो बहुत थी परन्तु कार्य बहुत थोडा था। साधारण पादरी ही वास्तविक कर्त्तव्य का पालन करते थे किन्तु वे उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे। ये निम्नवर्गीय पादरी तृतीय श्रेणी या सर्वसाधारण के समान थे और क्रान्ति के समय उन्होने तृतीय श्रेणी के लोगों का ही साथ दिया।

समाज मे सबसे अधिक संख्या तीसरी श्रेणी की ही थी। इसमे मध्यम श्रेणी के लोग, किसान और कारीगर सम्मिलित थे। यह वर्ग राज्य का स्तम्भ था फिर भी सबसे अधिक दलित और उपेक्षित था। इसे प्रथम दो वर्गो के लोगो के सुख तथा सन्तोष के लिये साधन और सामान जुटाने पडते थे। मध्यम वर्ग के पास योग्यता, विद्या तथा धन—सब कुछ था, किन्तु उन्हे कोई विशेषाधिकार नहीं था। राज्य के ऊँचे पदो पर वे नियुक्त नही हो सकते थे। किसानो की दशा तो बडी दयनीय थी। वे सेना मे बलात् भरती कर लिये जाते थे। करो के बोझ से तो वे ऐसे दब गए थे कि उनके लिये ऊपर उठना असम्भव-सा लगता था। उन्हे केन्द्रीय सरकार, सामन्त-वर्ग तथा पादरी-वर्ग को विभिन्न प्रकार के कर और बेगार देने पडते थे। अपना अन्न पिसवाने, अगूरो की शराब बनवाने तथा पशु वध करवाने के लिये वे सामन्तो की चक्की और कोल्हू का व्यवहार करने के लिये बाध्य थे। इसके लिए उन्हे भाड़ा देना पडता था। सामन्त किसानो से बहुत धन लगान के रूप मे वसूल करते थे, किन्तु राजकीय कोष मे नहीं या नाममात्र को ही जमा करते थे। किसानो के खेत मे सामन्तो के पशु क्षति पहुँचा सकते थे किन्तु किसान उन पशुओं को भगा नहीं सकते थे। सामन्तों के शिकार खेलने मे भी कृषि को हानि पहुँचती थी। इस लूट-खसोट के फलस्वरूप किसानों का जीवन कष्टमय बन गया था। उन्हे स्वप्न मे भी सुख-शान्ति का स्वाद नहीं मिलता था। कार्लाइल के मतानुसार अधिकतर किसान भूसी तथा चूनी खाकर ही अपना जीवनयापन करते थे। नगर के कारीगरो को भी कम वेतन मिलता था और उन्हें व्यापार संघ के नियमों का पालन करना पड़ता था। अत. उनका जीवन भी दुखमय ही था।

इस तरह निरकुश शासन तथा सामाजिक विषमता फ्रांसीसी राज्य-क्रांति के प्रधान कारण थे। परन्तु ये बातें तो यूरोप के अन्य देशो मे भी वर्तमान थी। इतना ही नहीं, तुलनात्मक दृष्टि से यूरोप के कितने देशों की जनता की अपेक्षा फ्रांस की जनता की दशा अच्छी थी। फिर भी १७८९ ई० मे फ्रांस मे ही राज्य-क्रान्ति की ज्वाला प्रज्ज्वलित हुई, अन्य देशो मे नहीं। यह प्रश्न विचारणीय है।

फ्रांस में ही सर्वप्रथम क्यों?

इगलैंड में तो क्रांति होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अंगरेज क्रान्तिकारी नहीं

बल्कि विकासवादी होते हे । वे हिंसात्मक तरीके से अचानक महान् परिवर्तन करना नहा चाहते । इसके अतिरिक्त उनके देश मे १७वीं सदी मे ही राजनीतिक समस्या हल की जा चुकी थी । १६८८—८६ ई० मे ही रक्तहीन क्रान्ति हुई थी जिसके परिणामस्वरूप लोक-प्रतिनिधि सभा की विजय हुई और नियमानुमोदित शासन स्थापित हुआ । आस्ट्रिया तथा प्रशा मे भी निरकुश शासन था किन्तु वह कुछ प्रबुद्ध था । शासक जनहित का भी ध्यान रखते थे । फ्रास मे कुछ ऐसी बातें थीं जिनका यूरोप के अन्य देशों म अभाव था ।

१. विषमता की पराकाष्ठा—फ्रास मे विषमता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी । लोगों मे राष्ट्रीयता का नाम तक नहीं था । कानून और करो मे किसी प्रकार की समानता नहीं थी । धनी और गरीब मे जमीन आसमान का भेद था । श्रेष्ठ पादरी तथा कुलीन लोग देश की अधिकाश भूमि के स्वामी थे किन्तु करो का भार उनपर नहीं के बराबर था । विभिन्न प्रान्तो मे कर-व्यवस्था विभिन्न थी । वसूली मनमाने ढग से की जाती थी । दो प्रकार के न्यायालय थे—सामन्ती तथा सरकारी । लगभग चार सौ प्रकार के कानून थे और एक ही प्रकार के अपराध के लिये विभिन्न प्रकार का दण्ड दिया जाता था । धनी वर्ग का कोई व्यक्ति कभी जेल नहीं जाता था । यदि दुर्भाग्यवश उसे कभी जेल जाना भी पडा तो वहा भी उसे सारी सुविधाएँ प्राप्त होती थीं । एक तरफ वे निर्धन थे जो ऍडी-चोटी का पसीना एक कर भी न भर पेट अन्न पाते थे और न तन ढकने को वस्त्र; दूसरी तरफ सगीत, सुरा और सौन्दर्य का नग्न नृत्य हो रहा था । ऐसे शासन और समाज से सर्वसाधारण को कब सन्तोष हो सकता था ?

२. मध्यम श्रेणी की उपस्थिति—फ्रास के समाज मे मध्यम श्रेणी के लोग थे जो शिक्षित, बुद्धिमान और धनी थे । उनमे योग्यता थी, उनके कर्तव्य थे, लेकिन उन्हे कोई अधिकार नहीं था । उन्होने ही सर्वप्रथम क्रान्ति का बिगुल बजाया और जनता का नेतृत्व किया, क्योकि उनमे जागृति थी और वे दर्शन से अधिक प्रभावित हुए थे । इतना ही नहीं, उनके पास पर्याप्त साधन भी थे । वे अपनी पूँजी को भी वाणिज्य-व्यवसाय मे लगाए हुए थे । अतः आर्थिक संकट से उनकी ही विशेष क्षति हो रही थी और अभी आगे होने की सम्भावना थी ।

३. दार्शनिकों एव विचारको का प्रादुर्भाव—फ्रास मे कुछ बड़े-बड़े दार्शनिक तथा विचारक उत्पन्न हुए । क्रान्ति के सामान तो पहले से मौजूद थे; लोग परिवर्त्तन चाहते थे किन्तु इसके लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव था, पथ-प्रदर्शक की कमी थी । दार्शनिकों तथा विचारकों ने सर्वसाधारण की आँखें खोल दीं; उनकी सुषुप्त भावनाओं को जाग्रत कर दिया । उन्होंने प्राचीन राज-व्यवस्था की कमजोरियों और बुराइयो की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित किया । उन्होने विचारो के क्षेत्र मे उथल-पुथल मचा कर क्रान्ति के लिए

समुचित पृष्ठभूमि तैयार की—उपयुक्त वातावरण उत्पन्न किया। अन्धविश्वास की जगह विज्ञान और तर्क की प्रधानता स्थापित हुई। इस सम्बन्ध में वाल्टेयर, मांटेस्क्यू और रूसो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वाल्टेयर ने राजतन्त्र की खिल्ली उड़ाई और राज्य तथा चर्च की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। मांटेस्क्यू ने इंगलैण्ड की शासन-प्रणाली की प्रशंसा की और वैधानिक राजतन्त्र का समर्थन किया। इन सब में रूसो के लेख अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए। उसने फ्रांस की क्रान्ति को वैसे ही प्रभावित किया जैसे आगे चलकर मार्क्स ने रूसी क्रान्ति को प्रभावित किया। सामाजिक इकरारनामा (सोशल कन्ट्रैक्ट) उसकी प्रसिद्ध रचना थी। उसने हर प्रकार की विषमता का विरोध किया। उसने लिखा था कि 'मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है किन्तु वह अपने को बन्धनों से जकड़ा हुआ पाता है।' उसने स्पष्ट कर दिया कि राज्यशक्ति का स्रोत जनता है, राजा नहीं और लोकमत (जेनरल विल) के ही आधार पर राज्य सरकारों का संगठन होना चाहिए। उसने क्रान्तिकारी विचारधारा को बहुत ही अधिक प्रभावित किया और यदि रूसो न होता तो क्रान्ति अभी विलम्ब से होती।

चित्र ७—रूसो

४. असामयिक सामन्त-प्रथा—फ्रांस में काश्तकारों की संख्या नगण्य थी, सामन्तों का रोब-दाब था; किन्तु सामन्त प्रथा फ्रांस में असामयिक बन गई थी क्योंकि इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी। सामन्त-प्रथा मध्यकाल की देन थी। उस समय की विषम परिस्थिति में सामन्त अपनी जागीरों में शान्ति स्थापित रखते थे और युद्धकाल में राजा की धन-जन से मदद करते थे। वे अपने कर्तव्यों का पालन और अधिकारों का उपभोग करते थे। यह उचित कहा जा सकता है। किन्तु १८वीं सदी में वे कर्तव्यच्युत हो गए थे फिर भी अपने विशेषाधिकारों का पूर्ववत उपभोग करते रहे। वर्षों और कभी-कभी जीवन पर्यन्त भी बेचारे असामियों को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता था कि वे अपने स्वामियों की सूरत तक देख सकें। जागीरों में गुमाश्ता ही मालिकों का प्रतिनिधित्व करते थे। यह तो सरासर अन्याय था। मध्यकाल में पादरी भी अनेक प्रकार से जनता की सेवा करते थे और चर्च शिक्षा तथा सेवा के केन्द्र थे। किन्तु अब पादरी भी कर्तव्य-च्युत हो गए थे, चर्च कुरीति तथा भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गए थे, लेकिन वे भी अपने विशेषाधिकारों को छोड़ना नहीं चाहते थे।

५. फ्रांसीसी जनता की चेतना—ऊपर कहा गया है कि यूरोप के अन्य देशों की

अपेक्षा फ्रासीसी जनता की दशा अच्छी थी। मध्य यूरोप तथा रूस मे सर्वसाधारण को इतना दबा दिया गया था कि वे अपनी गिरी हुई दशा को समझने मे असमर्थ थे। यदि कुछ समझते भी थे तो उसके विरुद्ध आवाज उठाने की शक्ति उनमे नहीं थी। किन्तु फ्रास की जनता मे सूझ-बूझ की शक्ति पर्याप्त थी। वहाँ के किसान समझते थे कि उच्च वर्ग के द्वारा उनका शोषण हो रहा है—उन्हीं के खून तथा पसीने के बल पर श्रेष्ठ पादरी तथा कुलीन लोग भोग-विलास की गोद मे सुख की नींद सोते हैं। वे जानते थे कि यह अत्याचार तथा अन्याय का नग्न नृत्य है—पशु-बल का प्रदर्शन है। अत वे इस स्थिति में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव करते थे। जब इसके लिए सुअवसर आया तो उन्होंने अपने नेताओं का बड़ी तत्परता से अनुसरण किया।

६ **राजतन्त्र की त्रुटियाँ**—फ्रास मे राजतन्त्र सबसे अधिक सफल था। लेकिन वशानुगत राजतन्त्र की सबसे बड़ी त्रुटि यह होती है कि सर्वदा योग्य राजा नहीं पाये जाते। निरकुश शासन भी जब निपुण रहता है और उसके अधीन देश की उन्नति होती रहती है तो प्रजा उसे सहन करती है। फ्रास मे १८वी शताब्दी मे यह बात नहीं रही। लूई १५वाँ और १६वाँ अयोग्य शासक थे। १५वाँ लूई (१७१५—७४) ई० राज्याभिषेक के समय ५ वर्ष का बच्चा था। दीर्घकाल तक मन्त्रियो के हाथ मे शासन की बागडोर रही किन्तु वे तो स्वार्थी और अनुत्तरदायी थे। अत उन्होंने राजा की नाबालिगी से अनुचित लाभ उठाया। जब वह बालिग हुआ तब भी मन्त्रियो की धाक बनी रही क्योंकि वह राज्य के कामों से मुख मोड़ता था और भोग-विलासमय जीवन पसन्द करता था। वह स्त्रियों के हाथ का खिलौना था और वे उसे जिधर चाहती, घुमा देती थीं। बेचारी प्रजा क्षुधा-पीड़ित थी, किन्तु वह युवतियो के साथ वासना-तृप्ति मे सहस्रो रुपये पानी की तरह बहा रहा था। क्रान्ति के समय १६वाँ लूई (१७७४—९३ ई०) शासक था। उसमे न योग्यता थी और न कार्य करने की क्षमता। वह अपनी पत्नी के हाथ का खिलौना था। अपनी रानी के इशारे पर वह नाचा करता था। अपनी पत्नी के ही बहकावे मे पड़कर उसने बल-प्रयोग कर जनशक्ति को कुचलने की विफल चेष्टा की। सचमुच वह अपने पति के गले में एक शिलाखण्ड के समान थी। उसका नाम मेरी आन्टोयनेट था और वह आस्ट्रिया की महारानी मेरिया थरेसा की पुत्री थी। वह सकीर्ण, अदूरदर्शी तथा अहकारी थी और अपने पति पर पूर्ण अधिकार रखती थी।

७. **अँग्रेजी तथा अमेरिकी क्रान्तियाँ**—फ्रास की क्रान्ति पर अँग्रेजी तथा अमेरिकी क्रान्तियो का भी व्यापक प्रभाव पड़ा। फ्रास इगलैण्ड के बहुत निकट है या यो कहा जाय कि दोनों पड़ोसी देश है। अत. इगलैण्ड की घटनाओ से उसका प्रभावित होना स्वाभाविक

है। १६८८—८६ ई० मे ही इगलेण्ड मे निरकुशता को तिलाजलि दे दी गई थी और कुछ फ्रासीसियो पर भी इसका प्रभाव अवश्य ही पड़ा था। फ्रासीसी सैनिको ने अमेरिकी क्रान्ति मे तो सक्रिय भाग लिया था और अपनी आँखो जन-विद्रोह तथा प्रजातन्त्र की सफलता को देखा था। उनका ही सहयोग तो उपनिवेशो की सफलता मे बहुत निर्णायक सिद्ध हुआ था। स्वदेश लौटने पर वे सैनिक यहाँ भी परिवर्तन के लिए उतावले होने लगे थे। लाफायत नाम का एक उच्चवर्गीय व्यक्ति तो अमेरिकी स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र की प्रतिलिपि भी अपने साथ लेता आया था। उनकी उपस्थिति से फ्रासीसी जनता के दिल मे दिन दूनी रात चौगुनी उत्साह की वृद्धि होने लगी थी।

८ **आर्थिक बुराइयाँ**—आर्थिक सकट क्रान्ति का तात्कालिक कारण सिद्ध हुआ। लूई चतुर्दश की युद्ध-नीति और अपव्यय के कारण राजकोष खाली हो चला था। उसके उत्तराधिकारियो ने भी मितव्ययिता की नीति नहीं अपनाई और न वे कोई सुधार ही कर सके। कर्ज बढ़ता गया, स्थिति गम्भीर होती गई। कर-व्यवस्था विषम तथा अन्यायपूर्ण थी। उच्च वर्ग के लोग कर-मुक्त थे। अमेरिकी क्रान्ति मे भाग लेने से आर्थिक स्थिति और भी बिगड गई। अर्थ-मन्त्रियो ने उच्च वर्गों पर कर लगा कर सुधार करने का प्रयत्न किया, किन्तु धनियो के घोर विरोध के कारण उनकी एक भी न चली और उन्हे अपने पदो से भी हाथ धोना पडा। यह प्रतिक्रियावाद की महान् विजय थी। अन्त मे आर्थिक समस्या को हल करने के लिए स्टेट्स जेनरल की बैठक बुलाई गई। मई १७८६ ई० मे यह घटना हुई। स्टेट्स जेनरल प्राचीन लोक प्रतिनिधि सस्था थी और इसके अधिवेशन के साथ ही राज्य-क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। इस घटना ने पुरानी राज-व्यवस्था की कमजोरियो का नग्न चित्र उपस्थित कर दिया।

स्टेट्स जेनरल का अधिवेशन

स्टेट्स जेनरल मे समाज के तीनो वर्गो के लोग भाग लेते थे—पादरी, सरदार और सर्वसाधारण। सदस्यो की कुल सख्या लगभग १२०० थी जिनमे आधी सख्या उच्च पादरी एव सरदार वर्ग की थी और आधी तृतीय श्रेणी (सर्वसाधारण) की। तीसरे वर्ग मे अनेक वकील तथा पत्र-प्रतिनिधि शामिल थे। उनके बीच मिराबु नाम का एक बडा ही योग्य व्यक्ति था। लेकिन मत प्रदान करने की प्रथा वर्तमान प्रणाली से बिल्कुल भिन्न थी। प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधि अलग-अलग भवन मे अधिवेशन करते थे और जिस बात को दो वर्ग स्वीकार कर लेते वह सब के लिए मान्य समझी जाती। इस तरह किसी भी प्रश्न पर तीसरे वर्ग वाले की सदा हार ही होती थी। अतः इस वर्ग ने एक ही भवन मे सब के बैठने और व्यक्तिगत मत के आधार पर बहुमत के द्वारा किसी प्रश्न के निर्णय

पर जोर दिया। प्रथम दो वर्ग वाले तथा राजा ने ऐसे प्रस्ताव को सीधे ठुकरा दिया। उन्हें क्या पता था कि जनमत की उपेक्षा का कितना भीषण परिणाम होता है। जनता के प्रतिनिधियो ने अपने को राष्ट्रीय सभा के रूप मे परिणत कर लिया। जब राजा ने राजभवन मे उनकी बैठक करने की अनुमति नही दी तो वे पास के एक टेनिस कोर्ट मे चले गए। वहाँ उन्होने शपथ ली कि हमलोग फ्रास के लिए एक विधान बिना बनाए पृथक् नही होगे। यही टेनिस कोर्ट की शपथ के नाम से विख्यात है। यह राजतन्त्र के लिए एक महान् चुनौती थी। २० जून, १७८९ ई० को यह घटना हुई।

बैस्टील का पतन

लोगो को भयभीत करने के उद्देश्य से राजा ने पेरिस मे सेना मँगवा ली। इस बीच वहाँ खाद्यान्नो की कमी होने से मँहगी बढती जाती थी। कडी सर्दी पड रही थी। लोग भूख से पीडित थे और उनके सामने जीवन-मरण का सवाल उपस्थित था। पेरिस मे एक बहुत बड़ा दुर्ग था जिसका जेल के रूप मे उपयोग किया जाता था। इसमे राजनीतिक कैदी रखे जाते थे। सर्वसाधारण की दृष्टि मे यह राजतन्त्र की स्वेच्छाचारिता तथा उनकी पराधीनता का प्रतीक था। अत. एक विशाल जनसमूह ने इस पर चढाई कर दी और इसका विध्वस कर डाला। इसके गवर्नर का सिर काट दिया गया। अब सभी कैदी मुक्त हो गए। यह घटना १४ जुलाई १७८९ ई० को हुई। यह जनशक्ति तथा स्वाधीनता के सिद्धान्त की अद्भुत विजय थी। तदुपरान्त हर्ष तथा उत्साह से देश का सारा वायुमडल गूँजने लगा था। जिस तरह अमेरिका के इतिहास मे ४ जुलाई १७७६ ई० महत्वपूर्ण है उसी तरह फ्रास के इतिहास मे १४ जुलाई १७८९ ई० गौरवपूर्ण है। किन्तु बैस्टील का पतन क्रान्ति की हिसात्मक गतिविधि का द्योतक तथा प्रथम अध्याय था।

जनता को अपनी शक्ति का परिचय मिल गया और अब उसकी बागडोर कौन रोक सकता था? उसने अपनी सरकार बनाई। नगर-शासन (कम्यून) स्थापित हुआ और शान्ति कायम रखने के लिए राष्ट्रीय रक्षक भर्ती किए जाने लगे। लाफायत राष्ट्रीय सेना का नायक था। लूई ने इन परिवर्तनो को मान्यता प्रदान की और राजकीय सेना को पेरिस से हटा लिया। परन्तु अभी .शान्ति कहाँ होने को थी? तीन महीने बाद पेरिस से वर्साई के लिए एक विशाल जुलूस चला। इसमे स्त्रियाँ ही अधिक थी। राजमहल पर हमला हुआ और सारी रात यह घेरे की स्थिति मे रहा। सवेरा होने पर राजा, उसकी स्त्री और उसके बच्चे कैद कर लिए गए और पेरिस लाए गए। रास्ते मे 'रोटी वाला, रोटी वाले की स्त्री और बच्चे हमारे बीच मे है और अब हमको खाना मिलेगा' ऐसा नारा लगाया जा रहा था। इस तरह राज-परिवार पेरिस पहुँचा

और उसे पुन वर्साई देखने का सौभाग्य न हुआ। अब क्रान्ति के क्षेत्र में पेरिस की जनता का प्रभाव बढ़ने लगा।

राष्ट्रीय सभा की कीर्तियाँ

अक्टूबर १७८६ ई० से सितम्बर १७६१ तक शासन-सूत्र राष्ट्रीय सभा के हाथ मे रहा और क्रान्ति के इतिहास मे ये दो वर्ष बड़े ही उज्ज्वल और सफल रहे। इस समय अनेक क्षेत्रों मे शान्तिपूर्ण ढग से महान् तथा प्रभावोत्पादक सुधार हुए। यदि बाद की अशुभ रक्तरजित घटनाएँ न होती तो दुनिया की कहानी मे फ्रासीसी क्रान्ति का एक सर्वोत्तम स्थान होता।

इगलैण्ड के अधिकार पत्र (१६८६ ई०) तथा अमेरिका के स्वातन्त्र्य-घोषणा-पत्र (१७७६ ई०) के आधार पर राष्ट्रीय सभा ने मनुष्य के आधारभूत अधिकारो की घोषणा की। यह घोषणा-पत्र रूसो के सिद्धान्तो से बहुत अधिक प्रभावित था। इसके अनुसार (क) सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं और उनके अधिकार भी समान हैं, (ख) लोकमत ही कानून है और कानून की दृष्टि मे सभी समान हैं, (ग) कानून की दृष्टि मे अभियुक्त नहीं होने पर उसे जेल नही दिया जा सकता, और (घ) मुद्रण, भाषण तथा धर्म के क्षेत्र मे सब का स्वतन्त्रता है।

इसका दूसरा मुख्य कार्य था विशेषाधिकारो का नाश करना। इसने सामन्त-प्रथा का अन्त कर दिया। सामन्तों की जागीरों को किसानो के बीच बॉट दिया गया और जमीन पर उनका अधिकार हो गया। करों की व्यवस्था मे समानता स्थापित हुई और सरकारी पदों पर, योग्यता के आधार पर नियुक्ति का सिद्धान्त मान लिया गया।

तीसरे, वाल्टेयर के सिद्धान्त के आधार पर चर्च मे सुधार लाया गया। चर्च की धन-जायदाद छीन ली गई, उसे राज्य का ही एक विभाग बना दिया गया और उसके अधिकारियों की सख्या घटा दी गई। वे भी जनता के द्वारा निर्वाचित होने लगे और राज्य की ही ओर से उन्हे जीविका मिलने लगी। उन्हें राजभक्ति की शपथ लेनी पड़ी। चर्च की ही सम्पत्ति के आधार पर कागज के नोट छपने लगे। इन सुधारो से कितने लोगों की धार्मिक भावना को बड़ी ठेस लगी और वे क्रान्ति के विरोधी बन गए।

चौथे, राष्ट्रीय सभा विधान परिषद भी थी। इसने देश के लिए एक विधान का निर्माण किया। हम पहले ही देख चुके हैं कि इसने मानव के मौलिक अधिकारो की घोषणा की थी और लोकमत को सर्वोपरि ठहराया था। नवीन विधान के अनुसार १६८६ ई० के अँग्रेजी शासन के समान वैधानिक राजतन्त्र स्थापित हुआ। राजा ही शासन तथा सेना का प्रधान रहा और अपने मन्त्रियो को वही नियुक्त कर सकता, किन्तु वह मनमाना नही कर सकता था। विधान मे बड़ी सभा के लिए कोई स्थान नहीं था। कानून बनाने

का सम्पूर्ण अधिकार एक ही धारा सभा—लेजिस्लेटिव एसेम्बली को दिया गया। स्थानीय शासन-प्रबन्ध का सङ्गठन किया गया। जनसख्या के आधार पर फ्रास को कई डिपार्टमेट मे विभाजित कर दिया गया। अनेक नवीन न्यायालय स्थापित किए गए और न्यायाधीशो की नियुक्ति भी निर्वाचन के द्वारा होने लगी। इस तरह कई अशो मे विधान उत्तम था किन्तु इसमे समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा की गई थी। धन के ही आधार पर मताधिकार प्रदान किया गया था।

दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ

राष्ट्रीय सभा के अन्त होने के पश्चात् धारा सभा तथा नेशनल कन्वेशन का समय आया। इन दोनो का जीवन काल लगभग ४ वर्ष था (अक्तूबर १७९१ ई० से १७९५ ई०)—धारा सभा का एक वर्ष और कन्वेशन के तीन वर्ष। इस काल मे भीषण रक्तपात हुआ, खून की होलियाँ खेली गई, पशुओ के समान मनुष्य की बलि चढाई गई। ये रक्तरजित दृश्य क्रान्ति के जीवन काल के काले धब्बे हैं जिनसे इतिहास के पृष्ठ कलुषित हुए बिना नहीं रहते।

अनेको सुधार तो हुए सही, किन्तु सभी राजभक्तो ने उनका समर्थन नहीं किया। वे फ्रास छोड कर विदेश भागने लगे थे और विदेशी सहायता से क्रान्ति को कुचलने के लिए प्रयत्नशील थे। क्रान्ति की हिसात्मक गतिविधि को देखकर यूरोप के सम्राट भी थर्रा उठे थे। सबसे अधिक भयभीत तो आस्ट्रिया का सम्राट ल्योपोल्ड द्वितीय था क्योकि लुई की पत्नी उसकी बहन थी। प्रशा आस्ट्रिया मित्र ही थे। १७९१ ई० के मध्य मे फ्रास के राजा और रानी ने एक बडी भूल की। उन्होने विदेश भागने का प्रयत्न किया किन्तु सफल नहीं हुए और स्थिति भी बिगड गई। क्रान्तिकारियो मे खलबली मच गई और वे राजपरिवार को शका की दृष्टि से देखने लगे तथा उन्होने उसे कैद कर लिया। राजपरिवार की यह दयनीय दशा देख कर आस्ट्रिया तथा प्रशा ने फ्रास के विरुद्ध युद्ध छेड दिया और ब्रन्सविक के ड्यूक ने पेरिस को विनष्ट करने की धमकी दी। लेकिन इस धमकी ने अग्नि मे घी का काम किया, फ्रासीसी जनता उत्तेजित हो उठी और बहुत से माँ के लाल ने मातृ-भूमि की रक्षा के हेतु कमर कस ली और प्राणो से बाजी लगाई।

धारासभा—इसमे दो दल मुख्य थे, जिरौडिस्ट और जैकोबिन। पहला नरमदल था जिसके डुमुरीज तथा कोडर सेट दो बड़े नेता थे। दूसरा गरम दल था और मारत, डान्टन तथा रोबस्पीयर इसके प्रधान नेता थे। प्रारम्भ मे जिरौडिस्ट दल का प्रभाव था। किन्तु अगस्त १७९२ ई० मे पेरिस मे उत्पात मचा और सर्वत्र अराजकता-सी फैल गई। देश पर आक्रमण शुरू हो ही चुका था। अतः स्थिति मे सुधार लाने के लिए डान्टन को सर्वेसर्वा बना दिया गया। उसकी नीति का आशय था—राजभक्तों को निःशक्त तथा

आतंकित बनाना। अत उसने राजपक्ष वाला के अस्तित्व को मिटा देने की आज्ञा दी और सैकडा तथा सहस्रा राजभक्त तलवार के घाट उतार दिए गए। यह दुर्घटना सितम्बर (१७६२ ई०) के कत्लेआम के नाम से प्रसिद्ध है। २२ सितम्बर को धारासभा का भी अन्त हुआ और नेशनल कन्वेंशन की बैठक शुरू हुई। उसी दिन फ्रास को जनतत्र घोषित किया गया। वामी के मैदान मे फ्रासीसी विजयी भी हुए। इस विजय से वे बहुत ही उत्साहित हुए और एक महान् भूल भी कर बैठे। उन्होने यह घोषणा कर दी कि अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह करने वाले राष्ट्र को फ्रास की ओर से सैनिक सहायता मिलगी। यह यूरोप के राजाओ के लिए चुनौती थी। इतना ही नहीं, लूई पर देश-द्रोह का अभियोग लगाया गया और जनवरी १७६३ ई० मे गिलोटीन के द्वारा उसे प्राणदण्ड दे दिया गया। इससे कोई लाभ नही हुआ बल्कि इसका प्रतिकूल प्रभाव पडा। इस घटना ने राजाओ के हृदय मे क्रान्ति के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी और पहले के साधारण विरोधी भी कट्टर बन गए।

रक्तपात का नग्न नृत्य

फ्रासीसी जनतन्त्र भी सतर्क था। इसने डके की चोट पर यह घोषणा कर दी कि क्रान्ति के सिद्धान्तो को नही मानने वाला शत्रु समझा जायगा। इससे यूरोप के राज्य घबडा उठे। इगलैण्ड भी अछूता न बचा। फ्रास ने उसके विरुद्ध भी युद्ध छेड दिया था और बेल्जियम को अधिकृत कर लिया था। बेल्जियम के स्वार्थ मे इगलैण्ड का भी स्वार्थ छिपा रहता है। अत. इगलैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशा, स्पेन तथा हालैण्ड ने फ्रास के विरुद्ध प्रथम सघ का निर्माण किया। ऐसी ही स्थिति मे डुमुरीज अपने भाइयो को धोखा दे, शत्रु पक्ष मे जा मिला। फ्रास के सामने भयकर सकट उपस्थित था। इसका सामना करने के लिए कन्वेशन ने भी तत्परता दिखलाई। जिरौडिस्ट दल के सदस्य कैद कर लिए गए और उग्रवादियो के हाथ मे शासन की बागडोर दी गई। उन्होने एक जन-सुरक्षा-समिति कायम की जिसका प्रधान रोब्सपीयर को बनाया गया। समिति ने रक्त तथा लौह की नीति धारण की। एक क्रान्तिकारी न्यायालय स्थापित हुआ और सभी विरोधियो को फासी पर लटकाया जाने लगा। इस तरह सहस्रो व्यक्तियो के प्राण लिए गए। रानी को भी अपने पति का अनुसरण करना पडा, जिरौडिस्ट दल के सभी प्रमुख सदस्य मौत के घाट उतारे गए। १७६४ ई० मे डान्टन का भी बलिदान हुआ। इस तरह रक्त की नदियाँ बह चली और एक वर्ष के समय (१७६३-६४ ई०) को आतक का राज्य ठीक ही कहा जाता है।

चित्र ८—रोब्सपीयर

रोब्सपीयर इस राज्य का विधायक था। वह स्वार्थी, क्रूर तथा हिंसावादी था। वह भय तथा रक्तपात के द्वारा राज्य करना चाहता था। अत उसके विरोधियो की सख्या बढने लगी और उसे भी गिलोटीन का शिकार होना पडा। जिसके इशारे पर हजारो व्यक्ति मौत के घाट उतारे गए थे, वही एक दिन गिलोटीन पर झुला दिया गया, धड़ से उसका सिर अलग हो गया।

इस काल मे फ्रास को बाह्य नीति अधिक सफल रही। कार्नाट जैसा योग्य व्यक्ति सैन्य सचालन कर रहा था। विरोधियो के तो होश ठिकाने आ गए थे, अत. एक ही वर्ष के अन्दर फ्रास से विदेशी सेना हट गई और फ्रासीसी हर्ष-विभोर हो उठे। कन्वेशन की वैदेशिक नीति तो सफल हुई ही, उसने कुछ अन्य सुधार-कार्य भी किया। देश छोड कर जो लोग भाग गए थे उनको धन-जायदाद छीन ली गई। नाप-तौल मे मीटर प्रणाली का प्रयोग किया गया। ऋणी को जेल देने का नियम हटा दिया गया। गुलामी मिटा दी गई और औरतो तथा मर्दो को समान अधिकार प्रदान किया गया।

रोब्सपीयर की फॉसी के बाद आतक की कालिमा का विनाश हुआ और अब प्राय: सभी लोग शान्ति चाहने लगे। रक्तपात के भीषणतम रूप को देखकर लोग ऊब उठे थे और रक्तपात से घृणा करने लगे। अब भीतरी या बाहरी किसी प्रकार के सकट की सभावना नही थी। अत अब आतक की आवश्यकता ही नहीं थी। लोग किसी भी कीमत पर शान्ति चाहते थे। कन्वेशन ने एक गणतत्रीय विधान का निर्माण कर अपने आपको विसर्जित कर लिया। विधान के अनुसार दो धारासभाएँ स्थापित हुई—छोटी और बडी। छोटी सभा मे ५०० और बड़ी सभा मे २५० सदस्य थे। इनका निर्वाचन फ्रास के नागरिको के द्वारा होता। कार्यकारिणी के लिए पाँच डाईरेक्टरो का एक बोर्ड कायम हुआ। यह विधान १७९५ ई० से १७९९ ई० तक कार्य-रूप मे रहा, किन्तु देश की परिस्थिति ठीक नहीं रहने से शासन-प्रबन्ध सुचारु रूप से नहीं चल सका। शासन के प्रति लोगो का रोष बढ गया। अब फ्रासीसी राज्यक्रान्ति की ज्वाला बुझ गई और देश की विषम स्थिति ने नेपोलियन बोनापार्ट के उत्थान के लिए मार्ग प्रस्तुत कर दिया।

राज्यक्रान्ति के महत्त्व तथा परिणाम

फ्रास की राज्यक्रान्ति की गतिविधि हिसात्मक रही थी। निर्दयता का नग्न नृत्य हुआ, रोमाचकारी रक्तपात हुआ, स्वाधीनता की वेदी पर सैकडो और सहस्रो की सख्या मे नर-नारियों का सहार हुआ। क्रान्ति के इतिहास मे ये सभी घटनाएँ काले कारनामे थे। अँगरेजी तथा अमेरिकी क्रान्तियो मे इन दुर्घटनाओ का अभाव था। अमेरिका मे हिसात्मक कार्य हुआ था, किन्तु बहुत कम। इगलैंड मे तो खून का एक बूँद भी नहीं बहाया गया था। इसका कारण है परिस्थितियो की भिन्नता। फ्रास के

क्रान्तिकारियों मे एकता का अभाव था और जिनके हाथ मे शासन-सूत्र आता था वे अपने विरोधियो को नष्ट कर देने की ही चेष्टा करते थे। दूसरी बात यह थी कि यूरोप के अन्य राज्यो के वशानुगत स्वेच्छाचारी सम्राट भयभीत हो क्रान्ति को कुचलने के लिए एडी-चोटी का पसीना एक कर रहे थे और फ्रास के आन्तरिक मामला मे भी हस्तक्षेप करते थे। ये दोनों बातें इगलैड तथा अमेरिका मे नहीं थी। अत कलकपूर्ण कामो के लिए अवसर ही नही प्राप्त हुआ। यदि यूरोप वाले इगलैड तथा अमेरिका मे फ्रास जैसा हस्तक्षेप करते.तो अगरेज तथा अमेरिकी भी अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु कोई कदम उठाने से बाज नही आते।

लेकिन कुछ बुरे और आपत्तिजनक कार्यों के होने से फ्रासीसी राज्यक्रान्ति को सारहीन तथा प्रभावशून्य नहीं कहा जा सकता। मानव-समाज की महत्वपूर्ण एव युगान्तरकारी घटनाओ मे इसका भी एक स्थान है। वह स्थान साधारण नहीं बल्कि महत्वपूर्ण है। फ्रास के ही नहीं, दुनिया के इतिहास मे महत्वपूर्ण है। फ्रास की राज्यक्रान्ति उपेक्षित जनता-जनार्दन के युग-सचित दिल-दर्द का भीषण तथा भयकर विस्फोट था। यह सतप्त सर्वसाधारण के हृदय से निकली गहरी सॉसो तथा उसॉसो की ज्वाला थी। यह अन्याय तथा अत्याचार, अनाचार तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध विद्रोह था। राजनीतिक निरकुशता, सामाजिक विषमता और आर्थिक शोषण—सब पर कुठाराघात हुआ और एक नई सृष्टि का सृजन हुआ। प्रत्येक क्षेत्र मे महान् परिवर्तन हुए और सर्वसाधारण के सौभाग्य-सूर्य का उदय हुआ। भविष्य की पीढियो के लिये प्रगति क्रान्ति की एक बहुत बड़ी देन रही है। फ्रासीसियो के ऊपर क्रान्ति का नैतिक प्रभाव बड़ा ही महत्वपूर्ण और स्थायी था। वे सदियों से उपेक्षित थे किन्तु अब उन्हे अपनी शक्ति का ज्ञान प्राप्त हो गया। वे अपनी महत्ता समझने लगे और उनमे आत्मविश्वास का बड़े वेग से सचार हुआ। अब भविष्य मे उन पर सहज ही कोई अत्याचार नही कर सकता था क्योंकि उसका सामना करने के लिए उनमे स्फूर्ति उत्पन्न हो गई थी।

राजनीतिक क्षेत्र मे महान् राजतन्त्र का गर्व चूर-चूर हो गया, जनशक्ति का प्रयोग हुआ और प्रजातान्त्रिक भावना का उदय हुआ। यह मान लिया गया कि शक्ति तथा सत्ता का स्रोत सर्वसाधारण है और उन्ही की सहमति तथा सहयोग के आधार पर शासन का सुदृढ महल खडा किया जा सकता है। यह केवल मौखिक रूप से ही नहीं मान लिया गया बल्कि इसे कागज पर लिख डाला गया। दूसरे शब्दो मे, फ्रास मे अब लिखित विधान की प्रणाली स्थापित हुई। राज्य की विभिन्न शक्तियो के अधिकारो का स्पष्ट वर्णन कर दिया जाने लगा। अब एक शक्ति दूसरी शक्ति के अधिकारो का उल्लघन नहीं कर पाती। कानून मे जो विषमता थी उसका अत हो गया और एकरूपता की स्थापना हुई। क्रान्ति ने फ्रासीसी राष्ट्रीयता को प्रज्वलित किया। बेस्टोल-पतन का दिन १४ जुलाई

आज भी राष्ट्रीय पर्व के रूप मे याद किया जाता है और क्रान्ति के कितने गाने आज भी गाए जाते है। क्रान्तिकारियो का मार्सिलेज नामक गाना देशभक्ति मे ओतप्रोत था और यह फ्रासीसियो का पवित्र राष्ट्रीय गीत है।

धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रो मे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। धार्मिक जगत मे बुद्धिवाद का उदय और सहिष्णुता का प्रयोग हुआ। अब सबको धार्मिक स्वतत्रता प्राप्त हो गई। समाज मे यद्यपि कुछ त्रुटियाँ रह गई थी, फिर भी वे नगण्य थी और जो सुधार हुए वे बडे ही महत्वपूर्ण थे। क्रान्ति ने सामन्त-प्रथा का उन्मूलन कर गुलामी की बड़ी को तोड दिया। जो अब तक चोटी पर थे, वे नीचे चले आए और जो नीचे थे वे ऊपर उठ गए। सभी विशेषाधिकारो का अन्त हो गया। कानून की दृष्टि मे सभी समान हो गए और जन्म के बदले योग्यता के आधार पर राज्य मे नियुक्ति होने लगी। अब प्रतिभाशाली व्यक्तियो के उत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। सम्पत्ति का पुनर्वितरण हुआ और स्वतन्त्र किसानो के एक वर्ग का, जिनके पास अपनी भूमि थी, विकास हुआ। अब उन पर केवल राज्य द्वारा ही कर लगाया जा सकता था। अब जिस किसी के पास धन था वह समाज मे अपना प्रभाव कायम कर सकता था। मजदूरो की दशा मे सुधार हुआ और यद्यपि वे अभी अरक्षित थे फिर भी अब अतीत-सा उपेक्षित तथा घृणित नहीं थे। सक्षेप मे फ्रास मे आधुनिकता का सचार हुआ और यह एक राजनीतिक तथा आर्थिक इकाई के रूप मे परिवर्तित हो गया।

१९वी शताब्दी के आगमन के साथ नेपोलियन जैसे सैनिक शासक का उत्थान हुआ, किन्तु क्रान्ति के सभी परिणामो का उसके साथ अन्त नहीं हुआ। एक तरह से वह स्वय क्रान्ति की सन्तान था। उसने अपने सुधारो मे क्रान्तिकारी विचारधारा को समुचित स्थान दिया। उसकी विधान-सहिता तो मानव-समाज को एक अनुपम भेंट रही है। समानता की नीव पर ही इसका निर्माण हुआ था। शिक्षा प्रणाली तथा आर्थिक सुधारो मे भी क्रान्ति के सिद्धान्तो का समावेश किया गया था। जैसे सिकन्दर ने यूनानी सभ्यता का प्रचार किया था वैसे ही नेपोलियन ने क्रान्ति के सन्देशो को फ्रास के बाहर अन्य देशो मे फैलाया था। एक विद्वान् के शब्दों मे 'जिस देश पर भी फ्रास का प्रभाव पड़ा था वहाँ पुन. पुरानी व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकी।' दक्षिणी जर्मनी, कुछ राइन प्रदेशो, हालैड और नेपुल्स मे सामन्तवाद का अन्त हो गया। जर्मनी, स्वीड्जरलैंड आदि देशों मे नेपोलियन के विधान को कार्यान्वित किया गया और धार्मिक सहिष्णुता का प्रयोग हुआ। प्रशिया, पोलैंड, जर्मनी तथा इटली में नेपोलियन ने राष्ट्रीयता की भावना को जागरित किया। यद्यपि १८१५ ई० में राजनीतिक स्वतत्रता का यूरोप में अभाव था, फिर भी क्रान्ति के सिद्धान्तो ने यूरोप-वासियो के दिल तथा दिमाग में एक स्थान प्राप्त कर लिया था। प्रत्येक देश मे कुछ ऐसे

बुद्धिजीवी थे जो क्रान्ति के सन्देशों के लिए मर-मिट जाने को तैयार थे। अब परिवर्तन के लिए मार्ग साफ हो गया था और मननशील व्यक्ति की दृष्टि मे भविष्य उज्ज्वल दीख पडता था।

यह भी स्मरणीय है कि अमेरिकन तथा अतीत की अन्य क्रातियो की अपेक्षा फ्रासीसी क्रान्ति का क्षेत्र विशेष व्यापक रहा है। इसने स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धातो के रूप मे मानव-समाज को मूल मत्र दिया है। इसी ने जनतन्त्र तथा राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत किया है। मानव-समुदाय की ये अमूल्य निधियाँ है जिन्हे दुनिया का प्रत्येक राष्ट्र प्राप्त करने के लिए लालायित और प्रयत्नशील रहा है। क्रान्ति के आदर्श नित्य नूतन रहे। ये आदर्श मानव हृदय-पट पर अकित है और पीडित, त्रस्त तथा दलित लाखो और करोडो व्यक्तियो को मुक्ति का नव-सदेश देते है।

फ्रासीसी क्रान्ति ने मानव के मौलिक अधिकारो की घोषणा कर मनुष्य के व्यक्तित्व की महत्ता स्थापित की। इससे पुरुष को पौरुष प्राप्त हुआ है और उसका मस्तक ऊँचा उठ गया है। इसके सिद्धान्तो से विभिन्न देशो मे अनेक क्रान्तियो को प्रेरणा मिलती रही है और वैधानिक शासन तथा वैधानिकता का विकास हुआ है।

अध्याय २८

फ्रांसीसी क्रान्ति की अनुपम देन—नेपोलियन बोनापार्ट

प्रारम्भिक जीवन

नेपोलियन का जन्म १७६६ ई० मे कॉर्सिका द्वीप मे हुआ था। केवल एक ही साल पूर्व इस द्वीप पर फ्रास का आधिपत्य स्थापित हुआ था। अतः वह जन्म से ही फ्रासीसी राज्य का नागरिक था। उसका बश बोनापार्ट कहलाता था और उसके पिता साधारण श्रेणी के एक वकील थे। फिर भी पिता ने अपने पुत्र को समुचित शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। उसने उसे एक सैनिक विद्यालय मे भेजा। स्कूल मे नेपोलियन ने अध्ययन में बड़ी दिलचस्पी दिखलाई और वहाँ पाँच वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् उसे एक सैनिक पद पर नियुक्त किया गया और उसने अपनी कर्तव्य-परायणता का पूरा परिचय दिया और लोगो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इसके बाद दो ऐसे अवसर उपस्थित हुए जब कि लोगों को उसकी अद्भुत प्रतिभा की विशेष जानकारी प्राप्त हुई। १७६३ ई० मे अगरेजो ने फ्रास के बन्दरगाह टूलन पर आक्रमण कर उसे घेर लिया। पहले फ्रासीसी अधिकारियो ने गलत तरीके से तोपो को लगाया था। नेपोलियन ने इसे समझ लिया और उन्हें ठीक स्थान पर लगवाया। उसके प्रयास से अगरेजी बेड़े के अधिकारियो के छक्के छूट गए। इसके दो ही वर्ष बाद नेशनल कन्वेशन पर सकट उपस्थित हुआ। पेरिस की जनता ने इस पर आक्रमण कर दिया। नेपोलियन ने गोली चलाई, भीड़ को छिन्न-भिन्न किया और कन्वेशन की रक्षा की। अब वह फ्रास का लोकप्रिय नेता बन गया।

चरित्र

नेपोलियन अनेक गुणों से विभूषित था। उसका शरीर सुन्दर, स्वस्थ तथा सुडौल था। उसके व्यक्तित्व में जादूगर की आकर्षण-शक्ति भरी हुई थी। उसमें योग्यता थी, प्रतिभा थी और दूरदर्शिता थी। वह उच्चकोटि का अध्यवसायी एवं परिश्रमी था। सैनिक

कार्य मे तो वह बेजोड था ही, शासन-कार्य मे भी वह कम निपुण नही था। अपनी योग्यता के ही बल पर वह एक साधारण अफसर से फ्रास का सम्राट तथा भाग्य-निर्माता बन गया। उसके उत्थान का कारण उसकी योग्यता तो थी ही, उसने तत्कालीन परिस्थितियो से भी समुचित लाभ उठाया। क्रान्ति के वातावरण मे ही उसका पालन-पोषण हुआ था और उसने इसके प्रमुख सिद्धान्तो का व्यापक प्रचार किया।

नेपोलियन की विजय

१७९५ ई० से १७९९ ई० तक फ्रास मे डाइरेक्टरी का शासन था। प्रथम यूरोपियन गुट के सदस्यो मे से इगलैड, आस्ट्रिया तथा सार्डीनिया अभी हारे नही थे। १८९६ ई० मे नेपोलियन को सेनाध्यक्ष बनाकर आस्ट्रिया तथा सार्डीनिया के विरुद्ध इटली मे भेजा गया। उसने दोनो देशो को पराजित किया। आस्ट्रिया ने सन्धि कर ली। फ्रास को बेल्जियम हाथ लगा और उत्तरी इटली मे उसके अधीन दो गण-राज्यो की स्थापना हुई। अभी इगलैण्ड बचा रहा, किन्तु उस पर प्रत्यक्ष आक्रमण करना सहज नही था। नेपोलियन समझता था कि भारत तथा पूर्वी साम्राज्य ही इगलैण्ड की उन्नति के मूल कारण थे। अतः उसने मिश्र को पहले अधिकृत कर पूर्व की ओर बढने के लिए सोचा। फ्रास के अधिकारी उसकी इस योजना से खुश ही थे क्योकि वे नेपोलियन के दूर रहने मे अपना हित देखते थे। अतः नेपोलियन के नेतृत्व मे मिश्र पर चढ़ाई करने के लिए एक सेना ने प्रस्थान किया। इसने दक्षिणी मिश्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, किन्तु शीघ्र ही फ्रासीसियो के बुरे दिन लौट आए। १७९८ ई० मे नील नदी का प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसमे फ्रासीसी बुरी तरह खेत आए। नेपोलियन का स्वप्न अधूरा रह गया।
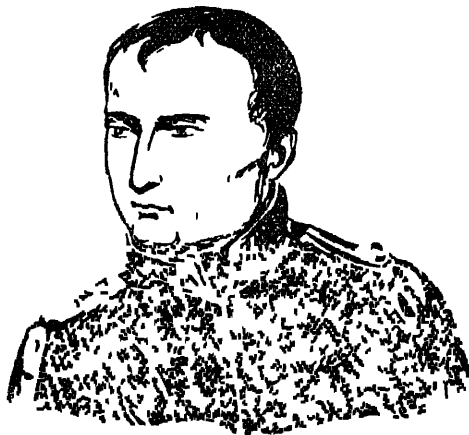
चित्र ९—नेपोलियन

परन्तु नेपोलियन पराजय से निराश होने वाला नहीं था। नियति ने उसके लिए दूसरा क्षेत्र तैयार कर रख छोड़ा था। उसे शीघ्र ही मालूम हुआ कि फ्रास की आन्तरिक दशा दयनीय हो गयी है और डाइरेक्टरी की कमजोरी तथा कुप्रबन्ध के कारण उसके विरुद्ध द्वितीय यूरोपीय सघ का भी निर्माण हो चुका है। इगलैण्ड, रूस, आस्ट्रिया तथा

टर्की इस सघ के सदस्य थे। अतः नेपोलियन शीघ्र ही १७६६ ई० में फ्रास लौट कर चला आया। आते ही उसने एक नवीन विधान बनाया और डाइरेक्टरी के शासन का अन्त कर दिया। इस विधान ने फ्रान्स में कास्यूलेट की स्थापना की और नेपोलियन प्रथम कासल नियुक्त हुआ। उसके अतिरिक्त दो कासल और थे लेकिन वे उसके ही अधीन थे। यह विधान लोकप्रिय भी सिद्ध हुआ क्योंकि राष्ट्र के विशाल जनसमूह ने इसे अपनी स्वीकृति प्रदान की थी।

नेपोलियम का ध्यान शीघ्र ही शत्रुओं की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने उत्तरी इटली पर पुन. अधिकार प्राप्त कर लिया था। नेपोलियन ने एक सेना भेजकर उन्हें जर्मनी, इटली और स्वीटजरलैण्ड मे पराजित किया। आस्ट्रिया ने अपमानजनक सन्धि कर ली और उत्तरी इटली से फिर हट गया। अब रूस तथा टर्की भी युद्ध स अलग हो गए। इगलैण्ड भी १८०२ ई० मे फ्रास के साथ आमीन की सन्धि कर ली। विजित प्रदेशा को एक दूसरे को लौटा दिया गया। फिर भी सन्धि की शर्तें फ्रास के ही अनुकूल थीं। बेल्जियम पर फ्रास का अधिकार रहा और उसकी सीमा राइन नदी तक पहुँच गई।

नेपोलियन के सुधार-कार्य

नेपोलियन केवल वीर तथा विजयी सैनिक ही नहीं था, वह कुशल तथा सफल शासक भी था। १८०२ ई० तक क्रान्ति तथा युद्ध के कारण सुधार के लिए अवकाश ही नहीं मिला। किन्तु युद्ध समाप्त होते ही नेपोलियन ने देश के आन्तरिक सगठन की ओर ध्यान दिया। रचनात्मक कार्य क्षेत्र मे उसने भरपूर प्रयत्न किया और इसमे पर्याप्त सफलता भी मिली। अतः उसके सुधार-कार्य युद्ध मे प्राप्त विजयो को अपेक्षा कम गौरवपूर्ण नहीं थे, बल्कि उन्हे अधिक गौरवपूर्ण कहे तो इसमे कोई अत्युक्ति नहीं। उसके जो सुधार-कार्य हुए, वे क्रान्ति के सिद्धान्तो पर ही आधारित थे। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि वह समानता के सिद्धान्त का कट्टर समर्थक था और स्वतन्त्रता का घोर विरोधी।

शासन के क्षेत्र मे वह केन्द्रीकरण का पक्षपाती था। अत. उसने स्वायत्त शासन की उपेक्षा की। निर्वाचित सस्थाओं को उसने नि.शक्त बना दिया और प्रत्येक जिला तथा नगर मे प्रिफेक्ट तथा मेयर नियुक्त किया। ये अफसर सीधे उसके ही प्रति उत्तरदायी थे। उसने चर्च मे महत्त्वपूर्ण सुधार किया। पोप के साथ सन्धि हो गई और कैथोलिक धर्म राजधर्म स्वीकार किया गया। दूसरे सम्प्रदायों के साथ सहिष्णुता की नीति अपनाई गई। पादरियो की नियुक्ति मे पोप तथा सरकार दोनो का हाथ रहा। सरकार बड़े पादरियों की नामावली पोप के पास भेज देती जिसमे से वह उनकी नियुक्ति कर सकता था। चर्च राज्य के अधीन रहा और इसके अधिकारियो को सरकार की ओर से वेतन मिलने लगा। उसने आर्थिक सुधार भी किया। करों को समुचित ढग से वसूलने का प्रबन्ध किया। घूस-

खोरी की प्रथा को बन्द किया। उसने फ्रास के बैंक को स्थापित 'किया जो अपनी साख के लिए सारी दुनिया मे प्रसिद्ध है। शिक्षा के प्रसार के लिए उसने अनेक विद्यालय खोले। बहुत-सी सड़को, नहरो तथा पुलो का निर्माण हुआ। पेरिस शहर को सुन्दर ढग से बसाया तथा सजाया गया और कला-कौशल को समुचित ढग से प्रोत्साहित किया गया। इन सभी सुधारो के अतिरिक्त उसने विधि-विधान के क्षेत्र मे जो सुधार किया वह सबसे अधिक उल्लेखनीय है। उसने दीवानी तथा फौजदारी के सभी बिखरे हुए कानूनो का सग्रह किया और उनका कलापूर्ण ढग से सम्पादन किया। यह 'कोड नेपोलियन' या 'कोड सिविल' के नाम से विख्यात है। यह समानता के सिद्धान्त पर आधारित था। कानून की दृष्टि मे कोई छोटा-बड़ा न रहा और योग्यता के आधार पर सरकारी नौकरियाँ सबको मिलने लगी। इसे कई देशो ने अपनाया है और फ्रास मे अभी तक यह प्रचलित है। यह उसकी स्थायी तथा अमर कीर्ति है। उसने फ्रास के उपनिवेशो की पुनः-स्थापना के लिए भी चेष्टा की किन्तु इस दिशा मे उसे पूरी सफलता न मिली। उसने स्पेन से लुसीयाना प्रदेश छीन लिया और सयुक्त राज्य अमेरिका से कुछ धन लेकर उसे दे दिया।

वैदेशिक नीति

१८०२ ई० मे नेपोलियन प्रथम कासल के पद पर आजीवन बेठा दिया गया और दो वर्ष बाद वह फ्रास का सम्राट हो गया। अब प्रजातन्त्र साम्राज्य मे परिवर्तित हो गया। नेपोलियन के विरुद्ध यूरोप के तीसरे सघ का भी निर्माण हुआ जिसमें इगलैंड, आस्ट्रिया तथा रूस थे। १८०५ ई० मे नेपोलियन ने इगलैंड पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया किन्तु सफलता नही मिली। ट्रैफलगर के जलयुद्ध मे उसकी गहरी हार भी हुई। इससे फ्रासीसी बेड़े नष्ट हो गए और समुद्र पर इगलैंड का प्रभुत्व स्थापित रह गया। १८०६ ई० मे नेपोलियन ने आस्ट्रिया तथा रूस की सम्मिलित सेना को पराजित किया। यह युद्ध आस्टरलीज के मैदान मे हुआ था। इस युद्ध से तीसरा सघ भी टूट गया। दूसरे ही साल उसने प्रशिया को जेना मे और रूस को फ्रीडलैंड मे परास्त किया। रूस से टिलसिट की सन्धि हुई। रूस और प्रशिया दोनो ने नेपोलियन का आधिपत्य मान लिया।

इस बीच उसने जर्मनी मे कुछ सगठन-कार्य भी किये। उसने कई छोटे-छोटे राज्यो को मिलाकर राइन का सघ कायम किया। सघ ने जर्मन सम्राट की सत्ता को अस्वीकार कर नेपोलियन को अपना सरक्षक घोषित किया। इसने पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त कर दिया और अब जर्मन सम्राट केवल आस्ट्रियन सम्राट रह गए।

नेपोलियन की शक्ति की पराकाष्ठा

१८०७-८ ई० में नेपोलियन अपनी सत्ता एव शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। जर्मनी और इटली के अधिकाश भाग पर उसका अधिकार था। स्वीटजरलैंड, स्पेन

तथा पुर्त्तगाल पर उसका आधिपत्य था। हालैंड में उसके भाई का राज्य था। किन्तु उसकी शक्ति तथा ख्याति का अन्त भी निकट आ गया।
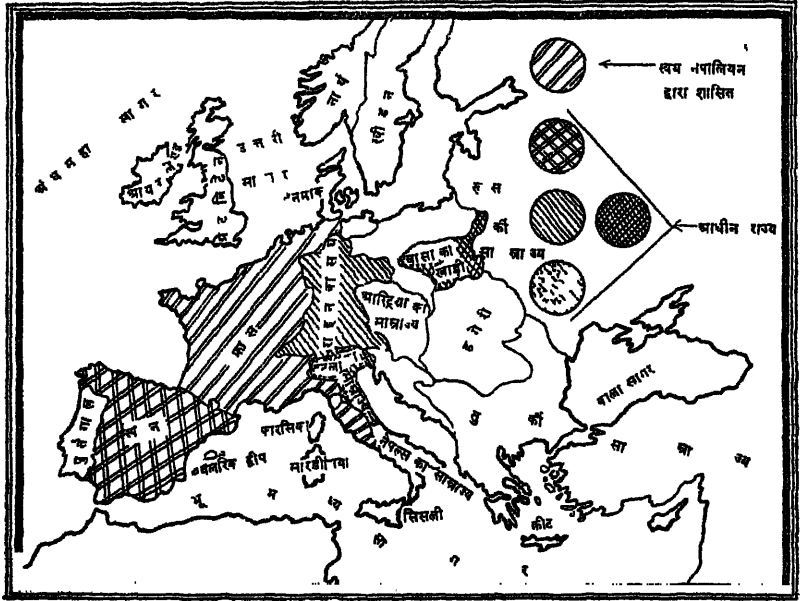
चित्र १०—नेपोलियन की शक्ति की पराकाष्ठा

नेपोलियन पतन की ओर

अब तक वह इगलैंड का कुछ न बिगाड़ सका था। १७६८ तथा १८०५ ई० में उसने इगलैंड पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया था किन्तु विफल ही रहा। अब उसने इगलैंड के व्यापार को हानि पहुँचाने की चेष्टा की। इस उद्देश्य से उसने बर्लिन तथा मिलन से दो आज्ञाएँ प्रकाशित कीं और यूरोपीय राज्यो को इगलैंड से व्यापार करने के लिए मना कर दिया। इगलैंड ने भी प्रत्युत्तर दिया और मित्र राष्ट्रों को फ्रास या उसके मित्रों से व्यापार बन्द कर देने के लिए कहा। इस घटना को 'महादेशीय नियम' (कन्टीनेन्टल सिस्टम) कहते हैं। यह नेपोलियन के पतन का मुख्य कारण सिद्ध हुआ। पतन के मार्ग पर यह उसका प्रथम कदम था। जीवन सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओ के नहीं मिलने से यूरोप के प्रायः सभी राष्ट्र उसके विरोधी बन गए। स्वय फ्रास का कार्य नहीं चलता था और अपने देश में ही उसकी लोकप्रियता जाती रही। इगलैंड को स्वर्ण अवसर

प्राप्त हुआ। वह विरोधी राष्ट्रो को फ्रास के विरुद्ध सहायता देने लगा। स्पेन तथा पुर्त्तगाल ने विद्रोह किया और इगलैंड ने इसमे सक्रिय भाग लिया। यह प्रथम दीर्घकालीन राष्ट्रीय सघर्ष था जिसमे नेपोलियन के छक्के छूट गए। पतन के मार्ग पर यह उसका दूसरा कदम था। इससे उत्साहित हो रूस ने नेपोलियन का विरोध किया। नेपोलियन ने अपनी सर्वोत्तम सेना के साथ रूस पर आक्रमण किया। सर्दी की अधिकता और खाद्यान्न की कमी के कारण उसकी अपार क्षति हुई और सेना नष्ट हो गई। पतन की ओर यह उसका तीसरा कदम था। अब यूरोप के राष्ट्र नेपोलियन का सामना करने के लिए दृढ हो गए, उनमे असीम साहस का सचार हो गया।

इधर रूस मे नेपोलियन की शक्ति का ह्रास तो हुआ ही दूसरे इगलेण्ड, आस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस के चतुर्थ सघ का उसे सामना करना पड़ा। १८१४ ई० मे लिपजिग के मैदान मे राष्ट्रो का यह युद्ध हुआ। फ्रास पर खतरा मडराने लगा, पेरिस शत्रुओं के हाथ मे चला गया और नेपोलियन की पराजय हुई। वह राज्य का परित्याग करने के लिए बाध्य हुआ और उसे इटली के निकट एल्बा द्वीप मे रखा गया। किन्तु वह उस स्थिति से सन्तुष्ट न था और मौका मिलते ही अपने कर्म की अन्तिम परीक्षा के हेतु फ्रास भाग आया। बहुत स लोगो ने उसका स्वागत किया, राजा फ्रास छोड़ कर भाग गया था किन्तु भाग्य नेपोलियन के प्रतिकूल था। १८१५ ई० मे वाटरलू का प्रसिद्ध युद्ध हुआ और सदा के लिए नेपोलियन के भाग्य का निबटारा हो गया। उसने बुरी तरह पराजित हो आत्म-समर्पण कर दिया और वह एक कैदी के रूप मे सेंट हेलेना द्वीप मे भेज दिया गया। यह द्वीप दक्षिणी अटलाटिक महासागर के बीच मे स्थित है। वहा ६ वर्षो के बाद उसका देहावसान हो गया।

वियना काग्रेस और पेरिस की सधि

१८१५ ई० मे यूरोप के पुनर्निर्माण पर विचार करने के लिए वियना मे यूरोपीय राज्यो की एक बैठक हुई और इसके फलस्वरूप पेरिस की सन्धि हुई। काग्रेस मे प्रतिक्रियावादियों की प्रधानता थी। इसके सामने तीन बाते मुख्य था, पुराने राजवशा की स्थापना, फ्रास को दण्ड देना और पराजित राज्यो की क्षतिपूर्ति। काग्रेस ने इन बातो को कार्यान्वित किया। फ्रास की गद्दी पर बोर्बन वश का १८वाँ लूई बैठाया गया। इसकी सीमा पर हालैड तथा बेल्जियम को मिला कर एक सम्मिलित राज्य कायम किया गया। ऐसे ही नार्वे तथा स्वेडन को मिला दिया गया। विजेताओ को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों मे प्रदेशा के रूप मे पुरस्कार मिले। फ्रास की क्रान्ति के पूर्व की सीमा निर्धारित कर दी गई। फिनलैंड रूस को दे दिया गया। जर्मनी तथा इटली मे भी कुछ साधारण परिवर्तन के साथ पुरानी स्थिति स्थापित

राज्यो का एक संघ कायम हुआ और आस्ट्रिया के चासलर मेटर्निक को इसका प्रधान बनाया गया। यह व्यवस्था बड़ी ही त्रुटिपूर्ण थी। इसने क्रान्ति के सिद्धान्तो की उपेक्षा की, राष्ट्रीय तथा प्रजातत्रीय भावनाओ पर कुठाराघात किया।

फ्रास तथा नेपोलियन के पतन के कारण

प्रारम्भ मे फ्रासीसी आदर्श की चोटी पर थे, उनके सिद्धान्त आकर्षक, सुन्दर तथा उत्साहवर्द्धक थे। सर्वत्र शासित तथा पीड़ित जनता ने मुक्तिदाता के रूप मे उनका दिल से स्वागत किया। दूसरी ओर यूरोप के राजाओ मे एकता का अभाव था। अत शुरू मे उन्हे सफलता मिली। लेकिन बाद मे वे पतनोन्मुख हो गए और आगे चल कर उनका पतन हो गया। इसके कई कारण थे।

१ **फ्रास की निरंकुशता**—समय और सफलता की प्रगति के साथ फ्रासीसियो में महान् परिवर्तन होने लगा। यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि उपदेश से उदाहरण अधिक अच्छा है, किन्तु फ्रासीसी अपने महान् आदर्शों और उद्देश्यो से क्रमश. दूर होते गए। अब उनके उपदेश और व्यवहार मे अन्तर पड़ने लगा। यह स्पष्ट हो गया कि वे अपने पूर्व के उद्देश्यो के विरुद्ध कार्य करने लगे। वे सर्वत्र हिंसात्मक तरीको से राष्ट्रो की स्वतत्रता कुचलकर अपनी दृढ सत्ता स्थापित करने लगे। लड़ाई के समर्थन मे लड़ाई होने लगी। जनता की इच्छाओं तथा भावनाओ की उपेक्षा की जाने लगी और उनका हर तरह से शोषण होने लगा।

२. **महादेशीय नियम**—ऐसी विकट पारस्थिति मे नेपोलियन ने महादेशीय नियम प्रचलित कर बड़ी भूल की। इसके अनुसार महादेश के सभी बन्दरगाहो का निरोध कर डाला गया। इससे सामान्य व्यापार मे बड़ी क्षति पहुँची। दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं के मूल्य मे बहुत वृद्धि होने लगी। इससे सर्वसाधारण को असीम कष्ट होने लगा और वे फ्रासीसियो को बुरी दृष्टि से देखने लगे। एक व्यक्ति की महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए सभी लोग अपने भोग-विलास के रहन-सहन का त्याग क्यो करते।

३. **जागृत राष्ट्रीय देशभक्ति**—अब फ्रासीसी मुक्तिदाता तथा शुभचिन्तक के बदले पीड़क और शोषक समझे जाने लगे। अब उनकी शक्ति का आधार भक्ति नही, भय मात्र रह गया। पहले का शासन यद्यपि निरकुश था, किन्तु स्वदेशी था। फ्रासीसियों का शासन निरकुश तो था ही, विदेशी भी था। अत. यूरोप के देशो मे राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावनाओ को भारी चोट पहुँचने लगी जिससे वे जाग्रत हो उठे। फ्रासीसी क्राति ने ही इन भावनाओं को जन्म दिया था। अत फ्रासीसियो के अत्याचार तथा अन्याय के कारण राष्ट्र-विरोधी भावनाओ का विकास होने लगा। लेकिन यह विकास नेपोलियन की विशाल

सेना के कारण अचानक न हुआ, बल्कि इसकी गति क्रमश. रही। अन्त मे सारे यूरोप की जनता एक नृशस और विदेशी शासक के प्रतिकूल हो गई और अपनी स्वतत्रता प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो उठी। अब नेपोलियन का पतन निश्चित और अनिवार्य हो गया। स्पेन, जर्मनी और रूस इन सभी जगहों मे नेपोलियन के विरुद्ध भीषण विद्रोह की आग धधक उठी। प्रायद्वीपीय युद्ध प्रथम राष्ट्रीय युद्ध था जिसने नेपोलियन को कई वर्षों तक विरोधी शक्तियों का सामना करने के लिए बाध्य किया और इसी समय से नेपोलियन के सर्वनाश का श्रीगणेश भी हुआ। दूसरे राष्ट्र भी स्पेन तथा पुर्त्तगाल के उदाहरण की नकल करने लगे। लिपजिग के युद्ध मे सभी प्रमुख राष्ट्र शामिल हुए थे जिसमे प्रथम बार नेपोलियन की स्वय पराजय हुई। इसीलिए लिपजिग के युद्ध को ठीक ही राष्ट्रों का युद्ध कहा गया है। अब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय देशभक्ति की भावना ने ही नेपोलियन को विनष्ट किया।

४. ग्रेट ब्रिटेन का निरतर विरोध—(क) राष्ट्रीय देशभक्ति की भावना— लेकिन फ्रास तथा नेपोलियन की पराजय में ग्रेट-ब्रिटेन का भाग नहीं भुलाया जा सकता। इसका अधिकाश श्रेय उसी को प्राप्त है। नेपोलियन के सर्वनाश मे ब्रिटेन ही प्रधान साधन था। यह सत्य है कि यूरोप के अन्य राष्ट्रो ने भी फ्रास के विरुद्ध लोहा लिया था। आस्ट्रिया ने युद्ध मे विशाष समय तक सक्रिय भाग लिया था किन्तु लिपजिग के युद्ध मे पहले चार बार पराजित होकर उसे सन्धि करने के लिए विवश होना पडा था। रूस तथा प्रशिया ने भी युद्ध मे भाग लिया था लेकिन अल्पकाल के लिए। स्पेन तथा जर्मन रियासतें अपना पक्ष बदलते रहते थे। सिर्फ ग्रेट-ब्रिटेन ही अकेला एक देश था जा युद्ध मे निरन्तर डटा रहा और एडी-चोटी का पसीना एक करने पर भी नेपोलियन उसका बाल भी बाँका नही कर सका। सेण्टपीटर्सबर्ग, स्कौटहौम, क्रिश्चियना तथा कुस्तुन्तुनियाँ को छोड़कर यूरोप की प्रत्येक राजधानी मे फ्रासीसी सेनाएँ प्रवेश कर चुकी थी, किन्तु लन्दन तक इनकी पहुँच न हो सकी।

अगरेजो में भी राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावना काम कर रही थी। वे इसी भावना से प्रेरित होकर फ्रास के विरुद्ध लड रहे थे। अत· उनमे अद्भुत उत्साह, अध्यवसाय तथा धैर्य का सचार हुआ था। उनकी तथा मित्रराष्ट्रो की पराजय होती थी, फिर भी वे अपने उद्देश्य से विचलित तथा निराश नही होते थे। यह ठीक है कि राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावना ने ही नेपोलियन का सर्वनाश किया, किन्तु इस दिशा मे भी इगलैड का ही नेतृत्व था। इगलैंड मे यूरोप के अन्य देशों-जैसा स्वेच्छाचारी शासन नहीं था। नेपोलियन को वहाँ के राजा से नहीं, बल्कि समूचे अंग्रेजी राष्ट्र से सामना करना

पड़ा था। अत 'इगलैंड ने ही बहुत से राज्यों के विजेताओ को यह सबक सिखाया कि किसी राष्ट्र को जीतना कितना कठिन है।'[1]

(ख) गुट्ट-निर्माण—ब्रिटेन ने फ्रास के विरुद्ध चार बार गुट्ट-निर्माण किया किन्तु स्थलीय युद्धो मे नेपोलियन की जीत होने से ये गुट्ट शीघ्र ही भग हो जाते थे और फ्रास का सामना करने के लिए ब्रिटेन को अकेला ही विवश होना पडता था। जब एक गुट्ट टूट जाता था तो अवसर पाकर ब्रिटेन शीघ्र ही दूसरा गुट्ट निर्मित कर लेता था। इस तरह फ्रास को वह कभी चैन और शान्ति की साँस नहा लेने देता था।

(ग) आर्थिक सहायता—ब्रिटेन ने केवल गुट्टो का ही निर्माण नही किया, गुट्ट के सदस्यो को यथाशक्ति आर्थिक सहायता भी दी। औद्योगिक क्रान्ति के कारण वह दूकान-दारो का देश बन गया था और उसके पास भरपूर धन-दौलत सचित हो रही थी। अत. दूसरे राष्ट्रो को भी, धन से सहायता कर, वह फ्रास का विरोध करने के लिए समर्थ बनाए रखा।

(घ) स्पेन तथा पुर्त्तगाल को सहायता—ब्रिटेन ने प्रायद्वीप के युद्ध मे स्पेन तथा पुर्त्तगाल की धन-जन से खूब मदद की। वहाँ उसने देशभक्ति की भावनाओ को जाग्रत किया, जिससे प्रेरित होकर वहाँ के लोग गुरिल्ला युद्ध करने लगे। इस तरह यह युद्ध दीर्घकाल तक चलता रहा। इससे यूरोप के दूसरे राज्यो को अपनी शक्ति सचित करने के लिए पूरा मौका प्राप्त हो गया।

इस युद्ध मे विजय का श्रेय ब्रिटिश सेनापति वेलिंगटन को प्राप्त था। उसी के चमत्कार-पूर्ण युद्ध-कौशल से मित्रराष्ट्रो की विजय हुई और प्रायद्वीप स फ्रासीसियो का बहिष्कार हो गया। १८१५ ई० मे वाटरलू के अन्तिम युद्ध मे भी उसी की तत्परता तथा जागरूकता के कारण मित्रराष्ट्रो की जीत हो सकी और नेपोलियन की आशा पर सदा के लिए पानी फिर गया।

(ङ) समुद्री शक्ति का उपयोग—लेकिन सबसे बढकर ब्रिटेन की प्रधानता उसकी सामुद्रिक शक्ति के ऊपर निर्भर करती है। फ्रासीसी क्रान्ति तथा नेपोलियन के युद्धो के समय यह बात विशेष रूप से सिद्ध हो जाती है। इसी के बदौलत फ्रासीसी आधिपत्य से ब्रिटेन तथा यूरोप की रक्षा हो सकी और नेपोलियन का हौसला धूल मे मिल गया। विश्व तथा नेपोलियन के बीच विस्तृत समुद्र ही स्थित था जिस पर नेपोलियन अपना प्रभुत्व स्थापित न कर सका। अँग्रेजो ने समुद्र पर कई बार गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की। १७९८ ई० मे नील की विजय ने नेपोलियन की पूर्वी देशो को जीतने की सारी योजनाओ का

[1]टाउट—ऐन ऐडवान्स्ड हिस्ट्री आफ ग्रेट ब्रिटेन, पृष्ठ ६०८

अन्त कर डाला। १८०१ ई० मे कोपेन हेगेन की जीत से उत्तरी राज्यो की सशस्त्र तट-स्थता नाम का गुट्ट टूट गया और बाल्टिक सागर पर अँग्रेजो का आधिपत्य कायम रह गया। १८०५ ई० मे ट्राफलगर की विजय ने फ्रासीसियो की बुरी गत कर दी। समुद्र पर अगरेजो का आधिपत्य सुरक्षित रह गया और अब ब्रिटेन पर आक्रमण होने का भय नही रह गया। इसके बाद मे नेपोलियन ने ब्रिटेन के विरुद्ध पुन. सामुद्रिक युद्ध करने का साहस नहीं किया। अपनी सामुद्रिक शक्ति के ही कारण स्पेन तथा पुर्त्तगाल को सकट के समय उचित सहायता देने मे समर्थ हो सका। वास्तव मे उसकी प्रबल जलशक्ति ने ही उस पर कोई भीषण सकट नहीं उपस्थित होने दिया और दुर्दिन के समय क्षति होने से उसकी रक्षा कर ली।

नेपोलियन का इतिहास में स्थान

इतिहास मे नेपोलियन का क्या स्थान है, इस पर इतिहासकारों के बीच एकमत नहीं है। किसी ने उसके एक पक्ष पर जोर दिया है तो दूसरे ने अन्य पक्ष पर। किसीने उसका धवल रूप देखा है तो किसी ने केवल कुरूपता ही देखी है। यह ठीक है कि वह बड़ा ही महत्त्वाकाक्षी, अहकारी तथा क्रूर था, वह अपनी आकाक्षाओ की पूर्त्ति के लिए मनुष्यो की स्वतन्त्रता तथा प्राण का अपहरण करने मे नहीं हिचकता था, लेकिन अच्छा और बुरा पक्ष तो हर मनुष्य का होता है, यद्यपि दोना पक्षो में कमी-बेशी होती हैं। यदि निष्पक्षरूप से विचार किया जाय तो नेपोलियन को भी आधुनिक काल का एक महान् व्यक्ति कहा जा सकता है। सैन्य-सगठन तथा युद्धकला मे वह बेजोड़ था। उसमे अदम्य उत्साह भरा हुआ था जो जगलो और पहाडो को भी लाँघ सकता था। वह सिकन्दर तथा सीजर के समान शूरवीर और साहसी था। वह अपने सैनिको का प्रियपात्र था। एक बार बिगुल बजा कि सभी सैनिक अपने प्राण को हथेली पर रख रणक्षेत्र मे कूद पड़ते थे। उसकी एक और विशेषता यह थी कि वह प्रबुद्ध तथा कुशल शासक भी था। वह अपनी प्रजा का भी शुभचिन्तक था। उसकी निरकुशता मे उदारवादिता का समावेश था। उसने जनहित के अनेक उपयोगी कार्य किए। उसने सामन्तवाद को मिटा दिया, धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया और शिक्षा तथा वाणिज्य-व्यवसाय को प्रोत्साहित किया।

नेपोलियन फ्रासीसी क्रान्ति की बहुमूल्य देन था। अत. उसे 'क्रान्ति का शिशु' कहा जाता है। वह स्वय कहा करता था कि 'मै राज्यक्रान्ति हूँ'। उसने क्रान्ति के सर्वोत्तम तत्त्वो की रक्षा की। जिस तरह सिकन्दर ने यूनानी सभ्यता का प्रचार किया उसी तरह नेपोलियन ने क्राति के सिद्धान्तों का फ्रास की सीमा से बाहर प्रचार किया। यूरोप के गगन-मडल में क्रान्ति का वातावरण छा गया और शोषित तथा पीडित जनता में गुलामी की

बेडी तोड फेकने की भावना जागरित हो उठी। यह भावना कुछ काल तक जरूर दबाई गई, किन्तु इसे कुचलना सम्भव नहीं था। जितना ही अधिक इस भावना को दबाने का प्रयत्न किया गया उतना ही अधिक यह शक्तिशाली होती गई और अन्त मे दबाने वाले भी इसके प्रवाह मे बह गए। उसने इटली तथा जर्मनी के निवासियो को सगठन का मत्र पढ़ाया और उसने जो नीव खडी की उसी पर आगे चल कर उन राज्यो का विशाल राष्ट्रीय महल बना। इस तरह उसने फ्रास तथा यूरोप की भलाई की, मानव-समाज की सेवा की।

अध्याय २६

राष्ट्रीयता और लोकतंत्र का विकास—यूरोप

भूमिका

राष्ट्रीयता की परिभाषा, इसके तत्त्व और इसकी विजय के विषय मे पहले भी कुछ कहा जा चुका है। मध्ययुग मे तो इस सिद्धान्त का सर्वथा अभाव था। उस समय के दो बडे सगठन—पवित्र रोमन साम्राज्य और चर्च राष्ट्रीयता के आधार पर सगठित नही थे। किन्तु उत्तरकालीन मध्ययुग मे ही राष्ट्रीयता की भावना का उदय होने लगा था और इगलैण्ड, फ्रास, स्पेन तथा स्वीटजरलैण्ड राष्ट्रीय राज्य के रूप मे सगठित हो गए थे। किन्तु यूरोप के अन्य राज्य अभी इस सिद्धान्त से अप्रभावित रहे। आधुनिक युग मे राष्ट्रीयता का सिद्धान्त सर्वव्यापक बन गया है। जैसे मध्ययुग मे सामन्तवाद की प्रधानता थी वैसे ही राष्ट्रीयता आधुनिक युग की एक प्रमुख विशषता है और इसी के आधार पर प्रायः सभी राज्यो का सगठन होने लगा है। प्रत्येक राज्य या देश के निवासी एक ही प्रकार की सभ्यता तथा सस्कृति के पोषक होते हैं। व एक जाति के होते हैं, एक भाषा बोलते हैं और उनकी परम्परा तथा रहन-सहन मे समता होती है। प्राकृतिक तथा मनोवैज्ञानिक ढग से वे अपने को एक दूसरे से निकट अनुभव करते हैं। राजनीतिक दृष्टि से भी उनकी एक इकाई होती है। वस्तुत· लोकतन्त्रवाद राष्ट्रीयता का ही एक अग है और अविच्छिन्न अग है। लोकतन्त्रवाद से मतलव उस सरकार से है जो जनता की हो, जनता के द्वारा चलाई जाती हो और जो जनता के हित के लिए हो। इस तरह राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद में घनिष्ठ सम्पर्क है। लोकतन्त्रवाद को ही जनतन्त्र या प्रजातन्त्र कहते हैं।

राष्ट्रीयता का उत्थान

राष्ट्रीयता के उत्थान के कई कारण हैं। यहूदी इस सिद्धान्त के सर्वप्रथम जन्मदाता माने जाते ह। दीर्घकाल तक अन्य लोग इससे प्रभावित नही हुए, लेकिन मध्ययुग के उत्तरकालीन भाग मे इस सिद्धान्त को प्रमुखता प्राप्त हुई। सामन्तो और राजाओ मे दीर्घ-कालीन सघर्ष हुआ जिसमे राजाओ को सफलता प्राप्त हुई। इस सघर्ष मे जनता के प्रतिनिधियों ने भी राजा की ओर से भाग लिया था और सामन्तो को दबाया था। इस घटना ने राष्ट्रीयता को बड़ा ही प्रोत्साहित किया। निपुण तथा शक्तिशाली राजा के नेतृत्व मे राष्ट्रीयता का अधिक विकास हुआ और जहाँ का राजा कमजोर था वहाँ यह भावना

दीर्घकाल तक विकसित नही हुई। अत. यूरोप के सभी राज्यो का राष्ट्रीय सगठन एक ही प्रकार से या एक ही बार मे न हो सका। किसी-किसी देश पर विदेशियों के आक्रमण से भी इस सिद्धान्त को समुचित प्रोत्साहन मिला। इगलैण्ड का फ्रास तथा स्पेन के साथ युद्ध हुआ और इससे तीना देशो मे, खासकर इगलैण्ड मे राष्ट्रीय प्रवृत्ति जाग्रत हो उठी। मूरो के आक्रमण और आधिपत्य से स्पेन-वासिया का राष्ट्रीय सगठन हुआ। वे स्पेन से बहिष्कृत कर दिए गए।

पुनरुत्थान तथा धर्मसुधार आन्दोलन ने भी राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को विकसित किया। पुनरुत्थान आन्दोलन ने लोगो के मानसिक दृष्टिकोण को विस्तृत किया जिससे बौद्धिक विकास हुआ। बौद्धिक विकास होने से राष्ट्रीय विकास मे सहायता मिली। धर्म-सुधार आन्दोलन से धार्मिक सघर्ष पैदा हुआ और इससे राष्ट्रीय सगठन में सहायता पहुँची। राष्ट्रीय चर्च की स्थापना राष्ट्रीय गौरव का ही प्रतीक था। हेनरी अष्टम के समय पोप से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ और एलिजाबेथ के समय मे स्पेनी आर्मडा की पराजय हुई। आर्मडा की पराजय से अँग्रेजों के राष्ट्रीय गौरव मे वृद्धि हुई। कैथोलिक स्पेन तथा फ्रास से कुछ स्टुअर्ट राजाओ की मित्रता को राष्ट्रीय अपमान समझा गया और इससे अँग्रेजी जनता अपने शासक से रुष्ट हो गई। प्रोटेस्टेंट नीदरलैण्ड वासियो ने कैथोलिक स्पेन की स्वेच्छाचारिता, असहिष्णुता तथा शोषण की नीति से ऊब कर इसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और वे स्वतन्त्र हो गए। इसी राष्ट्रीयता को भावना से प्रभावित होकर उन्होने विलियम तृतीय के नेतृत्व मे कैथोलिक फ्रास के शक्तिशाली राजा लूई चतुर्दश को चुनौती दी। पूर्वाय सामुद्रिक मार्ग की खोज तथा समुद्र पार व्यापार के विस्तार ने भी राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया।

इन सभी बातों के अतिरिक्त कई देशो मे ऐसे राष्ट्रीय लेखक उत्पन्न हुए जिन्होने अपने लेखो द्वारा राष्ट्रीयता का प्रचार किया। मेकियाबेली ऐसा ही एक प्रमुख लेखक था जो इटली का निवासी था।

इस दिशा मे फ्रासीसी क्रान्ति की देन की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अब तक राष्ट्रीयता के क्षेत्र तथा प्रभाव सीमित तथा सकुचित थे, किन्तु क्रान्ति ने इसके क्षेत्र तथा प्रभाव को व्यापक और विस्तृत बना दिया। क्रान्ति के पश्चात् सारा यूरोप राष्ट्रीयता के वेग से उद्विग्न हो उठा। सभी पराधीन देशो मे नेपोलियन की साम्राज्यवादिता का सगठित विरोध हुआ। १८०८ ई० मे स्पेन, पुर्त्तगाल, इटली और जर्मनी मे राष्ट्रीय विप्लव हुए। आस्ट्रिया तथा रूस ने भी नेपोलियन की नीति का विरोध किया। अत मे राष्ट्रीयता की भावना ने ही नेपोलियन को कुचल डाला। १८१३ ई० मे लिपजिग का युद्ध हुआ

जिसमे कई राष्ट्रों ने भाग लिया था। अत· यह राष्ट्रो का युद्ध ही कहा जाता है और इसमें नेपोलियन पराजित भी हुआ।

राष्ट्रीयता, लोकसत्ता, स्वतन्त्रता और समानता—ये फ्रासीसी राज्य-क्रान्ति के पवित्र मन्त्र तथा सन्देश थे। इनके नाम पर सहस्रो और करोडो नर-नारियों का बलिदान हुआ है—रक्त को धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। शक्ति, सत्ता तथा स्वार्थ से मदान्ध पुरुष इन सिद्धान्तो के समर्थको को प्राणदण्ड देते हैं—फाँसी के तख्तों पर झुला देते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि सेनिको के आक्रमण का सामना किया जा सकता है, सिद्धान्तो के प्रचार का नही और व्यक्तियो के नाश होने से सिद्धान्तो का नाश नही होता। मरना तो मानव जन्म मे ही निहित है। यदि किसी विचार के दबाने के हेतु किसी व्यक्ति का प्राण हरण किया जाता है तो उसके मरने के बाद भी उसका विचार उसके पीछे रह जाता है और उसके खून से वह और भी पुष्ट हो जाता है। ऐतिहासिक सत्य तो यह है कि सिद्धान्तो को दमन करने का जितना ही अधिक प्रयत्न किया जाता है, उतना ही अधिक उनका प्रचार होता है और अन्त मे मानव-रक्त से अपना हाथ रजित करने वाला सत्ताधारी भी स्वय उनके वेग मे बह जाता है। नेपोलियन पराजित हुआ, कैद हुआ और उसका मरण भी हुआ, पर क्या फ्रासोसी राज्यक्रान्ति के सिद्धान्त भी पराजित और कैद हुए? क्या इनका भी सेंट हेलेना के द्वोप मे विनाश हुआ? क्रान्ति के सिद्धान्त तो सर्वसाधारण के हृदय-पट पर अकित थे—उनके कर्ण-पट मे गूँज रहे थे। पृथ्वी पर ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जो हृदय-पट के इस अकन को मिटाती—कर्णपट के इस गुजन को बन्द करती। '१६वी और २०वी शताब्दी मे मानव-समाज ने इन सिद्धान्तो को कार्यान्वित करने का भरपूर प्रयत्न किया है और इसे अपने प्रयत्नों मे आशातीत सफलता भी मिली है।

वियना की व्यवस्था

१८१५ ई० के पेरिस की व्यवस्था तथा इसकी त्रुटियों का विवेचन किया जा चुका है। यह व्यवस्था पुरानी परम्परा पर आधारित थी और इसमें क्रान्ति के सिद्धान्तों की उपेक्षा की गई। यूरोप के निरकुश राजाओं ने क्रान्ति और अराजकता को पर्यायवाची शब्द समझ रखा था। उन्होंने राज्यक्रान्ति को राजतन्त्र के विरुद्ध आवारो का विद्रोह मान लिया था। अतः क्रान्ति के सिद्धान्तों के प्रति उनका दृष्टिकोण घृणात्मक तथा सकीर्ण था। आस्ट्रिया का चासलर मेटरनिक इस प्रतिक्रिया का महान् पोषक था। वह निरंकुशता के दुर्ग में एक छिद्र भी नही देखना चाहता था और इसकी सुरक्षा के लिए उसने भरपूर प्रयत्न किया। वियना की व्यवस्था की रक्षा के हेतु दो सघ कायम हुए। (क) पवित्र सघ—इसमें रूस, प्रशा तथा आस्ट्रिया सम्मिलित थे। इसका काम इसके नाम के ठीक विपरीत था।

(ख) चतुष्टय सघ—इसमें पवित्र सघ के सदस्यों के अतिरिक्त इगलैण्ड शामिल था और कुछ काल के बाद फ्रास भी इसका सदस्य बना। इसका उद्देश्य था कि राजनीतिक समस्याओ का समाधान सलाह तथा समझौते के द्वारा किया जायगा। लेकिन इगलैण्ड को छोडकर सभी सदस्य स्वार्थी और स्वेच्छाचारिता के समर्थक थे। वे अन्य राज्यो के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करने लगे। अन. इगलैण्ड सघ से अलग हो गया और इसकी रीढ टूट गई। सघ के अन्य सदस्यो मे भी पारम्परिक ईर्ष्या-द्वेष की भावना थी। अत. एक दशाब्दी के भीतर ही सघ का अन्त हो गया और फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के सिद्धान्तो की क्रमशः विजय होने लगी। राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र की भावनाओं ने वियना के प्रतिक्रियावादी निर्णय को पलट दिया। इनकी विजय १९वी शताब्दी के इतिहास की एक प्रमुख विशेषता है।

स्पेन

सर्वप्रथम स्पेन मे राष्ट्रीय आन्दोलन का बिगुल बजा। १८०८ ई० मे नेपोलियन ने अपने भाई जोसेफ को स्पेन का राजा नियुक्त किया। स्पेनवासियो ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उसे गद्दी का परित्याग करना पड़ा। १८१५ ई० के बाद दक्षिणी अमेरिका मे स्पेनी उपनिवेशो ने भी स्पेन का विरोध किया और अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। स्पेन राष्ट्रीय शक्ति का सामना करने मे असमर्थ रहा। अत· उसने यूरोप के दूसरे देशो से मदद मांगी। प्रतिक्रिया का अवतार मेटरनिक ने सहायता देनी चाही किन्तु इगलैण्ड ने सहयोग नही दिया। इस बीच राष्ट्रीयता के आधार पर प्रेसिडेंट मुनरो ने भी यूरोपियनो को अमेरिका मे हस्तक्षेप नहीं करने का आदेश दिया। लगभग उसी समय मक्सिको, कोलम्बिया, पीरू और चिली के राज्य स्वतन्त्र हुए। ब्राजील को भी पुर्त्तगाल के चगुल से स्वतन्त्रता मिल गई। इस तरह १८३० ई० तक लगभग सम्पूर्ण दक्षिणी अमेरिका को यूरोप के शासन से मुक्ति मिल गई और वह स्वाधीनता की सॉस लेने लगा।

यूनान तथा सर्बिया

यूरोप के अन्य देशो मे भी राष्ट्रवाद तथा लोकतन्त्रवाद की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी और मेटरनिक के एडी-चोटी का पसीना एक करने पर भी उसकी लौ मन्द न पडी। यूनान में राष्ट्रीयता की गौरवपूर्ण विजय हुई। लगभग चार शताब्दियो से यूनान तुर्की साम्राज्य का अग था और पराधीनता की बेडी मे जकड़ा हुआ था। यूनानी इससे असन्तुष्ट थे और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए मौके की ताक मे थे। १८२१ ई० में उन्होने स्वातन्त्र्य सग्राम छेड़ दिया। लेकिन उनमें वह शक्ति नहीं थी जिसका प्रदर्शन उन्होने ५वीं सदी ई० पू० में किया था। इस बार उन्हें विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ी। इगलैण्ड ने यूनान को सहयोग प्रदान किया और वहाँ से स्वय-

सेवको का झुण्ड भेजा गया। सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि लार्ड बायरन ने भी इसमे सक्रिय भाग लिया। रूस तथा फ्रास ने भी यूनान की सहायता की। फलस्वरूप १६२६ ई० मे यूनान को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। इसी समय लाचारीवश टर्की ने सर्बिया को भी आन्तरिक स्वतन्त्रता दे डाली। इस प्रकार राष्ट्रीय प्रगति ने तुर्की साम्राज्य की जड खोद दी और साथ ही इसने यूरोपीय राजनीति को भी प्रभावित किया।

फ्रांस

नेपोलियन के पतन के बाद १५ वर्षो तक फ्रास मे शान्ति बनी रही। वह एक राष्ट्रीय राज्य तो था ही, किन्तु प्रजातन्त्र नही था। १८१५ और १८३० ई० के बीच लूई १८वों और चार्ल्स दशम् वहाँ के शासक थे। शासन निरकुश और ज्ञान-शून्य था। अत' १८३० ई० मे फ्रास मे फिर दूसरी बार क्रान्ति हुई। उदारवादियो ने स्वेच्छाचारी चार्ल्स दशम् को गद्दी से उतार दिया। लूई फिलिप वैधानिक शासक के रूप मे सिहासनासीन हुआ। इस घटना से यूरोप के अन्य देशो मे भी विद्रोह के लिए प्रोत्साहन मिला। विद्रोह कही सफल रहा और कही असफल।

फ्रास का वैधानिक राजतन्त्र १८ वर्षों तक कायम रहा। १८४८ ई० में तीसरी बार क्रान्ति हुई। लूई फिलिप गद्दी से उदार दिया गया और फ्रास मे दूसरे गणराज्य की स्थापना हुई। किन्तु यह गणतन्त्र स्थायी न रह सका। नरमपन्थियों और उग्रपन्थियो मे एकता का अभाव था। इससे लाभ उठाकर नेपोलियन बोनापार्ट का भतीजा लूई नेपोलियन ने गणराज्य का अन्त कर डाला और १८५२ ई० मे नेपोलियन तृतीय के नाम से सम्राट बन बैठा। उसने निरकुश शासन मे उदारवादिता का समावेश करना चाहा किन्तु उसका शासन असफल रहा। १८७० ई० मे उसने प्रशा के साथ युद्ध शुरू कर दिया जो उसके पतन का सूचक था। फ्रास की हार हो गई और आल्सेस तथा लोरेन दो प्रसिद्ध व्यावसायिक क्षेत्र उसके हाथ से निकल गए। अब उसके शासन का भी अन्त हो गया और फ्रास में तीसरी बार गणतन्त्र की स्थापना हुई। यह गणतन्त्र १६४० ई० तक कायम रहा।

बेल्जियम

फ्रास की दूसरी क्रान्ति से प्रभावित होकर बेल्जियम ने हॉलैण्ड के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। बेल्जियम तथा हॉलैण्ड के लोगो मे मौलिक मतभेद था। हॉलैण्ड-निवासी प्रोटेस्टेंट थे, बेल्जियम-निवासी रोमन कैथोलिक। फिर भी उन्हें एक राज्य के अन्दर सयुक्त कर दिया गया। सयुक्त राज्य की राजधानी हेग मे रखी गई और डच भाषा ही राजभाषा स्वीकृत की गई। राज्य के सभी मुख्य पदो पर डच लोग ही नियुक्त किए जाते थे। बेल्जियम वालो की कुछ नही चलती थी। अन्याय का बाजार गर्म था। लेकिन मनुष्य के धैर्य की भी सीमा होती है। बेल्जियम वालो ने डचों के विरुद्ध एक दिन विद्रोह

कर डाला और अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। यूरोप के राज्यों ने भी उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली।

पोलैण्ड ने भी रूस के विरुद्ध विद्रोह किया किन्तु जार ने इसे निर्दयतापूर्वक दबा दिया। आस्ट्रिया के साम्राज्य मे भी राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो रही थी। क्रोशिया और डालमेशिया के स्लाव, हंग्री के मगयर और उत्तरी इटली के निवासी राष्ट्रीय एकता के लिए बेचैन थे। १८४८ ई० में यूरोप के अधिकाश भागो मे क्रान्ति की अग्नि भभक उठी और यह साल 'क्रान्ति के साल' के नाम से विख्यात हो गया। किन्तु क्रान्ति सर्वत्र सफल नहीं हुई। मेटरनिक ने आन्दोलन को अपने जीवन-काल मे अधिक बढ़ने नही दिया।

इस तरह कही-कही राष्ट्रवादी अपने प्रयत्न मे असफल रहे लेकिन वे निराश नहीं हुए। उनका धैर्य और साहस बना रहा और राष्ट्रीय आन्दोलन विभिन्न देशो मे धीरे-धीरे सशक्त होता गया। इटली तथा जर्मनी की राजनीतिक एकता राष्ट्रीयता के इतिहास मे गौरवपूर्ण अध्याय है।

इटली का एकीकरण

१८१५ ई० की परिस्थिति

नेपोलियन की विजय से इटली में राष्ट्रीय भावना प्रस्फुटित हुई। उसने इटली को तीन भागो मे विभाजित किया था और प्रत्येक भाग मे उसी की प्रधानता थी। अब इटली के राज्यों का एकीकरण सम्भव प्रतीत हुआ। परन्तु १८१५ ई० में वियना की काग्रेस ने इस आशा पर पानी फेर दिया। इटली एक विशाल देश होते हुए भी केवल भौगोलिक चिन्हमात्र रह गया। इसे कई छोटे-छोटे राज्यों मे विभक्त कर दिया गया और वहाँ विदेशियो की सत्ता स्थापित कर दी गई। उत्तर मे वेनिस तथा लोम्बार्डी के प्रान्त आस्ट्रिया को सौंप दिए गए, मध्य मे परमा, मोडेना और टस्कनी के राज्य आस्ट्रिया के सम्राट के ही निकट सम्बन्धियो को दिये गए, रोम के निकट के राज्यो में पोप के नेतृत्व मे चर्च का शासन स्थापित हुआ, दक्षिण मे नेपुल्स तथा सिसली के पुराने बोर्बन वश का शासक नियुक्त किया गया। उत्तरी-पश्चिमी कोने में सार्डीनिया का एकमात्र देशी राज्य था जिसमे पीडमौंट को मिला दिया गया। इस प्रकार यूरोप के प्रतिक्रियावादियों ने इटली की एकता की सम्भावना को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया। किन्तु, नेपोलियन ने राष्ट्रीयता के जिस बीज का वपन किया वह निर्मूल नहीं हो सका और समय पाकर फूलने-फलने लगा।

इटली के देशभक्त—मेजिनी तथा गैरीबाल्डी

देश की दयनीय दशा देखकर इटली के देशभक्त क्षुब्ध थे। उन्होंने इस स्थिति में

सुधार लाने का प्रयत्न किया। किन्तु वे विदेशियों का सामना करने मं समर्थ नही थे। अत. उन्होने प्रारम्भ में गुप्त सस्थाएँ कायम की। कारबोनरी ऐसी ही एक सस्था थी जिसने नेपुल्स के शासक पर विधान स्वीकृत करने के लिए दबाव डाला। लेकिन आस्ट्रिया ने इस सस्था को दबा दिया।१८३० ई० मे चर्च के राज्यो मे विद्रोह हुआ और आस्ट्रिया ने उसे भी दबा दिया।

लेकिन इटली के लोगा मे स्वतन्त्रता तथा देशभक्ति की जो भावना जाग्रत हो उठी थी उसे सदा के लिए सैन्यशक्ति से शान्त करना सम्भव नहीं था। देश के रग-मच पर कुछ ऐसे वीर नर-पुगवों का आगमन हुआ जिन्होंने एकता स्थापित करने के लिए कमर कस लिया था। इनमे मेजिनी तथा गैरीबाल्डी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मेजनी (१८०५-७२ ई०) पहले कारबोनरी का एक सदस्य था, किन्तु १८३१ ई० मे उसने 'तरुण इटली' नामक एक राजनीतिक सस्था स्थापित की। इसका उद्देश्य था विदेशी शासन का अन्त कर इटली मे प्रजातन्त्र की स्थापना करना। इसके लिए शिक्षा का प्रचार और सैन्यशक्ति को सुदृढ करना आवश्यक समझा गया। वह सफल वक्ता तथा कुशल लेखक था। उसने अपनी वक्तृता तथा लेखो द्वारा देशभक्ति, त्याग तथा बलिदान की भावना को विकसित किया। मेजिनी के समान ही गेरीबाल्डी (१८०७-८२ ई०) भी उच्चकोटि का देशप्रेमी था किन्तु उसका रास्ता भिन्न था। वह सैनिक था और सैन्यबल के द्वारा ही इटली का एकीकरण करना चाहता था। उसने नवयुवको की एक सेना भी कायम की जो 'लाल कुर्तियों (रेड शर्ट्स) के नाम से प्रसिद्ध है। ग्युवटी (१८०१-५२) सार्डीनिया का एक कैथोलिक था। वह भी इटली के सगठन का समर्थक था किन्तु वह चाहता था कि इटली का एकीकरण पोप के नेतृत्व मे हो।

१८४८ ई० की क्रान्ति

१८४८ ई० का साल यूरोप के इतिहास में क्रान्ति का साल रहा है। १८४८ ई० में फ्रास मे तीसरी बार क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ। यूरोप के अन्य राज्यो पर भी इसका व्यापक प्रभाव पडा। इटली के देशभक्तो मे भी नवजीवन तथा उत्साह का सचार हुआ और देश को स्वतन्त्र करने के लिए प्रयत्न शुरू हुआ। प्रजातन्त्रवादी मेजिनी, रोम के उदार पोप पायस नवम् और सार्डीनिया के राजा चार्ल्स अलबर्ट ने मिल कर एक सघ कायम किया। किन्तु सघ की नीव कमजोर थी क्योकि इसके सदस्यों मे मौलिक मतभेद था। पोप को प्रजातन्त्रवादियो से भय था क्योकि वे किसी धर्म या सम्प्रदाय के समर्थक नही थे। इससे यह सम्भव था कि आस्ट्रिया पोप से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता। अलबर्ट भी योग्य सेनानायक नहीं था और आस्ट्रिया की सेना ने उसे दो युद्धों मे हरा दिया। मेजिनी तथा गैरीबाल्डी ने पोप को पदच्युत कर रोम मे लोकतन्त्र स्थापित किया, लेकिन फ्रासीसी

सेना के द्वारा वे पराभूत हो गए और पोप का पुन राज्यारोहण हुआ। इस प्रकार इटली के नेता अपने प्रयत्न में असफल रहे किन्तु उनका प्रयत्न पूर्णरूपेण व्यर्थ नहीं सिद्ध हुआ। इससे उन्हें लाभ भी हुए। यह स्पष्ट हो गया कि देश का एक राजकुमार स्वातन्त्र्य आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिये तैयार है। दूसरी बात यह थी कि विदेशी सत्ता के विरुद्ध पहले पहल इटली के लोगों ने सयुक्त प्रयत्न किया था। इससे उनमे एकता की भावना विकसित हुई।

विक्टर इमैनुएल तथा कावूर

चार्ल्स अलबर्ट ने आस्ट्रिया के द्वारा पराजित होने पर राज्य का परित्याग कर दिया और उसका उत्तराधिकारी विक्टर ईमैनुएल द्वितीय के नाम से सिंहासनारूढ हुआ। १८५२ ई० मे इमैनुएल ने कावूर (१८१०-६१ ई०) को अपना प्रधान मत्री बनाया। अब राजा और मत्री—दोनो ने इटली के राष्ट्रीय सगठन का बीडा उठाया। दोनो ही उदारवादी, योग्य तथा दूरदर्शी व्यक्ति थे। कावूर उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ था। उसकी प्रतिभा असाधारण थी। वह सार्डीनिया के राजा के नेतृत्व मे इटली का एकीकरण करना चाहता था। उसने इगलैण्ड की सहानुभूति प्राप्त की। लेकिन इतना ही पर्याप्त न था, विदेशी सहायता की भी आवश्यकता थी। यह सहायता केवल फ्रास से ही मिल सकती थी। फ्रास का राजा नेपोलियन तृतीय था। वह नेपोलियन प्रथम का भतीजा था और अपने चाचा के समान ही यश तथा नाम के लिए उत्सुक था। वह इटली की राजनीतिक सस्था कारबोनरी का भी सदस्य रह चुका था। अत कावूर को विश्वास हो गया कि नेपोलियन तृतीय अवश्य ही उसका साथ देगा। १८५३ ई० मे क्रीमियाँ के युद्ध मे कावूर ने फ्रास की सहायता के लिए सार्डीनिया की सेना भेजी। अब नेपोलियन कावूर के प्रति कृतज्ञ बन गया और सार्डीनिया की सहायता करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो गया। इमैनुएल और कावूर के प्रयास सफल हुए किन्तु इटली को एकता शीघ्र ही प्राप्त नहीं हुई। इसमे पर्याप्त समय लगा और इसे कई सीढियों से गुजरना पड़ा।

प्रथम सीढ़ी—नेपोलियन तृतीय के नेतृत्व मे फ्रासीसी सेना ने इटली मे आस्ट्रिया पर आक्रमण किया। आस्ट्रिया की दो युद्धो मे पराजय हुई। कावूर के हर्ष का अन्त न था। लोगों को ऐसी आशा हो गई कि अब आस्ट्रिया का इटली से बहिष्कार हो चुका। लेकिन लोगों की आशा पर शीघ्र ही पानी फिर गया, जब नेपोलियन ने अचानक आस्ट्रिया से सन्धि कर ली। यह एक बड़ी ही आश्चर्यजनक घटना हुई। नेपोलियन के इस निर्णय के कई कारण थे। उसके हृदय मे सयुक्त इटली के भविष्य में फ्रास के लिए सकट की आशका उत्पन्न हो गई। दूसरे, प्रशा आस्ट्रिया को मदद करने के हेतु राइन नदी के निकट सेना भेजने लगा। तीसरे, इटली के एकीकरण से इमैनुएल की महत्ता तथा गौरव

मे वृद्धि हो रही थी। इन्ही सब कारणों से नेपोलियन ने विजय के मध्य ही आस्ट्रिया से सन्धि कर ली। अत. केवल लोम्बार्डी सार्डीनिया के राज्य मे सम्मिलित हुआ और वेनिस आस्ट्रिया के ही अधीन रह गया। उत्तरी इटली की एकता अपूर्ण रह गई।

चित्र १२—इटली का एकीकरण

द्वितीय सीढ़ी—इसी समय मध्य इटली के राज्य मोडेना, परमा, टस्कनी तथा रोमेग्ना ने अपने शासको के विरुद्ध विद्रोह कर उन्हें खदेड़ दिया। वे सार्डिनिया के राज्य मे सम्मिलित होना चाहते थे। किन्तु आस्ट्रिया ने इनके विलयन का विरोध किया। कावूर ने नेपोलियन तृतीय को नीस तथा सेवाय देकर उसका समर्थन प्राप्त कर लिया और मध्य इटली के राज्यो को सार्डीनिया के राज्य में मिला लिया।

तृतीय सीढ़ी—सिसली वालों ने भी बोर्बन शासक के विरुद्ध विद्रोह किया। वीर सेनानायक गैरीबाल्डी ने एक सहस्र लाल कुर्ती वाले सैनिकों को लेकर सिसली तथा नेपुल्स पर अधिकार कर लिया और १८६० ई० में ये सार्डीनिया के राज्य के अग बन गये।

चौथी सीढ़ी—अब पोप के राज्य रोम और वेनिस सयुक्त इटली से अलग रह गये। गैरीबाल्डी रोम पर भी धावा बोलना चाहता था। लेकिन इससे फ्रास के साथ युद्ध छिड़ जाने की आशका थी, क्योकि पोप की सहायता के लिये फ्रासीसी सेना रोम में बैठी थी।

अतः कावूर ने गैरीबाल्डी का समर्थन नहीं किया। लेकिन इमैनुएल ने अपनी सेना के साथ पोप क राज्य मे प्रवेश किया। फलस्वरूप कई प्रदेश उसके अधीन आ गए। यह राष्ट्रवादियो का चौथा प्रयास था। १८६१ ई० मे प्रथम इटालियन पार्लियामेंट की बैठक हुई जिसमे इमैनुएल सयुक्त इटली का राजा घोषित किया गया। इसके कुछ दिनो के पश्चात् कावूर की मृत्यु भी हो गई।

पाँचवी और छठी सीढ़ियाँ—१८६६ ई० में प्रशा ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया। उसी समय इटली की सेना ने वेनिस पर भी चढाई कर दी किन्तु इसे मुँहकी खानी पड़ी। परन्तु प्रशा विजयी हुआ और उसी के प्रयास से वेनिस इटली को प्राप्त हो गया। अब केवल रोम बच रहा। १८७० ई० मे प्रशा तथा फ्रास के बीच युद्ध छिड़ा। फ्रास को अपनी सेना रोम से वापस बुलानी पड़ी। इसी सुअवसर को पाकर इमैनुएल ने रोम पर अधिकार कर लिया। अब इटली की राजधानी फ्यूरिन से हटाकर रोम मे कायम की गई। पोप की सासारिक शक्ति का अन्त हो गया। इस प्रकार लगभग २० वर्षों मे इटली को एकता प्राप्त हो सकी और वह एक राष्ट्रीय राज्य मे परिवर्तित हो सका।

जर्मनी का एकीकरण

१८४८ ई० के पूर्व जर्मनी की स्थिति—इटली की भाँति जर्मनी मे भी नेपोलियन प्रथम ने राष्ट्रीय भावना को जाग्रत कर एकता के लिए मार्ग प्रस्तुत कर दिया था। किन्तु १८१५ ई० मे यूरोप के प्रतिक्रियावादी निरकुश राजाओं ने जर्मनी की राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे भी रोड़ा अटका दिया। आस्ट्रिया के अधीन ३६ स्वतन्त्र जर्मन राज्यों का एक ढीला-ढाला सघ कायम किया गया। राजनीतिक और वैधानिक आन्दोलन दबा दिये गये। व्यापारिक तथा औद्योगिक विकास के लिए कोई सम्भावना नहीं रही। इस तरह प्रतिक्रिया की विजय हुई परन्तु यह विजय स्थायी नहीं थी। १८४८ ई० तक जर्मनी मे सगठन के दो साधन वर्तमान थे। १८१५ ई० मे जर्मन राज्यों का एक सघ कायम हुआ था जिसकी चर्चा अभी की जा चुकी है। किन्तु इससे एकीकरण के कार्य मे कोई विशेष सहायता नहीं प्राप्त हुई। फिर भी अतीत की तुलना मे सघ का निर्माण भी उपेक्षणीय नहीं था। दूसरे, १८१८ ई० मे प्रशा के नेतृत्व मे एक व्यापारिक सघ कायम हुआ। इसे 'जोलवेरिन' भी कहा जाता है। इसके द्वारा जर्मनी के सभी राज्यों ने व्यापारिक क्षेत्र मे सभी पारस्परिक बन्धनो को तोड़ दिया। इससे जर्मनी मे प्रशा के नेतृत्व में व्यापारिक एकता स्थापित हो गई। शुरू मे १८ राज्य इसमे सम्मिलित थे किन्तु धीरे-धीरे आस्ट्रिया को छोड़कर सभी जर्मन राज्य इसमे शामिल हो गये। व्यापारिक एकता की स्थापना से राजनीतिक एकता के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। अतः एकता के कार्य-सम्पादन मे व्यापारिक सघ से यथेष्ट सहायता मिली।

१८४८ ई० की क्रान्ति

१८३० ई० की क्रान्ति का जर्मनो पर व्यापक प्रभाव नहीं पडा। किन्तु १८४८ ई० की क्रान्ति ने जर्मनी मे उथल-पुथल मचा दिया। वहाँ के उदारवादियो ने राष्ट्रीय एकता के लिए अथक परिश्रम किया। जर्मनी का विधान बनाने के हेतु फ्रैंकफर्ट मे राष्ट्रीय पार्लियामेंट की बैठक की गई। पार्लियामेंट ने प्रशा के राजा फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ को राजमुकुट समर्पित किया। परन्तु उसने राजमुकुट स्वीकार नही किया। उसे आस्ट्रिया से भय था। राजमुकुट स्वीकार करने से आस्ट्रिया के साथ युद्ध को आशका थी, जिसे वह मोल लेना नही चाहता था। अब पार्लियामेंट मे गतिरोध पैदा हो गया और कोई ठोस कार्य नहीं हो सका। फ्रेडरिक विलियम ने प्रशा के लिए एक नवीन विधान स्वीकार किया। वह जर्मन राज्यो का एक सघ भी स्थापित करना चाहता था किन्तु आस्ट्रिया के विरोध से उसका प्रयास सफल न हो सका।

१८४८ ई० के बाद

चित्र १३—बिस्मार्क

आस्ट्रिया और प्रशा के बीच ईर्ष्या-द्वेष की भावना बहुत दृढ थी। एक की उन्नति दूसरे को निराशा तथा चिन्ता का विषय थी। अत प्रशा के नेतृत्व मे जर्मन राज्यो का सगठन शान्तिपूर्ण एव वैधानिक ढङ्ग से सम्भव नही प्रतीत होता था। इसके लिये अस्त्र-शस्त्र की नीति आवश्यक थी। १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध मे इसी नीति के समर्थको के लिये जर्मनी का रगमञ्च भी खाली हो गया जिस पर दो विलक्षण पुरुषो का प्रादुर्भाव हुआ—विलियम प्रथम और ओटो वान बिस्मार्क।

विलियम प्रथम तथा बिस्मार्क

फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ के बाद उसका भाई विलियम प्रथम के नाम से प्रशा की गद्दी पर आरूढ हुआ। वह शासक तो था ही, उसमे एक सैनिक के सभी गुण वर्तमान थे। वह व्यावहारिक और दूरदर्शी

था। उसका दृढ विश्वास था कि प्रशा की सारी उन्नति उसकी सैन्य शक्ति पर ही निर्भर करती है। अत: सैनिक सगठन करना नितान्त आवश्यक है। लेकिन इसके लिए अधिक धन-व्यय करने की आवश्यकता थी। प्रशा की पार्लियामेंट इसके पक्ष मे नहीं थी। बिस्मार्क राजा का कट्टर समर्थक था अतः विलियम ने १८६२ ई० मे उस अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया।

बिस्मार्क प्रशा का एक सुशिक्षित जमींदार था। इटली के भाग्य-विधाता कावूर की भाँति वह प्रशा के नेतृत्व में जर्मन राज्यो का सगठन चाहता था। किन्तु उसका साधन भिन्न था। कावूर की तरह वह उदारवादी और वैधानिकता का समर्थक नही था। वह निरकुश राजतन्त्र का प्रबल पक्षपाती था। उसका यह दृढ विश्वास था कि प्रशा के राजा के अधीन हिंसा के द्वारा ही जर्मनो मे एकता स्थापित की जा सकती है। वह वाद-विवाद, भाषण तथा प्रस्तावों को व्यर्थ बतलाता था। अतः उसने लौह तथा रक्तपात की नीति अपनायी। जर्मनी के एकीकरण के लिए वहाँ से आस्ट्रिया का बहिष्कार आवश्यक था और आस्ट्रिया के बहिष्कार के लिए एक विशाल सुसगठित सेना की आवश्यकता थी। इस तरह राजा और मन्त्री दोनो के मतो मे समता थी। बड़ी सभा मे राजपक्ष का ही बहुमत था अब राजा और बडी सभा के सहयोग से छोटी सभा के मत के विरुद्ध सैन्य सगठन का कार्य शुरू हुआ। बिस्मार्क ने सेना मे वृद्धि की और इसका ऐसा सगठन किया कि यह यूरोप में सर्वोत्तम सेना बन गई। इसी सेना के सहारे उसने विरोधियो और दुश्मनों को पराजित किया और जर्मनी की एकता स्थापित की।

डेनमार्क के साथ युद्ध (१८६४ ई०)

स्लेस्विग तथा होल्सटीन के दो उपराज्य थे जहाँ की अधिकाश जनता जर्मन जाति की थी। ये डेनमार्क के राजा के अधीन थे। किन्तु यह तय हो चुका था कि ये डेनमार्क के राज्य में सम्मिलित नही किये जायँगे। इन राज्यों मे स्वतन्त्र कानून लागू थे। परन्तु १८६३ ई० मे डेनमार्क के शासक नवें क्रिश्चियन ने एक ऐसे विधान का निर्माण किया जिससे स्लेस्विग डेनमार्क के राज्य का अग बन जाता। इससे दोनो उपराज्यो के जर्मन-निवासियों मे अशान्ति उत्पन्न हो गई और उन्होने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करनी चाही। इसी मौके पर बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को अपने पक्ष मे कर लिया और दोनो की सम्मिलित सेना ने डेनमार्क पर चढ़ाई कर दी। क्रिश्चियन पराजित हुआ और उसने दोनो उपराज्यों को विजेताओं के हाथ मे सौंप दिया।

आस्ट्रिया के साथ युद्ध (१८६६ ई०)

बिस्मार्क आस्ट्रिया के साथ युद्ध का बहाना ढूँढ़ रहा था। विजित उपराज्यो के विभाजन पर प्रशा और आस्ट्रिया में मतभेद हो गया जिससे दोनो मे युद्ध अनिवार्य हो गया।

बिस्मार्क ने कूटनीति से आस्ट्रिया को मित्रहीन बना दिया। उसने इटली को वेनिस देने का वादा कर उसकी मित्रता प्राप्त की। रूस तटस्थ रहा क्योंकि पोलो के विद्रोह के समय बिस्मार्क ने रूस को मदद करने का वादा किया था। नेपोलियन तृतीय भी तटस्थ रहा। उसे बिस्मार्क की शक्ति के विषय मे पूरी जानकारी नही थी। उसने अनुमान किया कि आस्ट्रिया के साथ युद्ध दीर्घकाल तक जारी रहेगा जिसमे दोनो राज्यो की • क्षति होगी और अन्त मे उसे जर्मनी मे हस्तक्षेप करने का सुअवसर प्राप्त होगा। ऐसा अनुमान उसकी भूल साबित हुई। इस तरह परिस्थिति अनुकूल बनाकर प्रशा ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया। सैडोवा मे युद्ध हुआ जो सात ही सप्ताह तक जारी रह सका। आस्ट्रिया को आत्मसमर्पण करना पड़ा और प्रेग की सन्धि हुई। १८१५ ई० का जर्मन सघ टूट गया और आस्ट्रिया जर्मनी का राज्य नही रह गया। प्रशा ने स्क्लेस्विग, होल्सटीन तथा कुछ अन्य राज्यों को अपने मे आत्मसात कर लिया। जर्मनी का सगठन करने के लिये प्रशा को अधिकार दिया गया। प्रशा ने अपने नेतृत्व मे उत्तर के राज्यो को मिलाकर एक 'उत्तर जर्मन सघ' कायम किया। शासन-प्रबन्ध के लिये एक सघीय कौसिल तथा एसेम्बली की स्थापना हुई। इस प्रकार उत्तरी जर्मनी की एकता तो स्थापित हो गई लेकिन अभी दक्षिणी जर्मनी के राज्य अलग-अलग रहे। इन राज्यो के शामिल हुए बिना जर्मनी की एकता अपूर्ण ही थी।

फ्रास के साथ युद्ध, १८७०-७१ ई०

जर्मनी की एकता को पूर्ण करने के लिए बिस्मार्क ने फ्रास के साथ युद्ध आवश्यक समझा। उसका ख्याल था कि फ्रास के साथ युद्ध होने पर जर्मनी के दक्षिणी राज्य भी प्रशा के नेतृत्व मे शत्रु का सामना करेंगे और अन्त मे जर्मन सघ में सम्मिलित होगे। दूसरी ओर फ्रास का नेपोलियन तृतीय भी प्रशा के साथ युद्ध चाहता था। उसकी अनिर्णयात्मक तथा सकीर्ण नीति के कारण फ्रास का गौरव यूरोप मे लुप्त हो रहा था। सैडोवा के युद्ध मे फ्रास आस्ट्रिया के बदले अपने को ही पराजित समझ रहा था। वह अपनी सीमा पर किसी सबल राज्य को स्थापित होने देना नहीं चाहता था। लेकिन जर्मनी एक शक्तिशाली राज्य के रूप मे धीरे-धीरे परिवर्तित हो रहा था। इससे फ्रास मे क्षोभ उत्पन्न हो रहा था और इस स्थिति के लिए नेपोलियन तृतीय ही उत्तरदायी समझा जाता था। नेपोलियन प्रशा के साथ युद्ध करके विजयी बनकर अपने खोये हुए गौरव को प्राप्त करना चाहता था। उसका यह भी विश्वास था कि जर्मनी के दक्षिणी राज्य फ्रास को प्रशा के विरुद्ध सहयोग देंगे। इस तरह अपने-अपने स्वार्थ के अनुसार नेपोलियन तथा बिस्मार्क ने अनुमान किया लेकिन समय ने बिस्मार्क के ही अनुमान को सत्य सिद्ध किया।

अब दोनो ही युद्ध के लिए वातावरण तैयार करने लगे। आस्ट्रिया के साथ युद्ध के समय फ्रास तटस्थ रहा, अतः उसे कोई लाभ नहीं हो सका। नेपोलियन ने क्षतिपूर्ति की

माँग पेश की, बिस्मार्क ने इसकी उपेक्षा कर दी। जब नेपोलियन ने लक्सेमबर्ग लेना चाहा तो बिस्मार्क ने इसमे भी बाधा उत्पन्न की। इस प्रकार दोनो के हृदय मे कटुता पैदा होने लगी। इसी समय स्पेन की गद्दी खाली पडी थी। इसके लिए जर्मनी के एक राजकुमार ल्योपोल्ड को चुना गया लेकिन फ्रास ने इसका घोर विरोध किया। ल्योपोल्ड को स्पेन का सिंहासन बाध्य होकर अस्वीकार करना पडा। यह बिस्मार्क की प्रथम कूटनीतिक पराजय थी। फिर भी नेपोलियन इतने ही से सन्तुष्ट नहा हुआ। वह प्रशा के सम्राट विलियम से प्रतिज्ञा करवाना चाहता था कि वह ल्योपोल्ड के पक्ष का कभी भी समर्थन नहा करे। विलियम ने ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की। उसने फ्रासीसी दूत से भेंट तक नहीं की। उसने इन सभी बातो की खबर एक तार के द्वारा बिस्मार्क को दे दी। बिस्मार्क ने कुछ हेर-फेर कर तार को पत्रो मे प्रकाशित कर दिया जिससे यह आशय निकलता था कि विलियम ने फ्रास के दूत का अपमान किया है। बस, अब क्या था ? जिस अवसर की प्रतीक्षा हो रही थी वह आ गया। फ्रासीसी क्रुद्ध हो उठे और उन्होने प्रशा के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। यह जर्मनी का राष्ट्रीय सघ र्था जिसम दक्षिणी राज्यों ने भी फ्रास के विरुद्ध सक्रिय भाग लिया। सेडान का प्रसिद्ध निर्णयात्मक युद्ध हुआ जिसमे फ्रासीसी पराजित हुए। फैंकफर्ट की सन्धि हुई। फ्रास ने अलसेस-लोरेन का प्रान्त जर्मनी को सौप दिया और क्षतिपूर्ति के रूप मे एक बहुत बडी रकम देने का वादा किया। वादा पूरा होने के समय तक फ्रास के एक भू-भाग पर जर्मन सेना रखने का निश्चय हुआ।

अब जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हो गया। १८७१ ई० मे जर्मन साम्राज्य का निर्माण हुआ और प्रशा के राजा विलियम प्रथम को इस साम्राज्य का सम्राट घोषित किया गया। बर्लिन में इसकी राजधानी स्थापित हुई।

फ्रैंको-जर्मन युद्ध ने इटली की एकता को भी पूर्ण बना दिया। युद्ध के समय फ्रासीसी सेना रोम से वापस बुला ली गई। उसी समय इमैनुएल ने अपनी सेना भेजकर रोम पर अधिकार कर लिया। अब रोम भी इटली मे सम्मिलित हो गया और यही वहाँ की राजधानी निश्चित हुई। अब पोप की भौतिक शक्ति जाती रही और वह वेटिकन मे एक कैदी के रूप मे रहने लगा।

बिस्मार्क का मूल्याकन

बिस्मार्क आधुनिक जर्मनी का निर्माता था। वह परिश्रमी, साहसी तथा दूरदर्शी था। उसकी राजनीतिक प्रतिभा अपूर्व थी और कूटनीति मे वह बेजोड़ था। तत्कालीन यूरोप के राजनीतिज्ञ उसके हाथ के खिलौने थे। उसकी निर्णयात्मक शक्ति विलक्षण थी। एक बार किसी निर्णय पर पहुँचने पर वह उसे पूर्ण करके ही छोड़ता था। वह अच्छी तरह जानता था कि कब, क्या और किस प्रकार करना चाहिए। वह हिंसात्मक नीति का प्रबल पोषक था
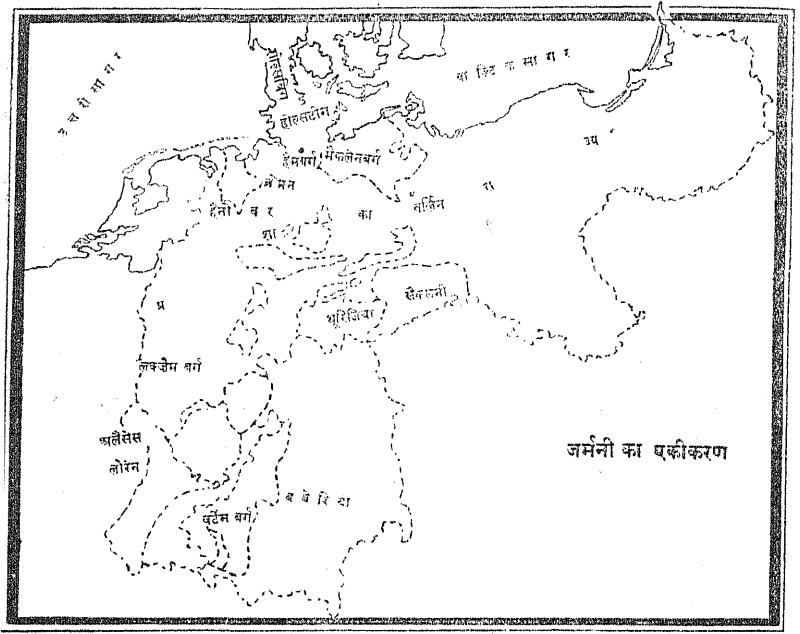
चित्र १४—जर्मनी का एकीकरण

और वैधानिकता उसके लिए विदेशो चीज थी। वह प्रशा तथा प्रशा के राजा का कट्टर समर्थक था। वह जर्मनी की एकता के लिए भो प्रशा का अस्तित्व मिटाने के लिए तैयार नही था, अत॰ प्रशा की ही प्रधानता मे उसने जर्मनी की एकता स्थापित की।

इटली तथा जर्मनी के एकीकरण का तुलनात्मक अध्ययन

इस प्रकार १८७१ ई० तक इटली तथा जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न हुआ। दोनों के एकीकरण का तुलनात्मक अध्ययन बड़ा ही मनोरंजक है। दोनों देशो में एकीकरण की प्राप्ति राष्ट्रीयता की महान् विजय है। दोनो देशो मे एक-एक राज्य ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया—इटली मे सार्डीनियाँ और जर्मनी मे प्रशा। इन दोनों राज्यो के राजा तथा मन्त्री बड़े ही योग्य थे। सार्डीनिया के राजा विक्टर इमैनुएल और प्रशा के राजा विलियम प्रथम थे। कावूर तथा बिस्मार्क क्रमशः उनके मन्त्री थे जिनको व्यावहारिक बुद्धि तथा अद्भुत प्रतिमा के फलस्वरूप दोनों देशो की एकता प्राप्त हो सकी।

इन कुछ समताओं के होते हुए इनमे विभिन्नता भी पर्याप्त रूप मे पायी जाती है। दोनों देशों की एकता-प्राप्ति के साधन तथा तरीके विभिन्न थे। कावूर वैधानिकता तथा शान्तिपूर्ण

ढङ्ग का समर्थक था किन्तु बिस्मार्क हिंसात्मक नीति का पक्षपाती था, अत. इटली की एकता की प्राप्ति मे दो दशाब्दा से भी अधिक समय लगा लेकिन जर्मनी की एकता एक दशाब्दी से भी कम समय में प्राप्त हो गई।

ग्रेटब्रिटेन मे लोकतन्त्रात्मक शासन

यह पहले हा देखा जा चुका है कि १६८९ ई० की रक्तहीन क्रान्ति के द्वारा इगलैण्ड का राष्ट्रीय सगठन दृढ़ हो गया था और राजा की निरकुशता को मिटा कर पार्लियामेंट की सत्ता स्थापित हुई थी। १७०७ ई० मे इगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड का पार्लियामेंटरी सयोग हुआ और यह सयुक्त राज्य ग्रेटब्रिटेन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १८०० ई० मे आयरलैण्ड का ग्रेटब्रिटेन के साथ सयोग हुआ, किन्तु यह सयोग स्थायी न रह सका, जैसा कि आगे की घटनाओ से स्पष्ट होगा। १७८३ ई० मे पिट मन्त्रिमण्डल की स्थापना के साथ पार्लियामेंटरी प्रणाली सुदृढ़ हो गई। १७९३ से १८१५ ई० तक ग्रेटब्रिटेन क्रान्तिकारी फ्रास तथा नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध मे सलग्न रहा और इसने गौरवमय विजय प्राप्त की। औद्योगिक क्रान्ति ने उसे विश्व की उद्योगशाला बना ही डाला था, १८१५ ई० मे वह ससार की सर्वश्रेष्ठ शक्ति समझा जाने लगा। परन्तु वहाँ अब तक लोकतन्त्र शासन प्रणाली का उदय नही हो सका था। १६८८ से १८३२ ई० तक इगलैण्ड अल्पजनसत्तात्मक था और शासन मे सर्वसाधारण का कोई हाथ नही था।

परन्तु १९वीं शताब्दो मे लोकतन्त्र की प्रगति को रोकना कठिन था। औद्योगिक क्रान्ति ने ग्रेटब्रिटेन का सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था को पूर्णरूपेण बदल दिया था। अत. अब उसकी राजनीतिक व्यवस्था मे भी परिवर्तन आवश्यक हो गया। १९वीं शताब्दी तक ग्रेटब्रिटेन मे प्रजातन्त्र की स्थापना भी हो गई। १८३२, १८६७, १८८४-८५ ई० मे पार्लियामेंट प्रतिनिधित्व और मताधिकार प्रणालिया मे सुधार हुए और मध्यम वर्ग तथा श्रमिक वर्ग को मताधिकार दे दिया गया। अब सर्वसाधारण के प्रतिनिधि पार्लियामेंट मे जाने लगे और विभिन्न क्षेत्रों मे सुधारो का ताँता बँध गया। १९वी शताब्दी के अधिकाश भाग (१८३७ १९०१ ई०) मे महारानी विक्टोरिया का शासन रहा और इस काल मे पील, पामर्स्टन, डिजरैली तथा ग्लैडस्टन की प्रधानता थी।

२०वीं शताब्दी मे पुरुष तथा स्त्री दोनो को समानता के आधार पर मताधिकार दे दिया गया और ग्रेटब्रिटेन पूर्ण रूप से लोक-सत्तात्मक बन गया। यहाँ तक कि अब मजदूरों की सरकार भी बनने लगी।

रूस

पीटर महान् तथा कैथेराईन के शासन-काल मे १८वी शताब्दी में ही रूस का राष्ट्रीय सगठन हो गया था किन्तु प्रथम महायुद्ध के समय तक यहाँ का शासन विशुद्ध निरकुश

बना रहा। जार का शासन स्वेच्छाचारिता का प्रतीक था। १६१७ ई० मे बोलशेविको ने जार और जारशाही दोनो का ही अत कर डाला और यहाँ समाजवादी प्रजातन्त्र सरकार की स्थापना हुई।

राष्ट्रीयता के गुण-दोष

राष्ट्रीयता की गौरवपूर्ण विजय के विकास का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् इसके गुण-दोषो का विवचन करना आवश्यक है।

गुण

राष्ट्रीयता ने सभ्यता तथा सस्कृति के विकास मे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। इसका यह तात्पर्य है कि प्रत्येक राष्ट्र को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक राष्ट्र के लिए आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का यह समर्थन करती है। इसने परतन्त्रता की बुराइया और स्वतन्त्र राष्ट्र की प्रगति करने की क्षमता को प्रदर्शित किया है। इसने राष्ट्र के लिए व्यक्तिगत त्याग एव बलिदान करने का पाठ पढ़ाया है और इसके नाम पर सैकड़ो तथा सहस्रों व्यक्ति अपने प्राणो की आहुति दे चुके हैं। राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत व्यक्तिया के सामने अग्नि के अगार, बम के विस्फोट तथा तोप के ताप भी तुच्छ हो जाते है। उनके नाम इतिहास के पृष्ठो मे स्वर्णाक्षरों मे अकित होते हैं। वे मरकर भी अमर हो जाते हैं। जब राष्ट्र के लिए बलिदान करने का उदाहरण उपस्थित है तो किसी दिन सपूर्ण मानव-समाज के कल्याण के लिए भीत्याग किया जा सकता है। राष्ट्रीयता के ही समुचित विकास से अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास सम्भव हो सकता है और अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास वर्तमान युग की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रीयता की ही शरण मे जाकर कमजोर राष्ट्र साम्राज्यवाद का सामना कर अपनी रक्षा कर सकता है। राष्ट्रीयता ने कला तथा साहित्य को भी बहुत प्रोत्साहित किया है।

दोष

उपरोक्त गुणों के वर्णन से यह न समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रीयता कोई ऐसी निर्दोष देवी है जिसकी आराधना आँख मूँद कर करनी चाहिए। इसमे कुछ अवगुण भी हैं जिनके प्रति सदा सतर्क रहने की आवश्यकता है। अति किसी भी वस्तु को बुरी होती है। राष्ट्रीयता जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो वह उग्र रूप धारण कर लेती है। उग्रता धारण करने पर इसका स्वरूप विकृत हो जाता है, यह कट्टर तथा सकीर्ण बन जाती है और इससे सैनिकीकरण तथा साम्राज्यवाद की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। इसका अन्तिम परिणाम युद्ध होता है। फासिज्म और नात्सीवाद का उत्थान और पतन इसी विकृत राष्ट्रीयता का फल है।

१६वीं तथा २०वीं शताब्दी मे इसने व्यापारवाद को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप

शक्तिशाली राष्ट्रों मे उपनिवेश-प्राप्ति के लिए घोर प्रतियोगिता शुरू हो गई। इसी के परिणामस्वरूप वर्तमान शती मे दो विश्वव्यापी युद्ध हुए जिनके परिणाम समस्त ससार के लिए भयकर हुए हैं।

अतः यह आवश्यक है कि राष्ट्रीयता का विकास उचित ढग से किया जाय। इसके दोषो से बचने के लिए कुछ नियमो का पालन करना अत्यावश्यक है। सभी राष्ट्रों के द्वारा युद्ध के साधन का बहिष्कार कर देना चाहिए। दूसरे, एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सघ रहना चाहिए जो आक्रमणकारियो को उचित सजा दे सके। तीसरे, बड़े राष्ट्रों के द्वारा छोटे तथा कमजोर राष्ट्रों के शोषण करने का विचार त्याग देना चाहिए।

———

अध्याय ३०

आधुनिक युग का महारोग–साम्राज्यवाद

भूमिका

साम्राज्यवाद कोई बिलकुल नई चीज नही है जो केवल आधुनिक युग की ही विशेपता रही हो। इसकी प्रगति प्रत्येक युग मे हुई है, किंतु इसके विकास के कारणो तथा नीतिया में विभिन्नता पाई जाती है। प्राचीन युग में मेसोपोटेमिया तथा मिश्र मे साम्राज्यवाद का उदय हुआ था। सिकन्दर ने एक विशाल साम्राज्य की नीव खडी की थी। भारत ने भी मौर्य तथा गुप्तकाल मे साम्राज्य स्थापित किया था। किन्तु साम्राज्यवाद के विकास मे सबसे अधिक रोमन आगे बढे थे। रोमन साम्राज्य विस्तृत तथा सुसगठित था। मध्ययुग मे भी अरब वासियो तथा मगोलो ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। लेकिन आधुनिक साम्राज्यवाद बहुत ही व्यापक है और इसका जन्मदाता यूरोप महादेश है। यूरोपीय साम्राज्यवाद का विकास दुनिया के इतिहास मे एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। यूरोप के विभिन्न देशा के लोगो ने अन्य देशो मे जाकर उपनिवेश स्थापित किया और वहाँ अपनी सभ्यता तथा सस्कृति का प्रचार किया। उन्होंने विजित जातियो पर हिसात्मक ढग से अपनी प्रभुता स्थापित की और उनका भरपूर शोपण किया। जब इसका विरोध होना शुरू हुआ तो उन्होंने बम तथा बारूदो का सहारा लेकर विरोधियो को दबाने तथा कुचलने का प्रयत्न किया। लेकिन उनके इस प्रयत्न ने अग्नि मे घी का काम किया। वे तो स्वार्थ तथा अन्याय के पथ पर थे किन्तु विजित जातियाँ उचित रास्ते पर थी। विजेता तो क्रूर आक्रमणकारी तथा लुटेरे थे। जितना ही अधिक उन्होने दमन-नीति का सहारा लिया उतना ही अधिक विजित राष्ट्रों का नैतिक बल बढता गया, जनशक्ति मे वृद्धि होती गई। अत में जनशक्ति के सामने विजेताओं को आत्मसमर्पण कर अपने देश में वापस लौटना पडा।

औपनिवेशिक सघर्ष

इंगलैण्ड और स्पेन तथा हालैण्ड

इस क्षेत्र मे सर्वप्रथम पुर्तगाल तथा स्पेनवासियों ने आगे कदम बढाया। यह पहले ही बताया जा चुका है कि १४९२ ई० मे पुर्तगालवासी वास्कोडिगामा ने उत्तमाशा अतरीप होते हुए भारतवर्ष जाने का मार्ग ढूँढ़ निकाला और स्पेनवासी कोलम्बस ने ६ वर्ष बाद अमेरिका का अन्वेषण किया। १५वीं तथा १६वी शताब्दियो में इन दोनों ने साम्राज्य-

विस्तार के क्षेत्र मे सबसे अधिक नाम कमाया, किन्तु १६वी शताब्दी के अन्तिम चरण में इनकी अवनति होने लगी। स्पेन के सम्राट फिलिप द्वितीय ने १५८० ई० में पुर्तगाल को स्पेन मे मिला लिया। इसका पुर्तगाल के व्यापार पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। अब भारत में गोआ, डामन तथा ड्यू को छोड़कर उसके पास अन्य कोई उपनिवेश नही रहा। स्पेन के उपनिवेश अमेरिका तथा फिलिपाइन मे थे। दक्षिणी अमेरिका मे स्पेनी उपनिवेश बडी हो उन्नत दशा मे थे किन्तु धीरे-धीरे स्पेन भी यूरोप मे दुर्बल होता गया। इगलैण्ड स्पेन का सबसे बड़ा दुश्मन था। वह प्रोटेस्टेंट था तो स्पेन कैथोलिक। इसके अतिरिक्त व्यापारिक तथा औपनिवेशिक क्षेत्रो मे दोनो ही प्रबल प्रतिद्वद्वी थे। दोनों मे युद्ध अवश्य भावी था जो ऐलिजाबेथ के राज्यकाल मे ही हो गया। १५८८ ई० मे आरमेडा का युद्ध हुआ जिसमें इगलैण्ड ने स्पेन को बुरी तरह पराजित किया। आरमेडा की पराजय के पश्चात् स्पेन पतनोन्मुख हो गया और अंग्रेजो के सौभाग्य-सूर्य का उदय हुआ। उनके उपनिवेशीकरण तथा व्यापार-विस्तार के लिए मार्ग सुगम हो गया।

डच तथा फ्रासीसी भी अंग्रेजों के प्रतिद्वन्द्वी थे किन्तु १७वी शताब्दी मे फ्रासीसियों की अपेक्षा डचो की प्रतिद्वन्द्विता अधिक प्रबल थी। मसाले के व्यापार के लिए भारतवर्ष तथा पूर्वी द्वीप समूह में उन तीनो का प्रवेश हुआ। १७वीं सदी मे भारत मे शक्तिशाली मुगल साम्राज्य स्थापित था। अत. उन्हे साम्राज्य स्थापना के लिए उपयुक्त अवसर नहीं मिला। किन्तु, मुगल सम्राटो की आज्ञा से इन्हे व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हो गई और उनकी कोठियाँ खुलने लगी। पूर्वी द्वीप-समूह मे डचो की प्रधानता थी। इगलैण्ड तथा फ्रास को उत्तरी अमेरिका मे उपनिवेश स्थापित करने मे अधिक सफलता मिली और दक्षिणी अमेरिका मे भी स्पेन ने उन्हे व्यापारिक सुविधा प्रदान कर दी। अब इगलैण्ड, फ्रास तथा हालैण्ड के बीच द्वेष की भावना का विकास होने लगा। वे व्यापार तथा उपनिवेश के क्षेत्रो मे एक दूसरे को नीचा दिखाने का भरपूर प्रयत्न करने लगे। अत मे विजयश्री अंग्रेजो को ही प्राप्त हुई। अंग्रेजो ने डचो के विरुद्ध अनेक कानून पास किये। नेविगेशन ऐक्ट सबसे अधिक प्रभावकारी कानून था, जिसने डचो की व्यापारिक सत्ता पर गहरी चोट कर उन्हें विशेष क्षति पहुँचाई। १६५१ ई० मे यह नियम पास हुआ था। इसके अनुसार इगलैण्ड तथा इसके अधिकृत प्रदेशो मे बाहर से माल अंग्रेजी जहाजो मे या निर्यात करने वाले देश के जहाजो मे आ सकते थे, अन्य किसी जहाज में नही। इसका भी भीषण परिणाम हुआ। डचो के व्यापार मे भयकर मन्दी आ गई। इसके अतिरिक्त इगलिश चैनल में अंग्रेज नाविक डच नाविको को अंग्रेजी झडे के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए बाध्य करते थे। अतः १६५२ ई० में आग्ल डच युद्ध शुरू हो गया। डच पराजित हुए किन्तु अभी भी दोनो के झगड़े का अतिम निर्णय नही हुआ। चार्ल्स द्वितीय के राज्यकाल

(१६६०—८५ ई०) मे फिर दो बार युद्ध हुए और डचों को आत्मसमर्पण करना पडा। १६८६ ई० मे इगलैण्ड की गद्दी पर विलियम तृतीय के राज्याभिषेक के साथ दोनों के द्वेष का अत हो गया क्योंकि विलियम डच जाति का ही था।

प्रथम बृटिश साम्राज्य

१७वीं शताब्दी मे डचों की शक्ति का ह्रास हो गया। इगलैण्ड के इतिहास में यह शताब्दी प्रथम बृटिश साम्राज्य के निर्माण के लिए प्रसिद्ध है। उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट
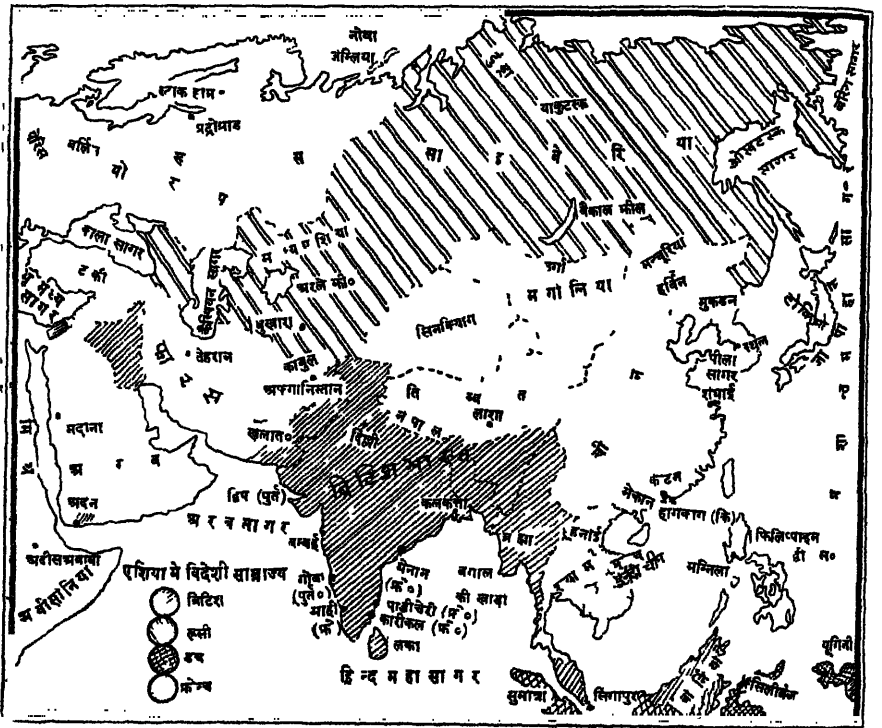
चित्र १५

पर अँग्रेजों ने विभिन्न समय मे १२ उपनिवेशों की स्थापना कर ली। उत्तर मे न्यूयार्क, न्यूजर्सी, डेलावेयर और पैंसिलवेनिया; मध्य में मेसेचुसेट्स, कनेक्टीकट, न्यू हैम्पशायर और रोड द्वीप और दक्षिण में वर्जीनिया, मेरीलैण्ड तथा उत्तरी और दक्षिणी कैरोलिना

नाम के १२ उपनिवेश स्थित थे। भारत मे भी ईस्ट इडिया कम्पनी अपनी व्यापारिक कोठियाँ जहाँ-तहाँ कायम कर रही थी।

इगलैण्ड तथा फ्रास

अब इगलैण्ड को दूसरे प्रतियोगी फ्रास का सामना करना पड़ा। भारत तथा अमेरिका मे दोनो ही एक दूसरे के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। भारत मे पाडिचेरी तथा चन्द्रनगर में, और अमेरिका मे कनेडा मे फ्रासीसियो का ही आधिपत्य था। दोनों में सघर्ष अनिवार्य था। फ्रास एक महत्त्वाकाक्षी राष्ट्र था और अपने औपनिवेशिक तथा व्यापारिक विस्तार के लिए प्रयत्नशील था। वह कैथोलिक राज्य था और स्टुअर्ट शासन-काल मे इगलैण्ड की कैथोलिक जनता को प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध उत्तेजित करने की चेष्टा करता था। वह १६८८ ई० की महान् क्रान्ति और इसके परिणामों को मानने के लिए तैयार नहीं था और वह जेम्स द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियों की सहायता करता रहा। इगलैण्ड का शासक विलियम तृतीय भी फ्रास का कट्टर शत्रु था। इन सब कारणो से इगलैण्ड तथा फ्रास मे शत्रुता बढ़ती गई और १८वी शताब्दी मे दोनों के बीच मे अनेक युद्ध हुए। इन युद्धो के परिणामस्वरूप बृटिश-साम्राज्य विस्तार मे आशातीत बृद्धि हुई।

१७०२—१३ ई० तक स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध हुआ। इसमे स्पेन तथा फ्रास बुरी तरह पराजित हुए और यूट्रेक्ट की सन्धि मे जिब्राल्टर तथा माइनोरका अंग्रेजो को मिले और इससे भूमध्य सागर का मार्ग सुरक्षित हो गया। इगलैण्ड को स्पेनिश अमेरिका से दास-व्यापार करने के लिए अधिकार मिला। फ्रास ने न्यूफाउन्डलैण्ड, नोवास्कोशिया और हडसन खाड़ी के प्रदेशो को अंग्रेजो के हाथ मे सौप दिया। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के क्षेत्र मे विस्तार हुआ और इगलैण्ड विश्व की सर्वश्रेष्ठ सामुद्रिक शक्ति बन गया।

लेकिन अभी दोनो मे मित्रता नहीं स्थापित हो सकी बल्कि आतरिक द्वेष चलता रहा और सप्त वर्षीय युद्ध (१७५६—६३ ई०) मे इसका विस्फोट हुआ। सभी युद्धो मे यह युद्ध विशेष उल्लेखनीय है। इस समय इगलैण्ड मे बड़े पिट का नेतृत्व था। वह बड़ा ही मेधावी और प्रतिभाशाली था। वह फ्रास को योरप मे व्यस्त रखकर अमेरिका तथा भारत मे इगलैण्ड की प्रधानता स्थापित करना चाहता था। अत. उसने योरप मे प्रशा को खूब आर्थिक सहायता दी। योरप, अमेरिका तथा भारत—सभी जगहो मे फ्रास बुरी तरह पराजित हुआ। पेरिस की सन्धि हुई। इगलैण्ड को कनाडा, नोवास्कोशिया, केप ब्रिटेन तथा कुछ पश्चिमी द्वीप मिले। स्पेन ने फ्लोरिडा इगलैण्ड को सौप दिया। अब भारत तथा अमेरिका में अंग्रेजों का एकाधिकार स्थापित हो गया। भारत में केवल माही,

कालीकट, पाडीचेरी और चन्द्रनगर फ्रासीसियो के अधिकार मे रहे। अँग्रेजो को सामुद्रिक सत्ता भी दृढ हो गई। अब योरप को कोई राज्य उनकी जल-शक्ति को चुनौती देने की क्षमता नही रखता था। धीरे-धीरे एक शताब्दी के भीतर उन्होने सम्पूर्ण भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कालातर मे इगलेएड ने ऐसा विशाल साम्राज्य स्थापित किया जिसमे सूर्यास्त कभी नही होता था।

इस तरह प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया परन्तु निकट भविष्य में ही उसके लिए सकट सुरक्षित थे। १७७५ ई० म अमेरिका वासिया ने विद्रोह कर दिया और अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। हम इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा कर चुके हैं। इस प्रकार प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। परन्तु अँग्रेजो ने इससे कुछ शिक्षा ग्रहण की, अपनी नीति मे उदारवादिता का समावेश किया और १६वी शताब्दी म द्वितीय बृटिश साम्राज्य का विकास किया।

१७६३ से १८१५ ई० तक फ्रास समस्त योरप के साथ युद्ध मे सलग्न रहा। इगलैएड के अतिरिक्त सभी राज्य नेपोलियन के सामने झुक गये। इगलैएड को हराने के लिए उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी फिर भी वह पराजित नहीं हो सका और उसके सामने नेपोलियन को ही आत्मसमर्पण करना पड़ा। १८१५ ई० मे वियना की सन्धि हुई। सेंट लूसिया, टुबैगो, ट्रीनोडाड, डच गियाना और होन्डूरस इगलैएड को मिले। उत्तमाशा अतरीप, सिलोन, मौरिसस, माल्टा तथा हिगोलीलैएड पर भी अँग्रेजो का अधिकार हो गया। इगलैएड की शक्ति पुनः चरम सीमा पर पहुँच गई। पूरे एक सदी तक १८१५ से १६१४ ई० तक द्वितीय बृटिश साम्राज्य का सगठन तथा विस्तार होता रहा। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैएड, न्यूफाउन्डलैएड तथा दक्षिणी अफ्रीका के सघ इस साम्राज्य के मुख्य अग थे। धीरे-धीरे आनरिक क्षेत्र मे इन राज्यो ने स्वराज्य प्राप्त कर लिया था। किन्तु वैदेशिक तथा अतर्राष्ट्रीय मामलो मे ये अभी ग्रेट ब्रिटेन पर ही निर्भर थे। ये डोमीनियन के नाम से प्रसिद्ध थे और डोमीनियन स्टेट्स के नाम से इनका पद सूचित किया जाता था। इनके अतिरिक्त इस साम्राज्य में अनेक आश्रित और सरक्षित राज्य भी सम्मिलित थे।

औपनिवेशिक प्रगति में मन्दी

१६वो शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे औपनिवेशिक प्रगति मे मन्दी आ गई। १८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे अमेरिकी उपनिवेश मातृभूमि के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्र हो गये थे। अतः उपनिवेशो की उपयोगिता तथा राज्य-भक्ति म इगलैएड के राजनीतिज्ञों को शका उत्पन्न हो गई। बाद मे कनाडा ने भी स्वराज्य प्राप्त कर लिया। अतः साम्राज्य-विस्तार मे अंग्रेजो की कोई विशेष दिलचस्पी नही रही। उनका उत्साह शिथिल हो गया। यूराप के अन्य राज्यों में

भी क्रान्ति तथा वैधानिक सकट के कारण स्थिति सगीन थी। अतः फ्रास, जर्मनी, इटली, आस्ट्रेलिया आदि देश भी औपनिवेशिक दौड मे भाग लेने मे समर्थ नही थे।

नये साम्राज्यवाद का उदय और इसके कारण

लेकिन १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे परिस्थिति बदल गई और साम्राज्यवाद की प्रगति मे उन्नति होने लगी। १८७० ई० के बाद इसका विकास होने लगा और यह इतिहास मे "नया साम्राज्यवाद" के नाम से विख्यात है। इसके उदय के कई कारण थे। इसका प्रमुख कारण योरप की औद्योगिक क्रान्ति थी। इस क्रान्ति ने अनेक समस्याएँ उत्पन्न कीं।

इसने फेक्टरी-प्रणाली को जन्म दिया, जनसख्या मे वृद्धि हुई, बेकारी बढी और काम के अनुपात मे वेतन कम मिलने लगा। इन सभी बातों से प्रवास को प्रोत्साहन मिला। इसके लिए औद्योगिक क्राति से यत्र-युग का प्रादुर्भाव हुआ। यत्रों के लिए बहुत कच्चे माल की आवश्यकता पड़ने लगी जिसकी पूर्ति अपने ही देश में नहीं हो सकती थी। कारखानो और यत्रो ने उत्पादन को भी पहले से कई गुना अधिक बढा दिया। अधिक मालो को खपाने के लिए नये बाजारो की आवश्यकता पड़ी, अत. योरप के राष्ट्र कमजोर और पिछड़े देशो पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए उत्सुक हो उठे। उस समय यातायात के साधन भी उन्नति कर चुके थे। नहरों, जहाजा तथा रेलों के निर्माण से मालों के आयात-निर्यात मे पर्याप्त सुविधा हो गई थी। बिजली के तार और बेतार के तार के आविष्कार से भी वाणिज्य-व्यवसाय को विशेष प्रोत्साहन मिला। औद्योगिक क्रान्ति के कारण उद्योगपतियो के पास पूँजी की अधिकता होने लगी थी। अत. वे अपनी अतिरिक्त पूँजी को अन्य पिछड़े देशो मे खानों की खुदाई, रेल-निर्माण आदि व्यवसायो मे लगाना चाहते थे। १९वीं शताब्दी के राष्ट्रीय जागरण ने भी व्यापार तथा उपनिवेश-विस्तार की प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित किया। योरप के प्राय. प्रत्येक देश मे राष्ट्रीय चेतना हो गई थी। प्रत्येक देश आर्थिक क्षेत्र मे भी एक दूसरे से स्वतन्त्र रहना चाहता था। अन्य देश पर निर्भर रहना अपनी मानहानि समझी जाती थी। अतः प्रत्येक देश अपने को शक्ति-शाली तथा सुसम्पन्न देखना चाहता था। वह दुर्बल देश को अपने चगुल मे फँसाने के लिए चिंतित था। इस प्रकार उपनिवेशो का आर्थिक शोषण कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही नये साम्राज्यवाद का प्रमुख लक्ष्य था।

इस समय तक योरोपीय सभ्यता एव सस्कृति ने पर्याप्त उन्नति कर ली थी। यूरोप वाले अपने को सुसभ्य और ससार के अन्य भागों के निवासियो को जगली तथा असभ्य समझते थे। इन पिछड़े भागो मे अपनी सभ्यता एवं सस्कृति का प्रचार कर लोगों को सभ्य बनाना वे अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे। इसे वे 'श्वेत मनुष्य के भार' के नाम

से पुकारते थे। धर्माधिकारियों में जनहित की भावना जागृत हुई थी जिससे प्रेरित होकर वे ईसाई धर्म का प्रचार और अमानुषिक दास-व्यापार की प्रथा का अन्त करना चाहते थे। कितने शक्तिशाली राज्य के शासक अपनी अपार शक्ति तथा असीम धन-दौलत के प्रदर्शन के हेतु अन्य राज्यो पर आक्रमण करते थे। वे विजयी होते ही थे। इससे उनकी अहकार-प्रवृत्ति भी सतुष्ट होती थी। इस औपनिवेशिक विस्तार की होड मे इगलैण्ड को ही विशेष सफलता मिली। उसने १८वी शताब्दी मे ही एक विशाल साम्राज्य का निर्माण कर लिया था। इसके अतिरिक्त औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम इगलैण्ड मे हुई थी। अत. अन्य देशो की अपेक्षा वह अधिक धन-सम्पन्न हो रहा था। तीसरे, वह क्रान्ति तथा विप्लवों से मुक्त था। अतः उसके राजनीतिक वातावरण मे सुव्यवस्था और स्थिरता थी।

औपनिवेशिक विस्तार के क्षेत्र

औपनिवेशिक विस्तार के लिए आस्ट्रेलिया महाद्वीप में अब विशेष स्थान नही था। १८७० ई० तक इसका उपजाऊ भूभाग बसाया जा चुका था। अमेरिका का द्वार यूरोप के लिए बन्द था, क्योकि वहाँ मुनरो सिद्धात प्रचलित था। इसका तात्पर्य था कि अमेरिका अमेरिकनों के लिए है, विदेशियो को किसी प्रकार हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है। अफ्रीका और एशिया महादेश ऐसे थे जहाँ शोषण तथा साम्राज्य-प्रसार के लिए विशेष सम्भावना थी। अतः यूरोपीय राष्ट्रो का ध्यान इन दोनो महादेशों की ओर आकृष्ट हुआ।

१९वी सदी के प्रमुख साम्राज्य

(क) अफ्रीका

आन्तरिक खोज

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यूरोपियनों को अफ्रीका महादेश का ज्ञान बहुत ही सीमित था। इसके भीतरी भाग की जानकारी उन्हें कुछ भी नहीं थी। वे इसे 'अध महादेश' कहते थे। इसके कई कारण थे। अफ्रीका जगलो से भरा था, जहाँ जलवायु अच्छी नही थी, वहाँ सहारा का विशाल रेगिस्तान है और कड़ाके की गर्मी पड़ती है। उत्तम बन्दरगाहो तथा अन्य व्यापारिक सुविधाओ की कमी थी। आदिम निवासी भी विदेशियों को बुरी दृष्टि से देखते थे। १८४० ई० तक अफ्रीका मे गुलामो का व्यापार होता था। वहाँ के हब्शो गुलाम बनाकर अमेरिका आदि देशो मे भेजे जाते थे; किन्तु धीरे-धीरे दास-व्यापार की प्रथा बन्द हो चली। अब भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अफ्रीका के आतरिक भागों की खोज जरूरी हो गई। लिविंगस्टोन, स्टेनली, स्पीक तथा बेकर जैसे साहसी अन्वेषकों ने इस दिशा मे प्रयास किया और वे सफलीभूत हुए।

इस प्रसग मे ईसाई पादरियो की देन के विषय मे उल्लेख करना अत्यावश्यक है। अन्वेषकों मे अधिक सख्या इन्ही पादरियों की थी जिन्होंने अनेक कष्टो को झेलते हुए
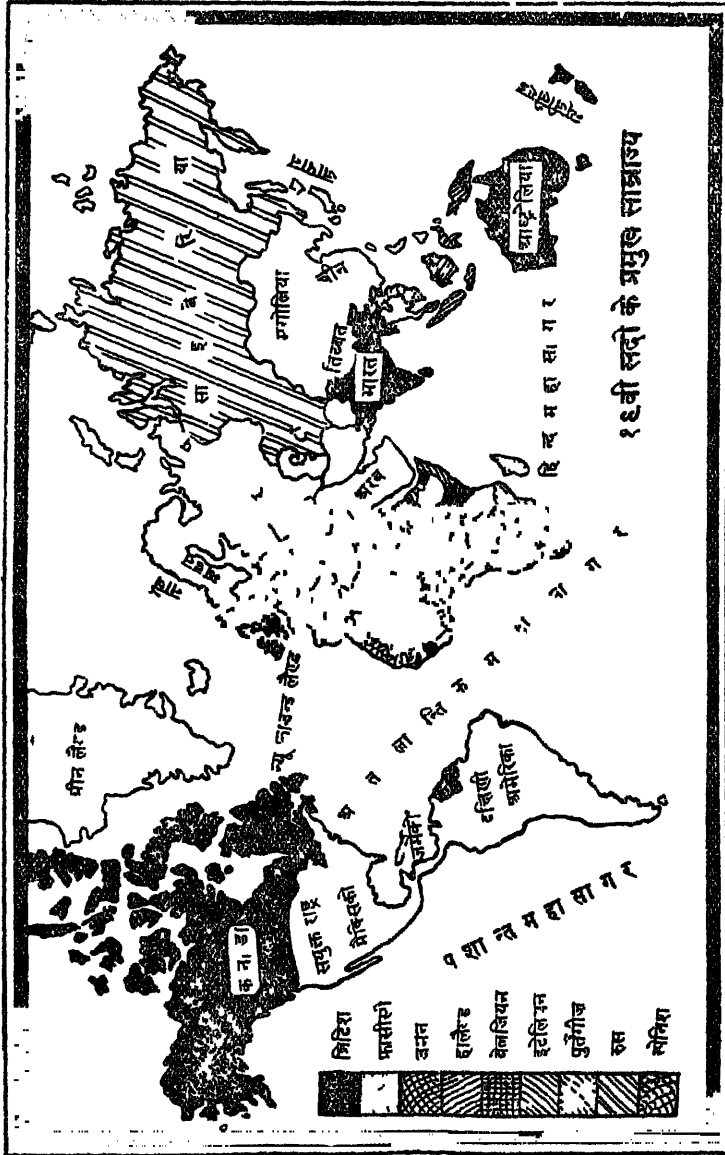
चित्र १६—१६वीं सदी के प्रमुख साम्राज्य

अपने प्राणों को हथेली पर रख, अध-महादेश के भीतरी भागो में पर्यटन किया। उन्हीं के द्वारा यूरोपियनों को अफ्रीका का ज्ञान हुआ। वहाँ व्यापारियों ने प्रस्थान किया। अंत में सैनिको का आगमन हुआ।

डेविड लीविंग्स्टोन एक स्कॉट डाक्टर था। १८४० ई० मे वह लदन-पादरी-समाज की ओर से दक्षिणी अफ्रीका मे गया और एक दशक के बाद उसने भीतरी भागो का भ्रमण शुरू किया। उसने लम्बी-लम्बी कष्टपूर्ण तथा आश्चर्यजनक यात्राएँ की। उसने जाम्बेजी नदी के मार्ग का अनुसरण कर विक्टोरिया तथा न्यासा झीलो की जानकारी प्राप्त की। एक बार वह रास्ता भूलकर दीर्घ काल तक बीहड जगलो मे भटकता रहा। उसके विषय मे किसी
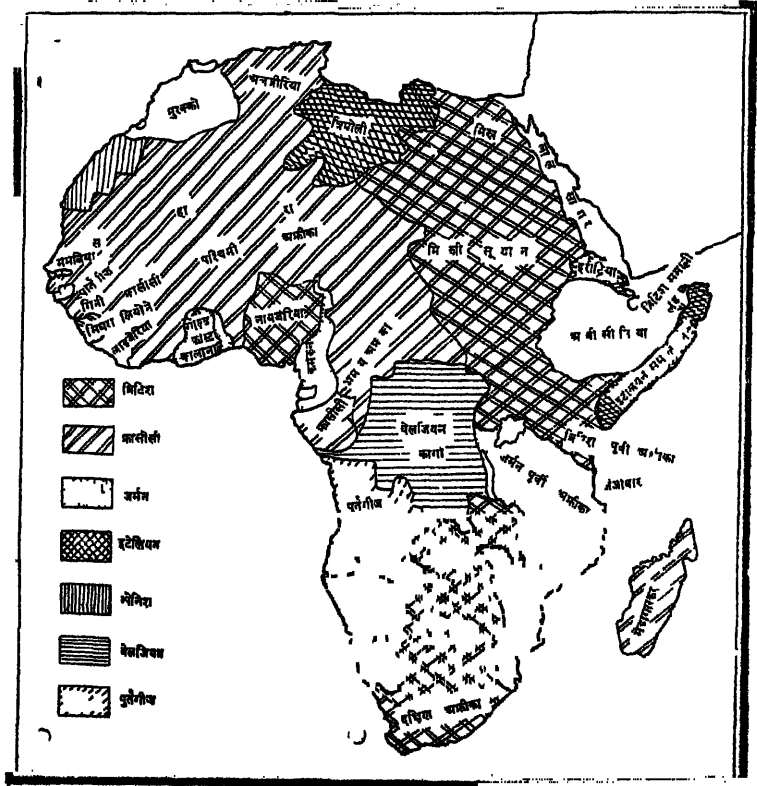
चित्र १७—अफ्रीका का विभाजन

को कोई खबर नहीं मिलती थी। उसी की खोज में स्टेनली चला। वह वेल्स का निवासी था और एक समाचार-पत्र का सवाददाता था। उसने अफ्रीका में भ्रमण किया और

लिविगस्टोन की खोज की। बाद मे अन्य यात्रियों ने लिविंगस्टोन तथा स्टेनली का अनुसरण किया।

अफ्रीका का विभाजन

बेलजियम के राजा लियोपोल्ड द्वितीय ने १८७६ ई० मे योरप के राष्ट्रो की ब्रूसेल्स मे एक सभा बुलाई। उसने अफ्रीका की महत्ता बतलाई। लगभग १ दशाब्दी बाद उसने स्वतन्त्र कागो-राज्य को अपने अधीन स्थापित किया। रबर का व्यापार भी होने लगा। लेकिन उसने इसाई धर्म के प्रचार मे कोई दिलचस्पी नही दिखलाई। १६०८ ई० मे उसने कागो राज्य को बेलजियम सरकार के हाथ बेच दिया और यह बेलजियम राज्य का एक अग बन गया।

यूरोप के अन्य देश भी पीछे नही रहे। इगलैण्ड, जर्मनी, फ्रास, इटली आदि देशों ने बेलजियम का अनुसरण किया। कुछ लोगो ने अफ्रीका को सभ्य बनाने या ईसाई धर्म का प्रचार करने का स्वाग रचा, किन्तु अधिकाश लोग तो कल-कारखानों के लिए कच्चे माल और उनसे बने माल की खपत के लिए बाजार की खोज मे थे। बडे-बड़े पूँजीपति अपनी पूँजी के सदुपयोग के लिए विशाल क्षेत्र चाहते थे। अत. इन राज्यो ने अफ्रीका मे व्यापार के लिए अपनी-अपनी कपनियाँ खोल दी। सेसील रोड्स नामक एक अँग्रेज ने बेचुआना लैंड तथा रोडेशिया पर अधिकार स्थापित किया और व्यापार के द्वारा अकूत धन प्राप्त किया। लुडरीज नाम का एक जर्मन व्यापारी दक्षिण-पश्चिम मे तटीय भागो में व्यापार करने लगा। इस तरह यूरोप के राष्ट्रो द्वारा अफ्रीका की नाच-खसोट शुरू हुई जिससे विभिन्न राज्यो मे सघर्ष छिड गया। कई मौको पर तो युद्ध की नौबत आ पहुँची। इगलैण्ड दक्षिण मे उत्तमाशा अतरीप से लेकर उत्तर मे कैरो तक साम्राज्य फैलाना चाहता था और दोना छोर को रेल के द्वारा मिला देना चाहता था। फ्रास सहारा की मरुभूमि से होते हुए पूर्वीय तथा पश्चिमी तट को मिलाना चाहता था। अत मे उन्होने आपस में कई सम्मेलन तथा संधियाँ की और अफ्रीका का विभाजन कर लिया। प्रथम युद्ध १६१४ ई० के प्रारम्भ के समय तक सपूर्ण महादेश यूरोपियनो के हाथ मे आ गया। १८८४ ई० में बर्लिन मे यूरोपीय राज्या का विशाल सम्मेलन हुआ। इसमे बृटिश, जर्मन तथा फ्रासीसी राज्यो की सीमाएँ निर्धारित की गई। १८६० ई० मे इगलैण्ड ने जर्मनी तथा फ्रास के साथ पुनः सधि की।

इस बीच मिश्र तथा सूडान मे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घट रही थी। १८६६ ई० मे स्वेज नहर का निर्माण हुआ। अतः पूर्वी साम्राज्य की रक्षा के लिए मिश्र पर अधिकार करना आवश्यक हो गया। उस नहर मे मिश्र के शासक इसमाईल पासा का हिस्सा था, किंतु वह बड़ा खर्चीला था और उसे धन की आवश्यकता थी। बृटिश सरकार ने उसके हिस्सों को

खरीद लिया। लेकिन वह फ्रास का भी ऋणी था। १८८२ ई० मे मिश्रियो ने विद्रोह किया और अग्रेजों ने उसे दबा कर अपना अधिकार मजबूत कर लिया। अग्रेजों ने सूडान पर भी अधिकार कर लिया लेकिन यहाँ भी मेहदी के नेतृत्व मे विद्रोह हुआ। अग्रेजो ने सफलतापूर्वक इस विद्रोह को भी कुचल दिया। १८६८ ई० मे फेसोडा की घटना हुई जिसमे इगलैंड तथा फ्रास के बीच युद्ध छिड़ने की नौबत आ गई। अत मे फ्रासीसी झुक गये और आफत टल गई। अब मिश्र तथा सूडान मे अग्रेजो की धाक जम गई लेकिन फ्रास की ओर से उन्हें भय बना रहा। अतः १६०४ ई० मे दोनो मे समझौता हुआ। इगलैंड ने फ्रास को मोरक्को मे और फ्रास ने इगलैंड को मिश्र मे स्वतत्र छोड दिया। इसी समझौते के अनुसार मोरक्को म १६०५ तथा १६११ ई० मे दो बार अतर्राष्ट्रीय दुर्घटनाएँ पैदा हुई। अत· इगलैंड तथा फ्रास मे मित्रता घनिष्ठ हो गई और दोनो राज्या का जर्मनी से मनमुटाव हो गया। लेकिन शातिपूर्ण ढग से समझौता हो गया और युद्ध की नौबत नहीं आई। १८८२ और १६१४ ई० के बीच इगलैंड ने मिश्र मे तथा फ्रास ने मोरक्को मे अनेक प्रकार के सुधार किये। १६१४ ई० मे इगलैंड ने मिश्र को सरक्षित राज्य घोषित कर दिया।

अफ्रीका के विभाजन मे अग्रेजो को सबसे अधिक हिस्सा मिला। उन्हे दक्षिणी अफ्रीका जिसमे उत्तमाशा प्रान्त, नेटाल, ट्रासवाल और ऑरेंज नदी के भू-भाग सम्मिलित है, बेचुआना लैंड, रोडेशिया, मिश्र, सूडान का कुछ भाग, उगेबा, ब्रिटिश सुमाली लैंड, नाईजीरिया तथा गेम्बिया मिले। फ्रांस का ध्यान अफ्रीका की ओर बहुत पहले से आकृष्ट हुआ था और बिस्मार्क भी इसके लिए उसे उत्साहित करता था। १८३० ई० मे उसने अल्जीरिया पर अधिकार कर लिया था। १८८१ ई० मे उसने ट्यूनिस पर भी अधिकार स्थापित किया किन्तु उसपर इटली का भी दाँत लगा हुआ था। अत· ३० वर्ष तक इन दोनो मे ट्यूनिस को लेकर सघर्ष चलता रहा। अत मे यह भी फ्रास के ही अधिकार मे रहा। अलजीरिया और ट्यूनिस के अतिरिक्त फ्रेंच वेस्ट अफ्रीका, फ्रेंच कागो, फ्रेंच सोमाली लैंट, मोरक्को तथा मेडागास्कर फ्रास को मिले। इटली के हाथ मे इयालियन सुमाली लैंड, लीबिया और इरीटिया आये। जर्मनी को कैमरून, टोगो लैंड, दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका तथा पूर्वी अफ्रीका मिलें। पुर्तगाल के अधिकार में गिनी, पुर्तगीज, पश्चिमी अफ्रीका तथा पुर्तगीज पूर्वी अफ्रीका आये। पश्चिमी तट पर रियोडीओरो को स्पेन ने अधिकृत किया।

स्वतत्र राज्य अबीसीनिया तथा लाइबेरिया नामक दो प्रदेश स्वतत्र बच गये। अबीसीनिया का दूसरा नाम इथोपिया है। इस पर इटली का दाँत लगा हुआ था। कितु जब दोनो मे सघर्ष हुआ तो इटली को मुँहकी खानी पड़ी। परतु मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीस्ट सरकार ने १६३६ ई० में इस पर बलात् अधिकार कर लिया। कितु इटली अपनी

विजय का फल बहुत दिनो तक नहीं भोग सका। दूसरे महायुद्ध में इटली पराजित हुआ और अबीसीनिया पुन स्वाधीन हो गया। लाइबेरिया के राज्य को हब्शी गुलामो ने कायम किया था और वहाँ अमेरिका का कुछ प्रभाव दीख पड़ता था। इस समय भी ये दोनो राज्य स्वाधीन हैं।

(ख) एशिया

भूमिका

अफ्रीका की भाँति एशिया भी यूरोपीय साम्राज्यवाद का शिकार हुआ, किंतु एशिया मे विदेशियो के लिए पैर जमाना आसान नही था। एशिया के कई देश प्राचीन सभ्यता तथा सस्कृति के केंद्र रहे हैं। लेकिन कालातर मे एशियाई राष्ट्र का गौरव अतीत का विषय बन गया और वे अवनति के मार्ग पर चलने लगे। उनकी प्राचीन प्रतिभा और शक्ति नष्ट होने लगी और वे लकीर के फ़क़ीर बन गए। वे औद्योगीकरण को दौड़ मे पीछे पड़ गए। उनकी आर्थिक तथा राजनीतिक प्रणालियाँ असामयिक तथा ढीली हो गई थीं। कई राज्यो मे अराजकता फैली हुई थी। अतः एशिया के देशो मे व्यापारिक तथा औपनिवेशिक विस्तार के लिए अनुकूल वातावरण था और यूरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने इससे समुचित लाभ भी उठाया। यह भी याद रखना चाहिए कि एशिया मे साम्राज्य-वाद की घोर प्रतियोगिता मे अमेरिका तथा जापान ने भी भाग लिया।

भारतवर्ष

विदेशी भारत की असीम धन-दौलत की कहानी सुनते थे और इस पर उनकी लोलुप दृष्टि लगी हुई थी। १५वी शदी के अत में सर्वप्रथम पुर्तगाल निवासी वास्काडिगामा भारत के पश्चिमी तट पर कालीकट मे पहुँचा। तत्पश्चात् भारत के साथ पुर्तगाल का भी व्यापार सम्बन्ध कायम हो गया और लगभग एक शताब्दी तक इस व्यापार पर उसका एकाधिकार बना रहा। पुर्तगालवासियो ने कुछ उपनिवेश भी स्थापित कर लिये और गोआ मे उनकी राजधानी रही। १७वी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत से व्यापार करने के लिए ब्रिटिश तथा डच कम्पनियाँ खुली और क्रमश सूरत तथा चिनसुरा मे उनकी कोठियाँ कायम हुई। इसी शताब्दी के मध्य म फ्रास ने भी एक कपनी खोल दी। अब चारो विदेशी जातियों—पुर्तगीज, डच, अग्रेज तथा फ्रासीसी—मे घोर प्रतियोगिता शुरू हुई। १७वीं शताब्दी के अत तक पुर्तगीजो का पतन हो चुका था। शाहजहाँ के शासन-काल मे उन्होंने बगाल में बड़ा उपद्रव किया। वे लोगो को बलात् गुलाम तथा ईसाई बनाने लगे। शाहजहाँ ने उनकी अच्छी खबर ली और बहुत से पुर्तगीज मौत के घाट उतार दिये गये। लेकिन भारत की तीन बस्तियाँ गोआ, डैमन और ड्यू पर पुर्तगालियों का अधिकार बना रहा।

डच लोगो की विशेष दिलचस्पी पूर्वी द्वीप समूह मे थी क्योकि वहाँ मसाले का व्यापार

बहुत लाभदायक था। अब भारत का क्षेत्र अँग्रेजो तथा फ्रासीसियो के लिए खुला रहा। बम्बई, मद्रास और कलकत्ते में अँग्रेजो की व्यापारिक कोठियाँ खुल चुकी थी। पार्डीचेरी और चद्रनगर मे फ्रासीसी लोग थे। १७०७ ई० के बाद से भारतवर्ष की राजनीतिक दशा बहुत ही बुरी होने लगी थी। सर्वत्र अराजकता फैल रही थी। इससे विदेशी व्यापारी अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करने लगे। फ्रासीसी गवर्नर डुप्ले ने दक्षिणी राज्यो के आतरिक मामलो मे हस्तक्षेप करना शुरू किया। इससे अग्रेज चितत हो गए। वे फ्रासीसियो के पीछे जी जान से पड गये। इसका परिणाम हुआ युद्ध। दोनो के बीच तीन युद्ध हुए जो कर्नाटक युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन युद्धो के फलस्वरूप फ्रासीसियो की शक्ति का ह्रास हो गया और अग्रेजो की प्रतिष्ठा तथा उत्साह मे बहुत वृद्धि हो गई। इसी समय क्लाइव के योग्य नेतृत्व मे अँग्रेज बगाल में अपना प्रभाव स्थापित कर रहे थे। उन्हाने पलासी के युद्ध (१७५७ ई०) मे बगाल के नवाब सिराजुद्दौला को पराजित किया और अपने अनुकूल सधि की। फिर १७६४ ई० मे उन्हाने बक्सर के युद्ध मे बगाल के नवाब मीर कासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा भारत के मुगल सम्राट् शाहआलम द्वितीय को हराया और दूसरे साल बगाल और बिहार की दीवानी प्राप्त की। अब ईस्ट इडिया कम्पनो भारत मे केवल व्यापारिक सस्था ही नही रही, बल्कि वह एक राजनीतिक शक्ति भी बन गई।

अब भारत के कुछ राजाओ की आँखें खुली और उन्होंने अग्रेजो को भारत से निकालने के लिए भरपूर प्रयत्न किया। ऐसे राजाओ मे मैसूर के हैदरअली तथा उसके पुत्र टीपू सुलतान के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये दोनो अँग्रेजो से लड पड़े थे किंतु निजाम तथा मराठो ने उनकी सहायता नही की और उसके सभी प्रयत्न विफल हुए।

किन्तु निजाम तथा मराठे भी अँग्रेजों की लोलुपता के शिकार हुए। मुगल सम्राट औरगजेब भी मराठो को नहीं दबा सका था। उसकी मृत्यु के बाद तो इनका सितारा ही चमक उठा था। दक्षिण मे ये बहुत प्रबल हो गये थे। राजा साहू के समय मे शासन-सूत्र पेशवा के हाथ मे चला गया था। प्रथम तीन पेशवाओं के समय मे मराठा ने उत्तरी भारत में अपना राज्य-विस्तार किया। किन्तु इनमे बहुत दिनों तक एकता नहीं रही। ये हिंसात्मक नीति से काम ले रहे थे, अत. १७६१ ई० मे पानीपत के युद्ध मे अहमद शाह अब्दाली के हाथ मराठों की बुरी तरह पराजय हुई। बाद मे वे कुछ उठे किंतु स्थायी रूप से नहीं। केंद्रीय शक्ति पूर्व की भाँति सबल नही हो सकी। १८०२ ई० में नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गई और बाजीराव द्वितीय ने पेशवा होने के लिए अँग्रेजों से एक सधि कर ली। लार्ड वेलेज़ली के समय मे मराठो ने युद्ध मे हार कर सहायक सधि की

उन्होंने सभी शर्तें मान ली। लार्ड हेस्टीग्स के समय १८१८ ई० मे पेशवा के पद का अत कर दिया गया। मराठा राज्य अँग्रेजी साम्राज्य मे मिला लिया गया।

भारतोय राज्यों मे एकता तथा पारस्परिक सहयोग का सर्वथा अभाव था। अत. वे अँग्रेजो के विरुद्ध कभी भी सयुक्त मोर्चा उपस्थित नही कर सके। अँग्रेजो ने बारी-बारी से उन सभी राज्यो को युद्ध मे हराया और ब्रिटिश साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार मराठा के अतिरिक्त राजपूत, सिक्ख आदि अन्य जातियों की भी स्वतन्त्रता का अपहरण हो गया। लार्ड डलहौजी के समय (१८४८—५६ ई०) मे बहुत से देशी राज्यों ने अँग्रेजो से सधि कर उनको प्रभुता स्वीकार कर ली। इस तरह १९वीं सदी के मध्य तक सम्पूर्ण देश पर अँग्रेजो का अधिकार हो गया। १८५७-५८ ई० मे अँग्रेजी शासन के विरुद्ध भयकर विद्रोह हुआ किन्तु वह सफल नही हो सका। अब कम्पनी के राज्य का अत हो गया और भारत के शासन का भार ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ मे ले लिया। ब्रिटिश पार्लियामेट की देख-रेख मे भारत के शासन का प्रबन्ध होने लगा। अब यहाँ का गवर्नर जेनरल वायसराय भी बन गया। १५ अगस्त, १९४७ ई० तक भारत पर अँग्रेजों का प्रभुत्व अक्षुण्ण बना रहा।

भारतवर्ष मे अँग्रेजो ने अपने साम्राज्य का सुदृढ सगठन किया। अँग्रेजी राज-भाषा बना दी गई और स्कूलो, कालेजों तथा विश्वविद्यालयो मे इसी के माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी। अँग्रेजी प्रणाली मे पले-पोसे गये नवयुवको का दृष्टिकोण परिवर्तित होने लगा। भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति मे अधिकाश लोगो की श्रद्धा घट गई और उन पर अँग्रेजियत का गाढा रग चढ गया। वे ब्रिटिश सरकार के परम भक्त बन गये। वे हर बात मे आज्ञाकारी शिष्य के समान अपने शीश झुकाते रहे। देश मे आवागमन के साधन मे भी उन्नति हुई और डाक, तार, रेल आदि की समुचित व्यवस्था की गई। आतरिक विद्रोह और बाहरी आक्रमण से रक्षा के लिए एक विशाल सुसगठित सेना का निर्माण हुआ और राज्य के बड़े बड़े पदो को अंग्रेजो ने ही सुशोभित किया।

इस प्रकार भारत मे बृटिश सरकार की नीति साम्राज्यवादी थी। भारतीयों मे मतभेद पैदा कर शासन करने की नीति व्यवहार मे लाई गई। देश का हर तरह से शोषण हुआ। आर्थिक शोषण तो बड़ा ही भीषण था। यहाँ के सभी उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिये गये। सूती व्यवसाय को समाप्त करने के लिए यहाँ के बुनकरो के अँगूठे काट लिए जाते थे। अब भारतवर्ष बृटिश कारखानों के लिए कच्चे माल का एक विशाल साधन और पक्के मालो के लिए बाजार बन गया। भारत के उद्योग-धन्धो का नाश और इगलैण्ड के उद्योग-धन्धों का विकास किया गया।

इगलैण्ड तथा फ्रास से साथ पुन कुछ अनबन हो गयी और १८५८ ई० मे दुबारा युद्ध छिड़ गया। दो वर्षों के बाद युद्ध समाप्त हुआ। विदेशियो को छ. अन्य नगरो में व्यापार करने का अधिकार मिला और चीनी सरकार ने इसाई पादरियो की रक्षा करने का उत्तरदायित्व स्वीकार किया। चीन क्षतिपूर्ति के रूप मे भारी रकम देने के लिए भी बाध्य किया गया। इगलैण्ड को अफीम का व्यापार करने के लिए भी पूरी स्वतन्त्रता मिल गई।

इस तरह चीनवासियों को विदेशियो के सपर्क मे आना पडा और उनके एकातवास का अन्त हो गया। अब विदेशी व्यापारी तथा धर्म-प्रचारक बिना किसी रोक टोक के अपना कार्य कर सकते थे। बैठने की जगह मिल जाने पर सोने की जगह खोजने का प्रयत्न करना स्वाभाविक ही है। विदेशियों को व्यापार करने का अधिकार मिला। वे धीरे-धीरे अपनी पूँजी का उपयोग कर चीन का शोषण करने का प्रयत्न करने लगे। इसम उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। खानो मे खुदाई होने लगी। रेल, तार आदि का निर्माण होने लगा और हजारो मील मे रेलवे लाइन बन गई। अनेक कल-कारखाने खुल गये। चीन मे मजदूरो की भरमार थी। जिससे मजदूरी मे बहुत सुविधा थी। विदेशियो ने चीन को अपनें-अपने प्रभाव-क्षेत्र मे बॉट लिया—यागटीसिक्याग नदी का विस्तृत मैदान इगलेण्ड के प्रभाव मे था। क्वागतुग प्रदेश फ्रास के और सानतुग जर्मनी के प्रभाव-क्षेत्र मे थे। रूस उत्तरी क्षेत्र मे अपना प्रभाव स्थापित कर रहा था। प्रभाव-क्षेत्र के सिवा विदेशिया ने चीन मे उपनिवेश-विस्तार के लिए भी सफल प्रयत्न किया। हागकाग पर इगलैण्ड का अधिकार था। तिब्बत पर भी उसकी दृष्टि लगी हुई थी। आमूर तथा मगोलिया के प्रदेश रूस के और अनाम फ्रास के अधिकार मे थे। के आवचू प्रान्त जर्मनी के अधीन था, केवल अमेरिका के हस्तक्षेप करने से चीन को विभाजित करने का प्रयत्न पूर्णरूपेण सफल नहीं हुआ। उसने चीन में मुक्त-द्वार की नीति का समर्थन किया था।

जापान भी पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार हुआ। १७वी सदी के मध्य मे जापान ने अन्य देशों से सबन्ध-विच्छेद कर लिया था और विदेशियो के सपर्क मे आने के लिए अनिच्छुक था। परन्तु दो शताब्दियां के बाद विदेशिया ने उसे बलात् अपने सपर्क मे लाकर ही छोड़ा। सर्वप्रथम अमेरिका के प्रेसीडेंट ने पेरी नामक एक नाविक को व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिए जापान भेजा। पेरी को अपने उद्देश्य में सफलता मिली। इगलैण्ड, हालैंड तथा रूस ने भी जापान मे अमेरिका का अनुसरण किया। किन्तु जापान ने स्वय इस कला मे निपुणता प्राप्त कर ली और वह अपने स्वामियो से टक्कर लेने लगा। वह शीघ्र ही पूर्व का इगलैण्ड बन गया। उसका भी औद्योगीकरण हुआ था। वह भी कच्चे माल तथा बाजार की खोज मे था। उसकी आबादी भी बढ़ती जा रही थी। इसके लिए उसे उपनिवेश की भी आवश्यकता

थी। अतः उसकी भी लोलुप दृष्टि अपने पड़ोसी चीन पर पड़ी। उसने १८६४—६५ ई० मे चीन से युद्ध मोल लिया। कोरिया के प्रश्न पर युद्ध छिड़ गया। इस पर चीन का अधिकार था किन्तु जापान उसके आतरिक मामलो मे हस्तक्षेप करना चाहता था। चीन के लिए यह सह्य नहीं था। अत. दोनों मे युद्ध हुआ। चीन पराजित हुआ और लायोतुग प्रायद्वीप, कोरिया तथा फारमोसा उससे छीन लिये गये। जापान के लिए भी उन बन्दरगाहों को खोल दिया जिनमे व्यापार करने मे यूरोपीयनो को अधिकार मिला था। जापान की शक्ति ने यूरोपियनों के दिल मे भय, इर्ष्या-द्वेष उत्पन्न किया था। अत. उन्होंने पोर्ट आर्थर के मुख्य स्थान को जापान के हाथ से छीन कर चीन को दे दिया, किन्तु थोड़े दिनो बाद रूस ने इसे भी हडप लिया। जापान ने रूस से इसका बदला ले लिया। इस प्रकार चीन की भूमि पर साम्राज्यवाद अपना नग्न-नृत्य कर रहा था। इससे चीनी बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होने एक सेना का सगठन किया जो बोक्सर के नाम से प्रसिद्ध है। सेना ने विदेशियो के विरुद्ध विद्रोह किया। सैकडो विदेशी व्यापारिया तथा इसाई धर्म-प्रचारकों की हत्या की गई। राजदूतो के मकान मे आग लगाने की चेष्टा की गई। यूरोपीय शक्तिया ने अतर्राष्ट्रीय सेना भेजी और इसके द्वारा चीन के राष्ट्र-विप्लव को बड़ी ही क्रूरता के साथ कुचल डाला गया। पेकिग की सधि हुई जो चीन के लिए बहुत ही अपमानजनक थी। चीनी सरकार को कडा दण्ड मिला। उसे हरजाने के रूप मे बड़ी रकम देने के लिए वाध्य किया गया।

१६०४—५ ई० मे रूस तथा जापान के बीच युद्ध हुआ। दोनों ही कोरिया और मचूरिया पर अधिकार करना चाहते थे। फलस्वरूप भीषण युद्ध हुआ। जापान विजयी हुआ और दक्षिणी चीन तथा कोरिया मे उसकी स्थिति सुदृढ़ हो गयी। लेकिन युद्ध से रूस की क्षति हुई। चीन की हानि सबसे अधिक हुई। यह युद्ध चीन के भूभाग के लिए उसी की भूमि पर हुआ था। अत स्वाभाविक ही उसे विशेष क्षति उठानी पड़ी।

हिन्द चीन

हिन्द चीन मे फ्रासीसियों के उपनिवेश थे। इसमे अनाम, कोचीन-चीन, कम्बोडिया, टानकीन तथा लेवोस के राज्य थे। इन राज्यो में फ्रासीसी उद्योगपति अनेक उद्योग-धन्धे स्थापित कर इनका शोषण कर रहे थे।

साइबेरिया

साइबेरिया एशिया के उत्तर में निर्जन भू-भाग था। यहाँ की जलवायु अत्यन्त ठडी थी। रूस ने यहाँ अपना उपनिवेश स्थापित किया। दक्षिणी भाग मे ही आबादी कायम हुई रूस ने वहाँ अनेक सुधार कर उसका विकास किया है। एक लम्बी रेलवे लाइन का निर्माण हुआ है जो ट्राससाइबेरियन रेलवे के नाम से विख्यात है।

ईरान तथा अफगानिस्तान

इगलैण्ड तथा रूस ने ईरान मे भी हस्तक्षेप किया। ईरान की सरकार कमजोर थी और वहाँ अराजकता फैली हुई थी। रूस का प्रसार उत्तरी तथा मध्य एशिया मे तीव्र गति से हो रहा था। भारत मे अँग्रेज थे। अत. उनकी सुरक्षा खतरे मे पड़ गई। इससे इगलैण्ड ने रूसी साम्राज्य के विस्तार मे बाधा देना आवश्यक समझा। १९०७ ई० मे इगलैण्ड तथा रूस दोनो ने ईरान को अपने प्रभाव-क्षेत्र मे बॉट लिया, ईरान मे मिट्टी के तेल की खानें हैं। उत्तर मे रूस का और दक्षिण मे इगलैण्ड का प्रभाव रहा और दोनों चक्कियो के बीच मध्यवर्ती भाग नाम के लिए स्वतन्त्र रहा। अब भारत तथा चीन की भॉति यहॉ भी रेल के बनाने, खानो मे खुदाई करने और मिट्टी का तेल निकालने के लिए विदेशी कम्पनियॉ खुली। ईरान का आर्थिक शोषण शुरू हुआ। तेल-कार्य के लिए ऐंग्लो पर्शियन आयल कम्पनी बहुत प्रसिद्ध थी जो १९०९ ई० मे स्थापित हुई। १९६१ ई० तक के लिये कम्पनी को तेल-व्यवसाय का ठीका दे दिया गया। इस कम्पनी ने अपने लाभ का कुछ अश ईरानी सरकार को देने के लिए स्वीकार किया और १९३३ ई० मे ठेका की शर्तों मे परिवर्तन हुआ। १९६१ ई० की अवधि १९९३ ई० तक बढ़ा दी गई।

अफगानिस्तान रूस तथा भारत के बीच स्थित है। अतः फारस की भॉति इस पर भी इन दोना राष्ट्रो के दॉत गड़े हुए थे और वे अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। भारतीय सीमा की रक्षा करने के लिए इस पर अधिकार करना अग्रेजो के लिए अधिक आवश्यक था। १९वी सदी से अफगानिस्तान के आतरिक मामले मे विदेशी हस्तक्षेप शुरू हुआ। अँग्रेजो और वहाँ के अमीरो मे तीन युद्ध हुए—प्रथम १८३९-४२ ई०, द्वितीय १८७८-७९ ई० और तृतीय १८७९ ई० मे। तीसरे युद्ध के फलस्वरूप अफगानिस्तान पर अँग्रेजो की प्रभुता स्थापित हो गयी। अमीरा ने युद्ध को क्षतिपूर्ति की और अपनी राजधानी मे एक अँग्रेज प्रतिनिधि तथा सेना रखना स्वीकार किया। १९०७ ई० मे अफगानिस्तान के सम्बन्ध मे रूस तथा इगलैड के बीच समझौता हुआ। रूस ने अफगानिस्तान से अपना हाथ खीच लिया और इगलैंड ने इसे स्वतत्र रखने का आश्वासन दिया।

तुर्की

१९वीं सदी मे तुर्की भी यूरोप का मरीज बन चुका था। रूस इसका अत कर देना चाहता था, किन्तु इगलैंड पूर्वी साम्राज्य की रक्षा के हेतु इसे बचाये रखना चाहता था। इगलैड अपनी नीति मे बहुत दिनो तक सफल न हो सका। सुलतान की सरकार भी कमजोर थी और विभिन्न प्रान्त साम्राज्य से एक-एक कर अलग होते जाते थे। अतः साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने तुर्की की कमजोरी से लाभ उठाया। इगलैड ने साईप्रस और मिश्र

पर अधिकार कर लिया। जर्मन सम्राट कैसर विलियम का भी लोभ बढ़ा और उसने तुर्की का मित्र होने का ढोंग रचा। उसने इसका शोषण करने के लिए बर्लिन बगदाद रेलवे की योजना कार्यान्वित की। इसमें तुर्की सरकार की ओर से पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की गयी। लेकिन इगलैंड, रूस तथा फ्रास के विरोध से यह योजना सफल नही हो सकी। प्रथम महायुद्ध के होने मे यह रेल-योजना ही एक कारण बनी।

पूर्वी द्वीप-समूह तथा प्रशात महासागर

उपर्युक्त विशाल भू-भागो के अतिरिक्त पूर्वीय द्वीप-समूह तथा प्रशात महासागर के द्वीपो पर विदेशियो ने अधिकार स्थापित किया। सिंगापुर तथा मलाया प्रायद्वीप अँग्रेजो के अधिकार मे रहे है। जावा, सुमात्रा आदि द्वीपो पर डच्चो का अधिकार था। इन द्वीपो मे रबर की उपज खूब होती है और टीन का भी बाहुल्य है। मलाया का सम्पूर्ण टीन और रबर-उद्योग बृटिश सरकार के अधिकार मे है। इन उद्योगो पर ब्रिटिश अर्थ-तत्र की दृढ़ता बहुत कुछ निर्भर करती है। अतः ब्रिटेन मलाया को अभी तक छोड़ना नही चाहता है। वहाँ स्वातत्र्य सघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। सैनिकवाद का नग्न रूप नाच रहा है। मानव-रक्त से होलियाँ खेली जा रही हैं, और वहाँ की धरती रक्तरजित दीख पड़ती है।

प्रशात महासागर के द्वीपों मे नारियल की उपज अच्छी थी। सबसे पहले जर्मनी का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उसने कुछ द्वीपो पर अधिकार कर लिया। बाद में इगलैंड तथा अमेरिका ने हस्तक्षेप किया, इगलैंड के अधिकार में न्यूगिनी आदि द्वीप आये और अमेरिका ने हवाई, समाओ आदि द्वीपों पर अधिकार किया और उसने स्पेन को पराजित कर फिलीपाइस द्वीप पर भी अधिकार कर लिया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पराजित जर्मनी के राज्य सरक्षित प्रदेशो के रूप मे इगलैंड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और जापान को सौंप दिये गये। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में जापान ने अपना दबाव विशेष बढ़ा लिया।

अमेरीकी साम्राज्यवाद

हम एशिया तथा अफ्रीका मे स्थित ब्रिटिश, फ्रासीसी, रूसी, जर्मन तथा इटालियन साम्राज्य का उल्लेख कर चुके। इगलैंड आदि देशों की भाँति अमेरिका में भी औद्योगिक क्राति हुई और वहाँ भी उससे सम्बन्धित सारी समस्यायें उत्पन्न हुईं। उसने अफ्रीका के विभाजन में तो भाग नही लिया किन्तु एशिया के देशों तथा अन्य स्थानों मे हस्तक्षेप किया। १८२३ ई० मे उसने योरोपियनों के लिए अपना द्वार बद कर दिया था। इसी सिद्धान्त के फलस्वरूप अमेरिका-स्थित पुर्तगाली, स्पेनी उपनिवेश स्वतत्र हो गये। इन स्वतत्र राज्यों से अमेरिका के भौतिक विकास में बड़ी सहायता मिली। किन्तु संयुक्त राष्ट्र

स्वय साम्राज्यवाद के मार्ग पर क्रमश बढता गया। १८४६ ई० मे उसने मेक्सिको को युद्ध मे पराजित कर अपनी शक्ति का परिचय दिया।

१८६७ ई० मे उसने रूस से अलास्का का प्रायद्वीप खरीदा। १६वी शताब्दी के अत तथा २०वा शताब्दी के प्रारभ मे उसने प्रशात महासागर के कई द्वीपो पर अधिकार कर लिया। पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीप समूहो मे कई द्वीप भी उसके अधिकार मे आ गये। उसने फिलीपाइन्स द्वीप-समूह, क्यूबा तथा पोर्टोरीको स्पेन से छीन लिया। चीन के व्यापारिक शोषण मे उसने अन्य यूरोपियन राष्ट्रो से हाथ बँटाया और उसी के प्रभाव से चीन मे मुक्त-द्वार की नीति कार्यान्वित हुई। इसी नीति के फलस्वरूप सभी विदेशियो को चीन मे समान रूप से व्यापार करने का सुअवसर मिला। लेकिन यह स्मरणीय है कि यूरोपियनो के द्वारा चीन का जो लूट-पाट हुआ उसमे अमेरिका ने सक्रिय भाग नही लिया। जहाँ बन पड़ा, उसने न्याय का पक्ष लिया। उसी के प्रयत्न से चीन का बटवारा करने की योजना स्थगित रह सकी। अमेरिका की इस नीति से अन्य यूरोपीय राष्ट्र रुष्ट हुए। किन्तु वे उसका कुछ बिगाड नहीं सके।

१६०३ ई० मे अमेरिका ने पनामा जलडमरूमध्य पर अधिकार कर लिया और लैटिन अमेरिका के राज्यो मे हस्तक्षेप करना शुरू किया। इन राज्यों तथा विश्व के अन्य भागो मे भी अमेरिका ने आर्थिक जाल बिछा दिया। साम्राज्यवाद का यह एक दूसरा स्वरूप था, जिसे डालर साम्राज्यवाद कहा जाता है। अमेरिकी साम्राज्यवाद का विस्तृत वर्णन हम आगे चलकर उपयुक्त स्थान पर करेंगे।

इस प्रकार लगभग सारे एशिया महादेश पर विदेशियो ने साम्राज्यवाद का जाल बिछाया और इसका आर्थिक शोषण करना शुरू किया। हाँ, जापान का द्वीप अपवाद-स्वरूप रहा।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विशेषता

ऊपर जितने साम्राज्यो की चर्चा की गई है उनमे अंग्रेजी साम्राज्यवाद ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सबसे अधिक विशाल और स्थायी रहा है। उदारवादिता और परिवर्तनशीलता इसके उत्तम गुण हैं। ऊपर हम प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य क विनाश तथा द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य के सगठन के विषय मे प्रकाश डाल चुके हैं। प्रथम महायुद्ध के समय तक उन उपनिवेशो को, जिनमे गोरी जातियाँ बसती थीं, क्रम-क्रम से आतरिक क्षेत्र मे स्वराज्य दे दिया गया था। ये डोर्मानियन कहलाते थे और इनकी सख्या पाँच थी—कैनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, न्यूफाउडलैंड और दक्षिणी अफ्रीका के सघ। दक्षिणी अफ्रीका के

के सघ मे केप कोलोनी, ट्रासवाल, नेटाल और आरेंजफ्री स्टेट थे। महायुद्ध के अत मे इन उपनिवेशो को वैदेशिक क्षेत्र मे भी स्वतत्रता मिल गई। उन्हें शाति-सभा और राष्ट्र-सघ मे सम्मिलित होने का अधिकार मिला। वे सधि-पत्रा पर भी अपना हस्ताक्षर करने लगे और विदेशों मे अपने दूत भेजने लगे। अब ये व्यावहारिक दृष्टि से स्वतत्र हो गये किन्तु इगलैड के सम्राट के प्रति राज्य-भक्ति रखते थे। १६२१ ई० मे आयरीस फ्री स्टेट को भी डोमीनियन स्टेटस प्राप्त हुआ। इस समय तक साम्राज्य शब्द बडा अप्रिय हो गया था क्योकि यह शोषण और दमन का प्रतीक समझा जाता था। १६०७ ई० के बाद प्राय. हर चार वर्षों पर एक सभा की बैठक होती थी जिसमे साम्राज्य सम्बन्धी विषया पर विचार-विमर्श होता था। यह सभा साम्राज्य परिषद् कहलाती थी। १६०७ के पहले इस तरह की सभा उपनिवेश परिषद् के नाम से प्रसिद्ध थी। १६२६ ई० की साम्राज्य महासभा ने इनकी व्यावहारिक स्वतत्र स्थिति को स्वीकार कर लिया और इन्हे ब्रिटिश राष्ट्रमडल या कामनवेल्थ का सदस्य घोषित किया। अब ब्रिटिश साम्राज्य ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के रूप मे बदल गया। इस ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का प्रधान ग्रेट ब्रिटेन का सम्राट ही रहा। १६३१ ई० मे ब्रिटिश पार्लियामेट ने वेस्ट मिनिस्टर कानून बनाकर १६२६ ई० की घोषणा को वैधता प्रधान कर दी।

साम्राज्यवाद के गुण-दोष

साम्राज्यवाद के विकास पर दृष्टिपात कर लेने के बाद अब इसके गुण-दोषों का विवेचन करना चाहिये। अब यह देखना है कि साम्राज्यवाद के क्या परिणाम हुए हैं, मानव-समाज के प्रति इसकी क्या देन है? अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के साम्राज्यवाद का मानव-समाज पर व्यापक प्रभाव पडा है।

यूरोपीय शासन-प्रबन्ध के फलस्वरूप अनेक पिछड़े हुए देशों की भौतिक उन्नति हुई है। उन देशो की हर प्रकार से उन्नति करने की चेष्टा की गई है। दलदलो और जगलो को साफ करके भूमि को खेती के योग्य बनाया गया है। यातायात के साधनो मे विकास किया गया है और सड़कों और नहरो तथा रेलो आदि का जाल-सा बिछा दिया गया है। आवागमन के पर्याप्त साधनो के फलस्वरूप वाणिज्य-व्यवसाय का विकास हुआ है और वाणिज्य-व्यवसाय के विकास से देश धनधान्यपूर्ण हुए हैं। पिछड़ी हुई जातियो मे ईसाई धर्म का प्रचार तथा शिक्षा का प्रसार हुआ है और सक्रामक तथा अन्य बीमारियो को वैज्ञानिक ढग से रोकने का प्रयत्न किया गया है। अनेक उपनिवेशो मे राज्यनीति तथा शासन-सम्बन्धी सुधार हुए हैं। कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका आदि ब्रिटिश उप-निवेशों मे प्रजातत्र के सिद्धान्त पर स्वराज्य स्थापित हुआ है। इस पर प्रकाश डाला जा

चुका है। यह शान्ति-स्थापना के मार्ग मे भी प्रगति है। क्योकि ग्रेट ब्रिटेन और डोमीनियन के बीच युद्ध का छेड़ना समव नहीं है। डोमीनियन ब्रिटेन से बिलकुल स्वतत्र हैं और उसके साथ उनका अटूट सम्बन्ध है। वे सभी ऐसे सूत्र मे बँधे हैं जो ऐटमड बर्क के शब्दो मे हवा के समान हल्का तथा लौह-श्रृखला की भॉति मजबूत हैं। विदेशी सत्ता तथा शोषण ने एशिया के देशो मे राष्ट्रीय तथा स्वातन्त्र्य आन्दोलनो को प्रोत्साहित किया है। इसके अतिरिक्त यूरोप के प्रकाण्ड विद्वानो के सतत् प्रयत्न से पूर्व की भाषाओं तथा सस्कृतियो के विकास को महत्त्वपूर्ण प्रोत्साहन मिला है। अब तक जिन बातो का उल्लेख किया गया है वे साम्राज्यवाद के उज्ज्वल पक्ष है। किन्तु वे विशाल रेगिस्तान मे सकीर्ण शाद्वल के समान हैं। साम्राज्यवाद का दूसरा पक्ष भी है जो विस्तृत है और जिसमे सिर्फ बुराइयॉ है।

साम्राज्यवाद का सम्बन्ध रक्तपात तथा शोषण से रहा है। इसके प्रवर्त्तक अन्यायी, क्रूर तथा स्वार्थी होते हैं और अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए महानिन्दनीय कार्य भी करने से बाज नहीं आते। पिछड़े देशो की भौतिक उन्नति हुई तो अवश्य, किन्तु उसमें भी साम्राज्यवादी राष्ट्रो का स्वार्थ था। इसी से उनके धन-वैभव मे वृद्धि हुई। शिक्षा का प्रसार हुआ, किन्तु उतना ही जितना उनके कार्य के लिए आवश्यक था। उन्होने विजित देशो की राजनीतिक स्वतत्रता का अपहरण किया और उनका आर्थिक शोषण कर उनके उद्योग-धधो को नष्ट कर दिया। साम्राज्यवादियो ने विजित जाति की जीवनी-शक्ति चूस ली। उनके सास्कृतिक विकास मे रुकावट डाल दी। कई स्थानों मे आदिम जातियॉ निर्मूल कर दी गई और कई जगहो मे उन्हे दास या कुली बनाकर उनके साथ अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। विजित देशो के निवासियो को इसाई धर्म ग्रहण करने के लिए बाध्य किया गया। यद्यपि इसाई पादरियो ने धर्म-प्रचार के लिए रक्त की नदियॉ नहीं बहायी, फिर भी लोगों को अनेक प्रलोभन दिखलाकर इसाई धर्म स्वीकार करने के लिए प्रभावित किया गया।

साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा दोष तो यह है कि इसने छोटे-बड़े अनेक युद्धों को प्रोत्साहित किया है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता तथा गुट-निर्माण को प्रोत्साहन मिला है। इसी कारण तो २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध में दो भीषण विश्वयुद्ध हुए। इन युद्धों मे अगणित नर-नारियो का सहार हुआ, असीम धन-दौलत का दुरुपयोग हुआ। विजेता विजित देश के भाग्य-विधायक बन जाते हैं और उपनिवेश-वासियों के हित की सर्वथा उपेक्षा करते हुए अपनी उदर-पूर्ति के लिए उनके सारे साधनों का मनमाना उपयोग करते हैं। शासित जाति के मुख से जब विरोध

की आवाज निकलती है तो बम, बारूद तथा बदूक के द्वारा उसे बद कर दिया जाता है। उन पर नाना भाँति के अत्याचार होते हैं। लेकिन एक समय आता है जब यह अत्याचार अपनी सीमा की अतिम चोटी पर पहुँच जाता है, विजितो के हृदय मे आत्मबल का सचार होता है और आततायी शासक को स्वय अपनी रक्षा की चिन्ता करनी पडती है। अब यह स्पष्ट हो गया कि साम्राज्यवाद की भित्ति सैनिक शक्ति रही है। इसका मार्ग हिंसात्मक रहा है। हिसा का उत्तर प्रतिहिंसा है। इससे घृणा और द्वेष उत्पन्न होते हैं। साम्राज्यवाद विश्व-बधुत्व के मार्ग मे सबसे बड़ी रुकावट है और इसी से विश्वशान्ति खतरे मे है। इसके रहते विश्वशान्ति की आशा करना निरी मूर्खता है।

— —

अध्याय ३१

यूरोप का मरीज-तुर्की साम्राज्य

भूमिका

१५वी और १६वी शताब्दियो मे यूरोप मे तुर्की साम्राज्य एक बड़ा ही प्रबल और शक्तिशाली साम्राज्य था जिसका विस्तार एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका मे बहुत दूर तक हो चुका था। यूरोप मे तमाम बाल्कन प्रायद्वीप उसके अधीन था। लेकिन उत्थान के बाद पतन का जो स्वाभाविक रास्ता है, तुर्क लोग भी उससे वचित नही रह सके। नवीन विचार-धाराओ से वे अछूते एव अप्रभावित रहे, उनमे स्फूर्ति एव जागृति का सचार नहीं हुआ। वहाँ के मुसलमान शासक इस आधुनिक युग मे भी मध्ययुग की भाँति ही चलते रहे, अपने कट्टर धार्मिक बन्धनो मे जकड़े रहे एव जनता को कमाई पर भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करते रहे। पश्चिमी यूरोप की ज्ञान-विज्ञान की प्रगति से उन्होने अपना सम्पर्क नही रखा और फलस्वरूप राष्ट्रीयता के उत्थान एव साम्राज्य-प्रसार के युग मे भी वे पतन के पथ पर ही उन्मुख हुए। १८वी शताब्दी से उनकी अवनति होने लगी और शीघ्र ही ऐसा जान पड़ने लगा कि इस महान् साम्राज्य का विलयन होकर ही रहेगा। असल मे बाल्कन प्रायद्वीप के निवासी अधिकाशत इसाई थे और मुसलमान सुल्तान अपनी धार्मिक असहिष्णुता के कारण उनको बराबर नाखुश ही रखता था। अतः वहाँ की जनता मे भी सुल्तान के रुख के खिलाफ प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था और वे अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील भी होने लगे। पड़ोस मे रूस था जो बाल्कन प्रायद्वीपा मे अपना प्रभुत्व कायम करना चाहता था और वहाँ के इसाईयो को मदद भी देता था। इसमे उसका अपना स्वार्थ था। यूरोप की यह स्थिति तत्कालीन राजनीतिज्ञो के लिए एक चिन्त्य समस्या बन गयी जो प्रथम महायुद्ध तक कायम रही। पश्चिमी यूरोप के राज्य यह सोचते थे कि यदि बाल्कन प्रायद्वीप के देश रूस के प्रभाव मे स्वतत्र हो गए तो इससे रूस की शक्ति बढ जायगी और यूरोप का शक्ति-सन्तुलन खतरे मे पड जायेगा। रूस के जार ने द्रुतगति से पतन की ओर अग्रसर होते हुए तुर्की साम्राज्य को यूरोप का मरीज बतलाया था जिसकी मृत्यु आसन्न थी और उसके दाह-सस्कार की तैयारी वह करना चाहता था। लेकिन इसके विपरीत इगलेण्ड और फ्रास आदि देश उसे किसी भाँति जीवित रखना चाहते थे। यही समस्या इतिहास मे पूर्वी समस्या के नाम से सम्बोधित की जाती है।

सर्बिया की बगावत

फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के सिद्धान्तो ने बाल्कन प्रायद्वीप के इसाई निवासियो मे विद्रोह की भावना का सूत्रपात किया। उन प्रदेशो मे राष्ट्रीयता की भावना का स्फुरण हो चुका था और उन्होने तुर्की साम्राज्य से पृथक् होने के लिए विद्रोह प्रारम्भ कर दिया था। १६वी सदी मे इस तरह के विद्रोहो का तॉता बॅधा रहा। सर्वप्रथम राष्ट्रीय बगावत १८०४ ई० मे सर्बिया मे हुई जिसका नेता कारा जार्ज था। इस समय यूरोप नेपोलियनिक युद्ध मे व्यस्त था, अत. किसी अन्य राष्ट्र का ध्यान इस तरफ नहा गया, यद्यपि रूस चूकने वाला नहीं था। १८१७ ई० मे कारा जार्ज मारा गया और मिलोश नेता बना। रूस की मदद से सर्बिया को आजादी मिल गई और मिलोश सर्बिया का शासक बनाया गया।

यूनान की आजादी की लडाई

१८२१ ई० मे यूनान की इसाई प्रजा ने सर्बिया के उदाहरण से उत्साहित होकर तथा रूस से सहायता पाने की उम्मीद मे बगावत कर दिया। बगावत का केन्द्र दक्षिण मे था। १८२१-२७ ई० तक यूनानियो को किसी से भी कोई सहायता नहीं मिली। १८२५ ई० मे निकोलास प्रथम रूस का जार हुआ। इगलेण्ड के विदेश मन्त्री कैनिग ने यूनान के मामले मे रूस और फ्रास को मिला लिया। १८२७ ई० मे तुर्की जहाजी बेडे नष्ट कर दिये गए। इसी साल कैनिग की मृत्यु हो गई और नये विदेश-मन्त्री वेलिंगटन ने अपनी नीति बदल दी। फिर भी यूनान रूस की सहायता से ही आजाद हो गया और एड्रियानोपुल की सन्धि (१८२६ ई०) के द्वारा तुर्की सुल्तान ने उसे मजूर कर लिया। रूस को भी कुछ व्यापारिक और राजनीतिक सुविधाऍ प्राप्त हुई और एशिया मे उसकी सरहद मे कुछ वृद्धि हुई।

मुहम्मद अली का विद्रोह (१८३२ ई०)

यूनान की आजादी की लड़ाई मे तुर्की की कमजोरी स्पष्ट हो गई। इसी लडाई मे मिश्र के गवर्नर मुहम्मद अली ने उसकी सहायता की थी और बदले मे सीरिया मॉग रहा था। सुल्तान के इन्कार करने पर उसने आक्रमण कर सीरिया को अधिकृत कर लिया। इगलैण्ड ने मुहम्मद अली का पक्ष लिया। रूस ने सुल्तान का ही पक्ष लिया। तब तक फ्रास भी मुहम्मद अली के पक्ष मे जा मिला। अन्त मे इगलैण्ट, आस्ट्रिया, प्रसा और रूस के बीच लदन में समझौता हुआ जिसके अनुसार सीरिया सुल्तान को लौटा दिया गया और मुहम्मद अली को मिश्र की आनुवशिक गवर्नरी मिली। इस सन्धि मे फ्रास की उपेक्षा की गई थी अतः इगलैण्ड तथा फ्रास मे दुश्मनी का प्रारम्भ हो गया।

क्रीमिया का युद्ध

१८५४ ई० मे जब कि क्रीमिया का युद्ध छिड़ गया तो पूर्वी समस्या का एक नया अध्याय

आरम्भ हुआ। रूस और फ्रास की लोलुप साम्राज्यवादी नीति का यह परिणाम था। रूस के जार निकोलस प्रथम ने तुर्की सुल्तान से तुर्की के ग्रीक चर्चों के सरक्षण का अधिकार माँगा और फ्रासीसी सम्राट नेपोलियन तृतीय ने वहाँ के लैटिन चर्चों का। जार ने मोलेडेविया नामक तुर्की के एक प्रदेश को अधिकृत कर लिया। इगलैण्ड और फ्रास ने जार के पास एक चेतावनी भेजी तथा मोलेडेविया छोड देने को कहा। रूस इसके लिए तैयार नही था। अत इगलेण्ड और फ्रास ने १८५४ ई० मे उसके खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया। १८५६ ई० मे पेरिस की सन्धि हुई। मोलेडेविया और वेलेशिया पर रूस का सरक्षण हटा दिया गया और ये तुर्की सम्राट की देख-रेख मे स्वतत्र छोड़ दिये गए। तुर्की को यूरोप के राष्ट्रीय परिवार का एक सदस्य मान लिया गया और उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी महान् राष्ट्रों ने अपने ऊपर ली। इस युद्ध से रूस की साम्राज्य विस्तार की नीनि कुछ काल के लिए रुक गई।

बर्लिन काग्रेस १८७८ ई०

पेरिस की सन्धि के बीस वर्ष बीतते-बीतते वेलेशिया और मोलेडेविया के प्रदेशो ने तुर्की सुल्तान के विरुद्ध पुन. बगावत का झडा खडा किया। सर्विया, बोसेनिया, मौटीनिग्रो, बल्गेरिया आदि मे भी विद्रोह की आग सुलग रही थी। रूस के लिए यह अवसर बडा ही बहुमूल्य था। उसने १८७७ ई० मे टर्की पर हमला कर दिया और वह सेनस्टेफानो की सन्धि करने को बाध्य हुआ। उसने कई प्रदेशो को स्वतत्र मान लिया तथा बहुतो को रूस के सरक्षण मे छोड दिया। अब इगलैण्ड चुप नहीं रह सका, क्योंकि उसके भूमध्यसागरीय स्वार्थ मे खतरा उपस्थित हो गया। प्रधान मत्री डिजरैली ने हस्तक्षेप किया और फलस्वरूप १८७८ ई० मे बर्लिन की सधि हुई जिसके द्वारा रूस के अधिकार मे आए हुए प्रदेशो की सख्या कम कर दी गई, रूमानिया की आजादी मान ली गई, बोसेनिया और हर्जेगो-बिना को आस्ट्रिया के सरक्षण मे छोड दिया गया और इगलैण्ड को साईप्रस द्वीप मिला। इस तरह इगलैण्ड के हस्तक्षेप से इस बार भी तुर्की साम्राज्य का विलयन रुक गया। डिजरैली ने इसे 'सम्मानपूर्ण सन्धि' कहा था। पर भविष्य की घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया कि पूर्वी समस्या का निराकरण इस सन्धि के द्वारा भी नहीं हो सका, उल्टे इसने भविष्य मे भीषण युद्धो के बीज बोये।

बर्लिन कांग्रेस के बाद

ऊपर कहा जा चुका है कि बर्लिन काग्रेस ने पूर्वी समस्या का समाधान नहीं किया। १८८५ ई० मे इसकी एक शर्त की उपेक्षा की गई। बल्गेरिया और पूर्वी रूमानिया एक राजा के अधीन मिला दिया गया। इस पर सर्विया ने बल्गेरिया के विरुद्ध लडाई छेड दी किन्तु पराजित हो गया। आस्ट्रिया के प्रयास से दोनों के बीच सन्धि हो गई।

१८९७ ई० मे यूनान और तुर्की के बीच युद्ध प्रारम्भ हो गया। सुल्तान की मनोवृत्ति मे कोई परिवर्त्तन नही हो रहा था। इसाईयो पर अत्याचार होता रहा। क्रीट के इसाई निवासियो ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। यूनान ने उन्हे सहयोग दिया क्योकि वे लोग यूनान के ही साथ मिल जाना चाहते थे। तुर्की ने भी युद्ध घोषित कर दिया। यूनान की हार हो गई। यूरोप के महान् राज्यो ने पुन. तुर्की को उचित सन्धि करने के लिए बाध्य किया। क्रीट को तुर्की के सरक्षण मे स्वराज्य दे दिया गया और यूनान के राजा का लड़का वहाँ का गवर्नर नियुक्त हुआ। किन्तु यूनान और क्रीट को पृथक् ही रखा गया।

१९०८ ई० मे तुर्की मे तरुण तुर्क-आन्दोलन हुआ। सुल्तान के निरकुश शासन का अन्त हो गया। बल्गेरिया ने अपनी स्वतत्रता घोषित कर ली और आस्ट्रिया ने बोसेनिया तथा हर्जेगोविना को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। रूस तथा सर्विया ने आस्ट्रिया के इस कार्य को नापसन्द किया किन्तु वे कुछ कर नही सके।

बाल्कन-युद्ध

१९१२-१३ ई० मे दो बाल्कन-युद्ध हुए। १९१२ ई० मे बल्गेरिया, सर्विया, ग्रीस और मौण्टनिग्रो तुर्की के खिलाफ एक बाल्कन-सघ कायम किया और पहली लड़ाई हुई। तुर्की हार गया और यूरोप मे कुस्तुन्तुनिया के अतिरिक्त सारा राज्य खो गया। दूसरे साल हिस्से के प्रश्न पर सघ के सदस्यो के बीच ही लड़ाई हुई। एक तरफ बल्गेरिया था और दूसरी तरफ रूमानिया तथा अन्य राज्य थे। बल्गेरिया हार गया और बुखारेस्ट की सन्धि के अनुसार उसे पहले से कम हिस्सा मिला। ये बाल्कन-युद्ध प्रथम महायुद्ध की पृष्ठभूमि कहे जाते हैं।

पूर्वी समस्या की प्रमुखता का अन्त

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पूर्वी समस्या की प्रमुखता का अन्त हो गया। इसके कई कारण हैं। पहले तो महायुद्ध में तुर्की ने जर्मनी का पक्ष लिया और ये दोनो पराजित हो गए। अब यूरोप से तुर्की की विदाई हो गई। दूसरे, तुर्की मे क्रान्ति हुई और वहाँ गणराज्य की स्थापना की गई। तीसरे, युद्धोत्तर काल मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का प्रचार हुआ और शक्ति-सन्तुलन की नीति की प्रधानता नही रही। चौथे, बाल्कन प्रायद्वीप के सभी राज्य स्वतत्र हो गए और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर उनका सगठन हो गया। पाँचवें, रूस की नीति मे महान् परिवर्त्तन हो गया। १९१२ ई० के बाद वह आन्तरिक सगठन के क्षेत्र मे विशेष रूप से व्यस्त रहा। अब बाल्कन मे फैलने की उसकी नीति नहीं रही और उसके पास पर्याप्त अवकाश भी नहीं रहा।

अध्याय ३२

मानव-समाज का पागलपन—प्रथम विश्वयुद्ध

भूमिका

१९१४ ई० विश्व-इतिहास मे महत्त्वपूर्ण तिथि है। इसी साल अगस्त महीने मे मानव-समाज ने अपने पागलपन का सर्वप्रथम परिचय दिया। मानव ने एक ऐसे युद्ध का श्रीगणेश किया जो विश्वयुद्ध या महायुद्ध के नाम से विख्यात है। इस तरह का युद्ध अबतक के मानव-इतिहास मे नहीं हुआ था। एक ओर बत्तीस राज्य थे—ग्रेट ब्रिटेन और उसके सभी डोमीनियन, फ्रास, रूस, इटली, बेल्जियम, सर्बिया, युनान, रूमानिया, मौन्टनिग्रो, चीन, जापान, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ब्राजील, क्यूबा आदि और दूसरी ओर चार राज्य थे—जर्मनी, आस्ट्रिया, हगरी, बल्गेरिया और तुर्की। इसकी दूसरी विशेषता यह थी कि इसमे केवल पेशेवर सैनिको ने ही नहीं भाग लिया, अन्य लोगो को भी इसमे भाग लेने के लिए बाध्य होना पडा। अतीत की भाँति यह दो राजाओ का ही युद्ध नही रहा बल्कि यह राष्ट्रो का युद्ध हो गया। तीसरे, इस युद्ध मे अच्छे और बुरे सभी प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रयोग हुआ जिसका परिणाम बडा ही भयकर हुआ। सर्वप्रथम विज्ञान से होने वाली बुराइयों का भी लोगो को आभास मिला। चौथे, पृथ्वी, समुद्र और आकाश तीनो ही क्षेत्रो मे युद्ध हुए। पाँचवाँ, मानव-सहार का ऐसा हृदय-द्रावक चित्र पहले कभी भी नही उपस्थित हुआ था। मनुष्य ने अपनी भौतिकता, क्रूरता और पाशविकता का खूब प्रदर्शन किया। मानव-रक्तपात और सहार चरम सीमा को भी लाँघ गये। मनुष्य ने पशु से भी गया-बीता अपने को साबित किया। इस विश्वव्यापी युद्ध मे मनुष्य ने नि सकोच दूसरे मनुष्य पर आक्रमण किया और उसका खून बहाया। चार वर्षों के बाद युद्ध का अन्त हुआ। इसके पश्चात् विजेता और विजित दोनो ही सुखी तथा शान्त नही रह सके। युद्ध-जनित समस्याओ ने दोना ही के गले को पकड लिया। पराजित राष्ट्रो मे द्वेष और बदला की भावना का बीजारोपण हुआ। विजयी राष्ट्र भय और शका से पीडित हुए। शान्ति के लिए विजेता तथा विजित दोनो ही लालायित रहे।

अब इस महामारी के कारणो और परिणामो पर विचार करना आवश्यक है।

मौलिक कारण

(१) गुप्त सन्धि प्रणाली—गुप्त तरीके से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना आधुनिक काल का सबसे बड़ा अभिशाप है। इससे यूरोपीय राज्यों मे पारस्परिक भय तथा शका की

वृद्धि हो रही थी। इसी के कारण यूरोप दो विरोधी दलो मे बँट गया था। १८८२ ई० मे जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली मे 'गठबन्धन हुआ और १६०७ ई० मे इगलैण्ड, फ्रास तथा रूस दूसरे दल में सगठित हुए। प्रत्येक दल के सदस्य एक दूसरे की सहायता करने के लिए अपने को बाध्य समझते थे। अत' कोई साधारण घटना होने पर भी प्रत्येक सदस्य अपने मित्र की सहायता करने के लिए तत्पर हो जाता था और इससे मित्रता का सूत्र दृढ़तर हो जाया करता था।

(२) **सैनिकवाद**—फ्रासीसी क्रान्ति ने राष्ट्रीय सैन्यकरण की प्रथा प्रचलित की। राष्ट्र का कोई भी योग्य व्यक्ति सेना म भर्ती होने के लिए बाध्य किया जाने लगा। १६वीं सदी मे रूस की अद्भुत विजय ने राष्ट्र की सैनिक शक्ति का महत्त्व प्रदर्शित किया। अब यूरोपीय राज्यों मे सेना की वृद्धि दिन दूनी रात चौगुनी होने लगी। कितने लोगो का यह विश्वास हो गया कि शान्ति-स्थापना के लिए युद्ध की तैयारी ही सर्वोत्तम सावन है। अब सेनाध्यक्षो का प्रभाव राजनीति मे भी बढ़ने लगा, यद्यपि वे राजनीतिक तथा कूटनीतिक क्षेत्र के लिए अनभिज्ञ होते थे। सैनिक शक्ति और अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि से युद्ध को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही था।

(३) **राष्ट्रीयता**—१६वी सदी मे इसकी प्रेरणा से इटली तथा जर्मनी का एकीकरण हुआ, किन्तु २०वी सदी मे यह घातक सिद्ध हुआ। इसने आस्ट्रिया-हगरी के साम्राज्य मे अव्यवस्था उत्पन्न कर उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। सर्विया मे सभी सभाओं को एकत्र करने का आन्दोलन चल पडा। जर्मनी ने आलसेस लोरेन को ले लिया था जिससे फ्रास मे असन्तोष की अग्नि सुलग रही थी। जर्मनी और इटली को इगलैण्ड तथा फ्रास की राष्ट्रीय समृद्धि असह्य थी और निकट पूर्व मे आस्ट्रिया तथा रूस मे प्रतिद्वन्द्विता थी। जर्मनी के लेखक अपनी सस्कृति को सर्वोच्च सिद्ध कर रहे थे और विश्व मे इसका प्रसार करना चाहते थे।

(४) **साम्राज्यवाद**—साम्राज्यवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता की अग्नि मे घी का काम किया। औपनिवेशिक तथा व्यापारिक प्रतियोगिता ने युद्ध अनिवार्य कर दिया। औद्योगिक क्रान्ति के कारण सभी महान् राज्यो को कच्चे माल तथा बाजार की आवश्यकता थी। १८७० ई० के बाद नये साम्राज्यवाद का उदय हुआ। एशिया और अफ्रीका के बँटवारे के लिए होड़-सी मच गई। रेल, बैक आदि विभिन्न साधनो मे पूँजी लगायी जाने लगी।

(५) **प्रेस**—लोकमत के निर्माण मे प्रेस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक यूरोपीय

देश मे समाचार-पत्रो के द्वारा राष्ट्रीय भावना उत्तेजित की जाती थी। राष्ट्रीय गौरव बढाने के हेतु ये युद्ध का प्रचार करते थे और घटनाओ तथा स्थितिया का दुरुपयोग करते थे।

(६) **अन्तर्राष्ट्रीय सस्था का अभाव**—वर्तमान सदी के पहले १४ वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय दुर्व्यवस्था का काल था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे चार दुर्घटनाएँ हुई—दो मौरक्को और दो बालकन मे। इन दुर्घटनाओं के फलस्वरूप यूरोप के दोनो दलो मे विरोध की वृद्धि होती गई। किन्तु कोई ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था नहीं थी जो महान् शक्तियो पर किसी प्रकार का दबाव डाल कर झगड़े का निबटारा कर सके।

(७) **जर्मनी का उत्तरदायित्व**—उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ अधिक या कम सभी महान् राज्यो मे काम कर रही थी। किन्तु युद्ध की स्थिति उत्पन्न करने मे जर्मनी विशेष रूप से सक्रिय रहा। जर्मनी का कैसर विलियम द्वितीय साम्राज्यवाद और सैनिकवाद का बडा भूखा था और अपने देश को सर्वशक्तिशाली बनाना चाहता था। बिस्मार्क के ही समय मे स्थल-सेना का सुदृढ सगठन हो चुका था। अतः उसका ध्यान हवाई तथा सामुद्रिक सेनाओ के निर्माण की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। उनमे भी सामुद्रिक सेना के सगठन पर ही अधिक जोर दिया गया। जर्मनी का भविष्य समुद्र पर निर्भर है, यह लिखकर पुस्तिकाओ का वितरण होने लगा और कई जहाजी बिल पास किये गये। सामुद्रिक स्टेशन के लिए हेलीगोलैण्ड इगलैण्ड से खरीदा गया और कई अन्य स्थानों मे ऐसे स्टेशन स्थापित हुए। कील नहर का निर्माण हुआ और यातायात के अन्य साधनो मे विकास किया गया। बर्लिन-बगदाद रेल-निर्माण की योजना बनी और तुर्की के निरकुश सुलतान अब्दुल हमीद से मित्रता स्थापित हुई। जर्मनी के मित्र आस्ट्रिया मे १८६८ ई० की बर्लिन सधि की शर्तो के विरुद्ध बोसेनिया तथा हर्जेगोबिना को साम्राज्य मे मिला लिया। जर्मनी ने स्वय तो इसकी उपेक्षा की ही, रूस को भी इस मामले मे हस्तक्षेप करने से रोका। उसने मोरक्को मे १६०५ और १६११ ई० मे हस्तक्षेप किया जिसके परिमाणस्वरूप इगलैण्ड फ्रास की मैत्री सगठित हुई। कैसर की नीति और कार्यक्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह नेपोलियन प्रथम की भाँति महत्त्वाकाक्षी था।

तात्कालिक कारण

युद्ध का तात्कालिक कारण था २८ जून १६१४ ई० को आस्ट्रिया के राजा फ्रासीसी फरडीनेन्ड और उसकी पत्नी की सेराजोवो मे हत्या। यूरोप मे सामान तो पहले ही से वर्त्तमान थे, इस घटना ने चिनगारी का काम किया। आस्ट्रिया ने सर्विया पर सदेह किया क्योंकि आस्ट्रियन साम्राज्य स्थित सलाओ को भड़काने मे उसका हाथ था। ४८ घटे के भीतर स्वीकार करने के लिए आस्ट्रिया ने सर्विया के पास एक प्रतिज्ञापत्र भेजा। सर्विया ने अस्वी-

कार कर दिया। आस्ट्रिया ने २६ जुलाई को सर्विया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। रूस सर्विया की ओर से और जर्मनी आस्ट्रिया की ओर से युद्ध मे शामिल हो गये। फ्रास रूस का मित्र था। अत. फ्रास युद्ध मे कूद पड़ा। अभी तक इगलैण्ड का रुख अनिश्चित था। उसने युद्ध को रोकने का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता को भग कर दिया और इसी राज्य से होकर फ्रास पर आक्रमण किया तो इगलैण्ड ने भी ४ अगस्त को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। इगलैण्ड के राजनीतिज्ञ की यह नीति रही है कि बेल्जियम तटस्थ रहे क्योकि इसकी सुरक्षा पर इगलैण्ड की सुरक्षा भी आश्रित थी। दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सधि के द्वारा महान् राज्यो ने इसकी तटस्थता की रक्षा करने के लिए प्रतिज्ञा की थी। इन्ही कारणो से इगलैण्ड युद्ध मे भाग लेने के लिए बाध्य हुआ।

युद्ध के उत्तरदायित्व को बतलाने के लिए कोई उपयुक्त वैज्ञानिक साधन नही है। शायद ही कोई दिल से युद्ध चाहता था। लेकिन यूरोप के राजनीतिज्ञ और नेतागण कुछ ऐसी परिस्थितिया के वशोभूत थे जो कई पीढिया से काम कर रही थी। इस प्रकार एक राजा और रानी के वध से यूरोपीय युद्ध का श्रीगणेश हुआ। शीघ्र ही यह विश्वयुद्ध के रूप मे परिणत हो गया। ससार के अन्य राष्ट्र एक या दूसरे पक्ष से युद्ध मे शामिल होते गए। चार वर्षा तक विश्व के रगमच पर युद्ध का नाटक खेला जाता रहा। १६१७ ई० मे सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का प्रवेश हुआ और दूसरे ही साल नाटक के पर्दे का आक्षेप हो गया। ११ नवम्बर १६१८ ई० को युद्ध बन्द हो गया। मित्र राष्ट्रो की विजय हुई और यूरोप के केन्द्रीय राज्य पराजित हुए।

मित्र राष्ट्रो की विजय के कारण

अब एक पक्ष की विजय और दूसरे पक्ष की पराजय के कारणो का अध्ययन करना है। पहले तो मित्र राष्ट्रो की शक्ति असीमित थी। उनके साधन अस्त्र-शस्त्र, रसद आदि सभी भरपूर थे। विश्व का अधिकाश भाग उनकी ओर से युद्ध मे सम्मिलित था। समुद्र पर भी उनका आधिपत्य था। शत्रु राष्ट्रो के साधन सीमित थे। अतः दीर्घकालीन युद्ध मे वे विवश हो गये। दूसरे, १६१५ ई० मे इटली अपने गुट को धोखा देकर मित्र राष्ट्रो की ओर मिल गया। तीसरे रूस से मुक्त जर्मन कैदी जर्मन सेना मे भर्ती कर लिये गये जिसका सैनिको पर बुरा प्रभाव पड़ा। चौथे, १६१७ ई० मे युद्ध मे अमेरिका भी कूद पडा। इससे मित्र राष्ट्रो के आर्थिक तथा सेना सम्बन्धी साधनो मे बहुत वृद्धि हो गई और उनकी आशा तथा खुशी का ठिकाना न रहा, इससे शत्रु राष्ट्रो मे निराशा और आतक फैल गया।

शान्ति-सम्मेलन और सन्धियाँ

युद्ध के अत होने पर पेरिस मे शान्ति-सम्मेलन बड़े धूमधाम के साथ आयोजित हुआ। विभिन्न शक्तियों के साथ विभिन्न सधियाँ हुई। जर्मनी के साथ वर्साय की सधि हुई और
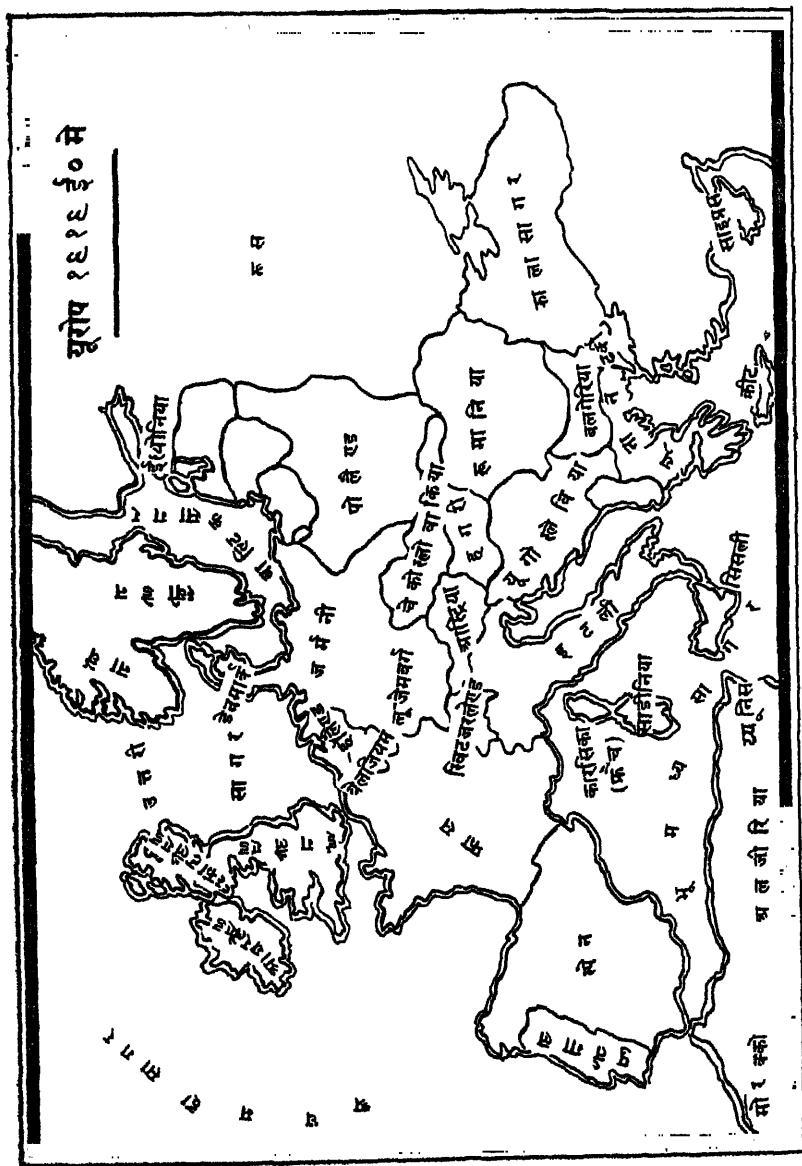
चित्र १८—१९१९ ई० में यूरोप

वह विशेष महत्वपूर्ण है। जर्मनी युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया अत: उसे कठोर सजाएँ भुगतनी पडी। जर्मनी का अधिकाश भू-भाग उसके हाथ से निकल गया। अलसेस लोरेन फ्रास को मिल गया। सारा प्रदेश भी १५ वर्षों तक उसके अधिकार मे रखने के लिए निश्चय हुआ। इस तरह जर्मनी का अग-भग कर दिया गया। जापान ब्रिटेन, आदिने मिलकर उसके समुद्र पार के प्रदेशो को बॉट लिया। जर्मनी की सैनिक शक्ति बहुत घटा दी गई उस पर क्षति-पूर्ति की विशाल रकम लाद दी गई जिसे चुकाना उसकी शक्ति से परे था।

राष्ट्रीयता के आधार पर यूरोप के मानचित्र का निर्माण हुआ। पोलैंड, फिनलेण्ड, स्थोनिया, लेटेविया, लीथुइनिया, चेकोस्लेविया, युगोस्लोविया और हगरी जेसे आठ नये राज्य स्थापित हुए। आस्ट्रिया, हगरी, बलगेरिया और तुर्की के राज्यो का अधिकांश भाग छीन लिया गया। यूरोप के बाहर जर्मनी और तुर्की के प्रदेश मेनडेट प्रथा के द्वारा अन्य महान् राज्यो को सौप दिये गये। मेसोपोटामिया, फिलस्तीन और पूर्वी अफ्रीका ग्रेट ब्रिटेन तथा सीरिया फ्रास को मिले।

शान्ति और सधि की विफलता

युद्ध-विजय के साथ शान्ति नहीं मिली और शान्ति के साथ विजय नही प्राप्त हुई। ससार के इतिहास मे शायद ही कोई अन्य सन्धि वर्साय की सधि के समान विफल और अनिष्टकारी सिद्ध हुई होगी। इसके द्वारा कोई निर्णय नही हुआ। किसी प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। इसने जितनी समस्याओं का समाधान किया उनसे अधिक समस्याओ को उत्पन्न कर दिया। इसके गर्भ मे दूसरे युद्ध के बीज छिपे रहे जो धीरे-धीरे फूलने-फलने लगे और दो दशाब्दियो मे ही मनुष्य फिर पागल हो उठा। इसकी विफलता के कई कारण थे।

शान्ति-सम्मेलन की बैठक दुर्भाग्यपूर्ण वातावरण में हुई, युद्ध-काल मे सर्वसाधारण को बडी परेशानी उठानी पडी। विजयी देशो मे लोकमत बडा ही कुण्ठित और उत्तेजित अवस्था मे था। निकट अतीत के आतक से लोग भयभीत थे और भविष्य मे इसकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए चिंतित तथा व्यग्र थे। शान्ति-सम्मेलन मे पेशेवर कूटनीतिज्ञों की नही बल्कि राजनीतिक नेताओं की प्रधानता थी। वे अपने देश के लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। दूसरे, शान्ति-सम्मेलन के लिए पेरिस उपयुक्त स्थान नही था क्योंकि फ्रास जर्मनी का कट्टर शत्रु था। सम्मेलन भी वर्साय के महल मे हुआ जहाँ आधी शताब्दी पूर्व बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मन साम्राज्य की घोषणा की गई थी। इससे जर्मनी से बदला लेने की भावना अधिक उत्तेजित हो उठी। तीसरे, सम्मेलन के सामने अग्रिम कार्यक्रम तैयार नही था। दो सिद्धान्त प्रमुख थे। अमेरिकी राष्ट्र-सघ की स्थापना कर शान्ति-सुरक्षा और स्वतन्त्रता के आधार पर नई व्यवस्था का निर्माण करना और फ्रासीसी, जर्मनी और

पश्चिमी यूरोप के बीच सुदृढ अनुलक्ष्य दुर्ग का निर्माण करना। किसी भी सिद्धान्त का अक्षरश· पालन नही हुआ। उलटे न्याय तथा शक्ति, आदर्शवाद तथा यथार्थवाद मे समझौता करने का प्रयत्न किया गया। जर्मनी को न तो सतुष्ट किया गया और न उसका विनाश ही हुआ। वह घायल हो गया किन्तु मरा नहीं। १४ वर्ष के अन्दर उसके घाव अच्छे हो गये। यही दशा १८७१ ई० मे फ्रास की थी। उसे भी मारा गया किन्तु वह भी मरा नही और धीरे-धीरे उसने शक्ति-सचय कर ली। चौथे, सम्मेलन मे तीन मनुष्यों का बोल-बाला था—अमेरिका का प्रेसीडेण्ट विलसन जो आदर्शवादी था और जिसका दिमाग स्वप्न-कल्पनाओ से परिपूर्ण था, फ्रास का प्रधान मन्त्री कलेमानसो जो जर्मनी का कट्टर विरोधी था और उससे क्षतिपूर्ति तथा सुरक्षा की गारन्टी चाहता था तथा इगलैण्ड का प्रधान मन्त्री लायड जार्ज जो विलसन और क्लेमानसो के बीच का व्यक्ति था। वह मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहता था। वह जर्मनी को बिलकुल कमजोर बनाना नही चाहता था। अत. उसकी कठोर सजा का पक्षपाती नही था। इस तरह सम्मेलन के नेताओ के उद्देश्यो मे सामजस्य नहीं था।

सन्धि भी त्रुटिपूर्ण थी। राष्ट्रीयता के आधार पर यूरोप के मानचित्र का निर्माण हुआ। किन्तु पूर्वी यूरोप मे यह सिद्धान्त लागू नही किया गया और कई देशो मे अल्पसख्यक समस्या उठ खड़ी हुई। इसने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की भी उपेक्षा की। यूरोप मे कई छोटे-छोटे राज्य कायम हुए जिनकी आर्थिक शक्ति सीमित थी। इससे यूरोप के आर्थिक पुनरुत्थान में बाधा पहुँची। हस को भूखा रखकर सुनहले अडे की आशा नही की जा सकती, किन्तु विजेताओ ने ऐसा ही करना चाहा। जर्मनी को नि.शक्त बनाकर उससे क्षति-पूर्ति की रकम प्राप्त करने की आशा की गई। विजित राष्ट्रों के अस्त्र-शस्त्र को घटा दिया गया और उनकी सैनिक शक्ति सीमित कर दी गई किन्तु विजयी तथा नवीन राष्ट्रों के ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित राष्ट्रों के बीच जर्मनी की स्थिति अरक्षित हो गई। इससे पराजित राष्ट्रों मे भय, सदेह तथा घृणा की भावनाएँ काम करने लगी और वे सधि-पत्र को रद्द करने का मौका ढूँढ़ने लगे। इस तरह यूरोप फिर दो दलो मे विभक्त होने लगा।

महायुद्ध के परिणाम

महायुद्ध के विभिन्न क्षेत्रो मे क्रान्तिकारी फल हुए। इसने विश्व के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रो मे महान परिवर्त्तन किये।

आर्थिक

क्या विजेता और क्या विजित दोनो पक्षो के असख्य जन तथा अकूत धन का विनाश हुआ। करोड़ों की सख्या मे सैनिक और नागरिक मौत के घाट उतारे गये। अरबों की सख्या

मे धन खर्च किया गया। एक लेखक के मतानुसार साढे अट्ठावन हजार करोड खर्च हुआ और तेरह हजार दो करोड की सम्पत्ति का नाश हुआ। महायुद्ध के पश्चात् विश्व पर इसका भीषण प्रभाव पडा। ससार की आर्थिक व्यवस्था नष्ट हो गई। चीजो के मूल्य मे वृद्धि होने लगी। मजदूरो की माँग बढ गई और वे अपने वेतन मे वृद्धि चाहने लगे। कागजी मुद्रा का प्रचार हुआ और इसकी कीमत घटने लगी। वाणिज्य-व्यवसाय, उद्योग-धन्धे छिन्न-भिन्न हो गये और १६२६ ई० मे समस्त ससार मे आर्थिक सकट छा गया। युद्ध-काल मे कई राज्यो मे कई विभिन्न व्यवसायो पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो गया था और युद्ध के बाद भी यद्यपि नियन्त्रण मे ढिलाई की गई, फिर भी सरकार का हस्तक्षेप कायम रहा। इस प्रकार युद्ध ने राष्ट्रीय साम्यवाद को प्रोत्साहित किया और आर्थिक सकट से इसे और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। जर्मनी मे राष्ट्रीय साम्यवाद पार्टी का शासन भी स्थापित हो गया और अन्य राज्यो ने भी उसका अनुकरण किया।

राजनीतिक

राजनीतिक क्षेत्र मे भी एक नयी सृष्टि का निर्माण हुआ। राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के सिद्धान्त फ्रासीसी क्रान्ति के सिद्धान्तो मे सर्वप्रमुख थे। १८१५ ई० मे वियना की काग्रेस ने इनकी उपेक्षा की थी और १६वी शताब्दी मे इन्हें कार्यान्वित करने के लिए सारे यूरोप में भीषण सघर्ष चलता रहा। महायुद्ध के पश्चात् ये सिद्धान्त व्यावहारिक राजनीति के अग बन गए। राष्ट्रीयता के आधार पर नये नये राज्यो का निर्माण हुआ। प्राचीन राजवशो की निरकुश सत्ता का अन्त हो गया और इनके अवशेष पर लोकतत्र की नीव खडी की गई। इस प्रकार जर्मनी, आस्ट्रेलिया, रूस और तुर्की के साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गये और इन देशो में जनतत्र शासन की स्थापना हुई। इन देशो के अतिरिक्त यूरोप के नवोदित राष्ट्रीय राज्यों मे भी जनतत्र की ही स्थापना हुई। यूरोप के बाहर एशिया तथा अफ्रीका के भी कई राज्यो में लोकतत्र का विकास हुआ। अब राजा का दैवी अधिकार और स्वेच्छाचारिता के सिद्धान्त को तिलाजलि दे दी गई और इनके खडहर पर जनतत्र का पोधा फूलने फलने लगा। परन्तु यह स्मरणीय है कि यूरोप के महान् राज्यो ने राष्ट्रीयता तथा लोकतत्र के सिद्धान्त का शतप्रतिशत पालन नही किया और सर्वत्र इनको कार्यान्वित नही किया गया।

युद्ध-काल मे तीव्र गति तथा शीघ्र निर्णय की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे संकट-काल मे पार्लियामेंटरी पद्धति विशेष उपयुक्त नही होती। अत. एक या कम से कम व्यक्तियों की कार्यकारिणी को सारे अधिकार सौंप दिये जाते हैं। इससे अबाधित सत्ता को प्रोत्साहन मिलता है। यह मानव-प्रकृति है कि जब वह शक्ति के फल को एक बार पहचान लेता है तो उसे छोड़ना नहीं चाहता। अतः युद्ध का अन्त होने पर भी कई देशो मे जनतत्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और अनियत्रित शासन की प्रवृत्ति काम करने लगी। यह फासिस्ट

प्रवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इस तरह इटली, जर्मनी और स्पेन आदि देशों में इस प्रवृत्ति का उदय हुआ और एक सुसगठित पार्टी या एक सबल नेता शासन-सूत्र सचालित करने लगा। महायुद्ध ने सैनिक प्रवृत्ति को भी सशक्त बना दिया। युद्ध के बाद पराजित देशों को तो निहत्था कर दिया गया, किन्तु विजेताओं की सैन्य-शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा। सर्वत्र इगलैण्ड और फ्रास की तूती बोल रही थी। उनके पास साम्राज्य और सेना का बाहुल्य था। इससे दूसरे राष्ट्रों मे भय, शका तथा द्वेष की भावना विकसित हुई और गुप्त तरीके से सैन्य-वृद्धि के लिए चेष्टा की जाने लगी। इस तरह महायुद्धोत्तर योरप मे सैन्य-प्रसार के लिए होड-सी चल पडी। युद्ध के सहार और नाश-विनाश के कारण कुछ लोगों में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हो गई थी और भविष्य मे इसे रोकने के लिए वे चिंतित थे। अमेरिका का प्रेसिडेंट विलसन इस प्रतिक्रिया का सबसे बडा प्रतीक था। अत उसी की प्रेरणा से एक राष्ट्रसघ की स्थापना हुई जिसका विस्तृत वर्णन आगे प्रस्तुत किया जायगा।

सामाजिक

महायुद्ध ने समाज में भी उथल-पुथल मचा दी। महायुद्ध के पहले पश्चिम के गोरे रग वाले बडे भ्रम मे पडे थे। वे अपनी जाति और नस्ल को सर्वोत्कृष्ट समझते थे और एशिया तथा अफ्रीका वालों को उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु महायुद्ध मे अन्य रग वालों ने जो साहस और वीरता का प्रदर्शन किया उससे उनके दाँत खट्टे हो गये और उनका भ्रम भी दूर हो गया। उनकी आँखें खुल गईं और उन्होने देख लिया कि ससार में दूसरे लोग भी उनके समान ही उत्साही तथा पराक्रमी हैं, जिनका सहयोग उनके लिए लाभदायक है। जैसे पश्चिम वालों को पूरब वालो के विषय मे भ्रम था वैसे ही पुरुषों को स्त्रियो के विषय में विशेष भ्रम था। अब तक पुरुषों का ख्याल था कि स्त्रियों का उचित क्षेत्र चहारदिवारी के भीतर है और वे बाहर के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। महायुद्ध ने इस भ्रम को भी दूर कर दिया। युद्ध मे स्त्रियो ने पर्याप्त सहयोग दिया और अपनी योग्यता सिद्ध कर दी। अब युद्ध के बाद पुरुषों के समान उन्हे राजनीतिक अधिकार मिलने लगे। उन्हें मताधिकार मिला और वे विभिन्न पदों पर नियुक्त होने लगीं। एशियाई देशों मे भी स्त्रियों की स्थिति मे यह परिवर्त्तन हुआ। वे बुर्के और पर्दे को त्याग कर राज्य के कामो मे हाथ बँटाने लगीं। स्त्रियों के समान मजदूरों के भी भाग्य-सूर्य का उदय हुआ। महायुद्ध ने श्रम की आवश्यकता और महत्ता सिद्ध कर दी। अब तक कुलीन और पूँजीपति भी उनकी उपेक्षा करते थे और श्रम को हेय समझा जाता था। किन्तु अब उनका भ्रम भी निर्मूल हो

गया। उनके अस्तित्व को कायम रखने के लिए श्रम भी आवश्यक अग था। अत अब मजदूरो मे भी जागरण हुआ। वे सगठित होने लगे और अपने अधिकार-वृद्धि के लिए आन्दोलन करने लगे। उन्हे भी मताधिकार मिला, उनके प्रतिनिधि लोक-सभा मे जाने लगे और शासन-सूत्र के सचालन मे हाथ बँटाने लगे। युद्ध-काल मे शिक्षा के क्षेत्र मे अवनति हुई। योग्य व्यक्तियो के लिए सेना का द्वार मुक्त कर दिया गया था। बहुत-से विद्यार्थी और अध्यापक युद्ध मे काम करने लगे थे। कितने स्कूल, कालेज और विश्व-विद्यालय बन्द हो गये। परन्तु युद्ध के बाद यह स्थिति नहीं रही। इस क्षेत्र मे भी आशातीत उन्नति हुई। युद्ध-काल मे और उसके बाद भी विज्ञान के क्षेत्र म बडी प्रगति हुई। उपयोगी या विनाशकारी--अनेक प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार हुए। राज्य मे वैज्ञानिको का सम्मान होने लगा।

धार्मिक

धार्मिक क्षेत्र मे भी सर्वसाधारण के बीच भ्रम का एक जाल-सा बिछा हुआ था। धर्म उनके लिए श्रद्धा की वस्तु थी और धर्माधिकार को पूज्य समझा जाता था। सारी इसाई दुनिया ईसा और बाइबिल को मानती थी। धर्माधिकारियो का जनता पर बडा प्रभाव था। महायुद्ध ने इसका भी रहस्योद्घाटन किया और सर्वसाधारण को धार्मिक जाल से मुक्त कर दिया। युद्धकाल में पादरियो ने अपनी सरकार का समर्थन किया और गिरजे मे अपनी विजय तथा विपक्षी के नाश के लिए प्रार्थना की। धर्म का उद्देश्य है मानव-कल्याण, शान्ति स्थापना और भाईचारे का प्रचार। धर्माधिकारियो के युद्ध-कालीन चरित्र म धर्म के ढकोसले को स्पष्ट कर दिया और इसमे सर्वसाधारण की श्रद्धा का अत हो गया। विज्ञान ने जिस कार्य का प्रारम्भ किया था, महायुद्ध ने उसे पूरा कर दिया। बोल्शेविक रूस ने तो धर्म को अफीम ही घोषित कर डाला।

अध्याय ३३

समाजवाद का प्रयोगस्थल—रूस

भूमिका

समाजवाद क्या है—इस पर दृष्टिपात किया जा चुका है।[1] कार्लमार्क्स इस सिद्धान्त का महानतम प्रवर्त्तक था। संक्षेप में इसमें चार बातें मुख्य हैं। (क) आर्थिक परिस्थिति मनुष्य को बहुत प्रभावित करती है और इसी के आधार पर मानव-इतिहास का निर्माण हुआ है। (ख) समाज में सदा से धनी और निर्धन ये दो वर्ग रहे हैं और इनमें संघर्ष अनिवार्य है। (ग) वस्तुओं के उत्पादन तथा विभाजन पर राष्ट्र का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करना चाहिए और उसकी आवश्यकता के अनुसार वस्तु उसे मिलनी चाहिए। (घ) सारी दुनिया के मजदूरों की समस्याएँ समान हैं। उन्हें एक होकर अपनी समस्याओं को हल करना चाहिए। यही समाजवाद का सार है और रूस इसकी विशाल प्रयोगशाला है।

१८वीं शताब्दी तक रूस में निरंकुश राज्यतन्त्र का विकास हो चुका था। पिटर महान् तथा कैथेराइन ने इसे पश्चिमी ढाँचे में ढालने का भरपूर प्रयत्न किया और उन्हें कुछ सफलता भी मिली। रूस ने एक महान् साम्राज्य स्थापित किया और जार की तूती बोल रही थी। जार के सामने प्रजा का कोई अधिकार नहीं था। १९वीं शताब्दी में कई जार रूस की गद्दी पर बैठे। उनमें कुछ सुधारवादी थे और कुछ प्रतिक्रियावादी। प्रायः उदारवादी जार के पश्चात् सुधार-विरोधी जार का राज्यारोहण होता था। उदारवादी जार अपने शासन-काल में कुछ सुधार करते थे तो प्रतिक्रियावादी जार अपने राज्यकाल में सुधार के प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करते थे। सुधारवादियों में अलेकजेंडर द्वितीय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसे मुक्तिदाता की उपाधि से विभूषित किया गया है। प्रतिक्रियावादियों में निकोलस द्वितीय प्रसिद्ध है जिसने १८९४ से १९१७ ई० तक शासन किया। यह बड़ा ही भाग्यहीन था। इसके समय में अनेक दुर्घटनाएँ घटीं। रूस की जापान के द्वारा पराजय हुई और १९१७ ई० में क्रान्ति का भीषण विस्फोट हुआ।

---

[1] देखिये अध्याय २५

रूसी क्रान्ति के कारण

मौलिक

रूस निरकुश राज्यतत्र का एक दृढ दुर्ग था। यूरोप के अन्य राज्या मे भी निरकुश राज्यतत्र थे। किन्तु धीरे-धीरे उनमे पर्याप्त सुधार हो चुका था। इगलैड, प्रशा आदि देशो मे वैधानिक राजतत्र की स्थापना हो चुकी थी। फ्रास मे राजतत्र के स्थान पर जनतत्र कायम हुआ था। लेकिन रूस में मध्ययुग से ही राज्यतत्र के दुर्ग मे एक भी छिद्र नही हुआ। वह विशुद्ध निरकुश तथा स्वेच्छाचारी राजतत्र था। शासक सर्वेसर्वा थे। शासित वर्ग को कोई अधिकार नहीं था। जार अपनी प्रजा के खून-पसीने की कमाई पर भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। उनके हृदय मे प्रजा के लिए सहानुभूति का नाम तक नहीं था। जनता के लिए उनके दिल मे दर्द नही था। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए वे नर-नारियो को गोली का शिकार बनाने से बाज नहीं आते थे। ऐसे शासक के प्रति शासित वर्ग मे घृणा तथा क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। प्रजा निर्धनता की चक्की मे पीसी जा रही थी। लोगो मे अशिक्षा और अज्ञान था। अत वे नाना प्रकार की बुराइयो के शिकार थे। वे दुर्व्यसनी थे। उनमे शिष्टता का अभाव था। समाज मे विषमता का विष व्याप्त था। धनी-गरीब के बीच गहरी खाई थी। जनता की आर्थिक दशा शोचनीय थी। १८६० ई० मे कुछ सुधार हुए थे। किन्तु अभी भी किसान आर्थिक बन्धनो की शृङ्खला से मुक्त नहीं थे। उनके ऊपर ऋण का बोझ था जिसे चुकाने में असमर्थ होने पर अपनी जमीन से हाथ धोना पडता था। किसानो को अपने महाजनों की गुलामी करनी पडती थी। वे सेठ-साहूकारो के जमीन को ही जोतकर किसी तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे। १६वी शदी के अतिम चरण में रूस म भी औद्योगिक क्रान्ति हुई। वहाँ भी इस क्रान्ति से उत्पन्न सारी बुराइयो का आगमन हुआ। मजदूरो की दशा बिलकुल असतोषजनक थी। उद्योगपतियों का उन पर विभिन्न प्रकार से अत्याचार हो रहा था। फिर भी वे अपनी दुर्दशा मे सुधार लाने का कोई प्रयत्न नहीं करते थे क्योकि इसके लिए उनके हाथ-पाँव बँधे हुए थे।

रूसियो का राजनीतिक जीवन शून्य था। छापाखाने को स्वतत्रता नहीं थी। सभा-सोसाइटी के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध थे। किसी प्रकार का सघ स्थापित करने का प्रयत्न विद्रोहात्मक समझा जाता था। विद्रोह या क्रान्ति के समर्थकों को प्राण दण्ड या साइबेरिया मे देश-निर्वासन की सजा दी जाती थी। दमन-नीति का प्रयोग शासक की कमजोरी का परिचायक है—यह उसकी अज्ञानता का द्योतक है। दमन-नीति से असतोष तथा प्रतिकार की भावना पैदा होती है। जब शासक अस्त्र-शस्त्र का उपयोग करता है तो जनता भी इनका सहारा लेने से बाज नहीं आती। स्वय रूस मे विद्रोहियो ने जार एलेक्जेंडर की निर्मम

हत्या कर डाली और शासक तथा प्रजा के बीच प्रतिहिंसा की भावना मे क्रमश वृद्धि होती रही।

रूसी न्यायालय तो भ्रष्टाचार के केंद्र थ। न्यायाधीश जार के खुशामदी थे और उनमे स्वतत्र भावना का सर्वथा अभाव था। वहाँ न्याय का गला ही घोटा जाता था।

निरकुश शासन मे जब योग्यता रहती है तो प्रजा उसे सहन करती है। यद्यपि राजनीतिक स्वतत्रता का अभाव रहता है तो भी देश की समृद्धि तथा प्रतिष्ठा मे वृद्धि होती है। यह प्रजा के लिए कुछ सतोष की बात है। लेकिन रूस की जारशाही मे तो योग्यता का भी नितात अभाव था। इसके शासन-काल मे देश की समृद्धि तथा गौरव का भी अत हो रहा था। अतिम जार निकोलस द्वितीय (१८६४—१६१७ ई०) था। वह दुर्बल तथा अदूरदर्शी शासक था। उसमे निर्णयात्मक शक्ति का अभाव था। वह अपनी पत्नी का दास था और उसकी पत्नी रास पुटीन नामक एक पादरी के प्रभाव मे थी जो पथ-भ्रष्ट तथा बुद्धिहीन था। जारीना जर्मन राजकुमारी थी। वह रूसिया को घृणा की दृष्टि से देखती थी और जर्मना के साथ पक्षपात करती थी। प्रथम महायुद्ध के समय यह रुख बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। इस तरह शासन मे दुर्बलता उत्पन्न हो गई। गृह नीति विवकशून्य थी और विदेशी नीति प्रभावशून्य। १८५३ ई० मे क्रीमिन युद्ध मे रूस को पराजित होना पडा और १८७७—७८ ई० मे इसका कूटनीतिक पराजय हुई। १६०४—५ ई० मे एशिया का एक छोटा देश जापान इससे भिड गया और उसने इसे पराजित कर दिया। रूस की प्रतिष्ठा खाक म मिल गई और जापान का सिर दुनिया मे ऊँचा उठ गया।

इसी समय १६०५ ई० म क्रान्ति के लक्षण प्रकट हो गये। रविवार का एक विशाल जुलुस जार के महल की ओर चला। इसमे लगभग १ लाख मजदूर थे और वे अस्त्र-शस्त्र-विहीन थे। अपने दिल के दुख-दर्द का स्वय जार के कानो तक पहुँचाना ही उनका एकमात्र उद्देश्य था। उन्हे विश्वास था कि इससे उनके शासक का हृदय पसीजे गा। लेकिन शासन के स्तभ सेनिको ने उस भीड पर गोलिया की वर्षा कर दी। हजारा नर-नारी काल-कवलित हुए। स्थिति सगीन हो गई। जनता के रोष तथा घृणा का पारावार नहीं था किन्तु अभी जारशाही उखाड फेंकने की उसमे कोई शक्ति नहीं थी। प्रजा मे सुयोग्य नेतृत्व का अभाव था। उस पर बारह वर्ष तक और अन्याय तथा अत्याचार होते रहे और वह धैयपूर्वक उनको सहन करती रही।

लेकिन उनका प्रयास बिलकुल विफल नहीं गया। जार की आँखे कुछ अवश्य ही खुल गई। उसने सुधारा के द्वारा जनता को सुविधा प्रदान की। उसने उसे अपनी सम्मति से पार्लियामेंट निर्माण करने की आज्ञा दे दी। रूसी पार्लियामेट को ड्यूमा कहते हैं। ड्यूमा

का निर्माण तो हुआ किन्तु यह शासन में सक्रिय भाग नहीं ले सकती थी। इसका काम था केवल सलाह देना जिसे स्वीकार या अस्वीकार करना जार की इच्छा पर था। यह सोचने की बात है कि मदिरा से पीड़ित रूसी जनता भला इस नाममात्र के दिखावटी अधिकार से कब संतुष्ट हो सकती थी? एक सार्वजनिक हड़ताल हुई और मजदूरों ने अपनी सभाएँ स्थापित कीं जो सोवियत कहलाती थीं। इन सोवियतों की शक्ति तथा प्रभाव में क्रमशः वृद्धि होती रही।

इस समय तक रूस में कई अन्य पार्टियाँ भी कायम हो चुकी थीं। सामाजिक प्रजातंत्रीय (सोसल डमोक्रेटिक), सामाजिक क्रान्तिकारी (सोसल रिवोल्यूशनरी), उदारवादी (लिबरल) तथा अराजकतावादी (अनारकिस्ट) पार्टियाँ प्रसिद्ध थीं। इनमें भी सामाजिक प्रजातंत्रीय पार्टी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। क्रान्ति का श्रेय इसी को है। १९०३ ई० में मतभेद होने के कारण इसमें दो दल हो गये—मेनशेविक तथा बोलशेविक। मेनशेविक दल वाले अल्पसंख्यक थे। वे धनी तथा पूँजीपतियों के सहयोग के पक्षपाती थे। बोलशेविक बहुमत में थे। वे धनियों के साथ समझौता करना नहीं चाहते थे बल्कि अपने ही बल पर जार का सामना करना चाहते थे। इस तरह यह दल उग्रवादी था और जारशाही की कब्र पर समाजवादी शासन की नींव खड़ा करना चाहता था। बोलशेविकों ने ही क्रान्ति का सफल नेतृत्व कर रूस की काया पलट दी।

तात्कालिक कारण

१९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ। रूस मित्र राष्ट्रों की ओर से था किन्तु इसकी आंतरिक स्थिति बहुत ही बुरी थी। चारों ओर अव्यवस्था फैली थी। सेना असंगठित थी। युद्ध के सामानों का सर्वथा अभाव था। इन सब का परिणाम हुआ रूस की पराजय। सैनिकों का नैतिक पतन होने लगा। वे निराश होने लगे। जनता की दशा पहले से भी बहुत अधिक खराब हो गई। कहीं पर अन्न का ढेर सड़ रहा था और कहीं पर भूखमरी थी। आधे करोड़ से भी अधिक जनता रूसी युद्ध में घायल हुई तथा कई लाख रूसियों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। कितने ही परिवार उजड़ गये।

अब क्रान्ति के विस्फोट को कोई नहीं रोक सकता था। फरवरी १९१७ ई० में यह शुरू हो गया। पेट्रोगार्ड में हड़ताल हुई और सैनिकों ने मजदूरों पर गोलियों की बौछार करने से मुँह मोड़ लिया। मार्च में मजदूरों, किसानों तथा सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। जमींदारों, पुलिस तथा सरकारी कर्मचारियों पर जनता की ओर से आक्रमण होने लगा। ड्यूमा ने क्रान्ति को प्रोत्साहित किया। जार ने इसे भंग करने का प्रयत्न किया किन्तु सोवियतों के प्रयास से वह विफल रहा। जार और उसके परिवार को कैद कर लिया गया और केरेन्सकी ने शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया। वह नर्म दल का समाजवादी था और उसे मित्र

राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त था। किन्तु केरेंसकी सरकार देश में शान्ति स्थापित न कर सकी। दुर्व्यवस्था का साम्राज्य था। इसी समय लेनिन रगमञ्च पर उपस्थित हुआ और नवम्बर में पुनः क्रान्ति की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। बोलशेविकों ने लेनिन के नेतृत्व में राजधानी पर आक्रमण किया और केरेंसकी सरकार से राज्य-सूत्र छीन लिया। धीरे-धीरे उन्होंने सारे रूस पर अपना अधिकार जमा लिया।

जर्मनी से रूस की सन्धि

बोलशेविक युद्ध के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने जर्मनी के साथ ब्रेस्ट लिटोस्क की सन्धि कर ली। आस-पास के स्थानों से रूसी सेना हटा ली गयी। इस नीति से मित्र राष्ट्र रूस से क्रुद्ध हो गये और उन्होंने उसे घेरे में डाल दिया। इससे रूसी जनता की तबाही और बढ़ गई। इसी समय १६१८ ई० में जार तथा उसके परिवार को तलवार के घाट उतार दिया गया। समाजवादी सरकार के अन्य बहुत से विरोधियों को भी मार डाला गया। अब बोलशेविकों ने देश के लिए एक नया शासन-विधान बनाया और यूनियन आफ सोवियत शोसलिस्ट रिपब्लिक की स्थापना की।

क्रांति के निर्माता

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बोलशेविकों ने क्रांति का नेतृत्व किया और इसकी सफलता का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। निकोलस लेनिन उनका सबसे बड़ा नेता था। १८७० ई० में उसका जन्म हुआ था। उसके पिता शिक्षक का काम करते थे और उन्होंने अपने पुत्र की शिक्षा के लिए उचित प्रबन्ध कर दिया। लेनिन ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। वह प्रतिभाशाली पुरुष था और उसमें सगठन की अद्भुत शक्ति थी। विश्वविद्यालय में वह प्रायः छात्र-आंदोलन का नेतृत्व किया करता था। उसने सेंटपीटर्सबर्ग में कानून का अध्ययन किया। भ्रमण में उसकी पूरी दिलचस्पी थी और उसने लन्दन, पेरिस आदि बड़े-बड़े शहरों में भ्रमण किया। वह साइबेरिया में कई बार निर्वासित भी हो चुका था। १६०५ ई० के क्रान्ति के समय वह रूस में था। इसके बाद उसने अपना बहुत समय स्वीटजरलैण्ड में बिताया। इस तरह उसके जीवन का अधिकांश समय देश-निर्वासन तथा भ्रमण में ही बीता। किन्तु उसने अपने समय का सदुपयोग किया। उसने मार्क्स तथा अन्य लेखकों की रचनाओं का अवलोकन तथा मनन किया और अपना जीवन-मार्ग निर्धारित किया। यह जीवन-मार्ग था क्रांति और साम्यवाद का। १६१७ ई० में वह जर्मनों के सहयोग से रूस पहुँचा और नवम्बर की क्रांति का उसने सफल नेतृत्व किया। वह युद्ध के पक्ष में नहीं था। अतः उसने शीघ्र ही जर्मनी से सधि कर रूसी सैनिकों को युद्ध-स्थल से हटा लिया। इसके पश्चात् सात वर्ष तक वह देश का आतरिक सगठन तथा

सुधार करने मे व्यस्त रहा। कार्यभार के बीच ही १९२४ ई० मे वह एक हत्यारे की गोली का शिकार हुआ और इस ससार मे चल बसा।
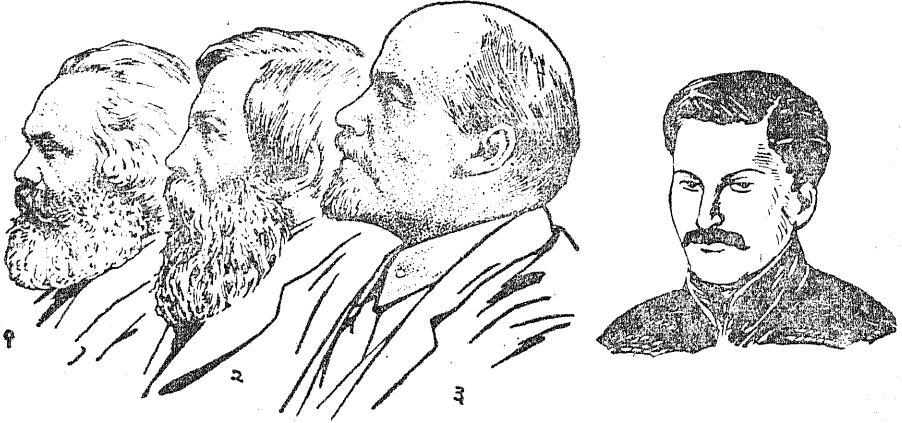
चित्र १९—मार्क्स, एजिल, लेनिन, स्तालिन

आधुनिक युग के महान् नेताओं मे लेनिन का प्रमुख स्थान है। ससार मे बहुत कम नेताओं को ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है कि वे अपने जीवन-काल मे ही अपने उद्देश्य मे सफल हो और मानव-समाज म व्यापक प्रभाव डाले। ऐसे ही इने-गिने सौभाग्यशाली नेताओं मे लेनिन भी एक स्थान रखता है। वह एक विलक्षण पुरुष था। उसका साहस, धैर्य तथा अध्यवसाय स्तुत्य है। वह मार्क्सवाद का कट्टर समर्थक तथा आजीवन क्रातिकारी था। उसने जारशाही का तो अन्त किया ही साथ ही एक नये युग की भी सृष्टि की।

उसने सावियत गणतन्त्र के जन्मदाता होने का गौरव प्राप्त किया और वर्त्तमान रूस की महानता की दृढ नीव डाली। इतिहास मे उसका नाम अमर है। उसकी स्मृति में पेट्रोग्राड नगर का नाम लेनिनग्राड हो गया।

लेनिन के कुछ सहयोगी भी उल्लेखनीय हैं। उसके सहयोगियो मे ट्राट्स्को तथा स्तालिन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये दोनों बड़े ही योग्य थे। ट्राटस्की यहूदी था और उसके विचार उग्रवादी थे। उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी और वह क्राति के सिद्धात का कट्टर समर्थक था। लेनिन की मृत्यु के बाद वही शासन-मडल का अध्यक्ष हुआ और उसने तीन वर्ष तक कार्य का सचालन किया। किन्तु स्तालिन से उसका गहरा मतभेद था। स्तालिन उसके समान उग्रवादी नही था। वह रूस में ही क्रान्ति का सगठन करना चाहता था अत वह विश्व-क्रांति का विरोधी था। दोनो मे सघर्ष हो गया। स्तालीन ने ट्राटस्की को पदच्युत कर

दिया और १६२६ मे उसे देश से निर्वासित किया। ट्राटस्की के बाद राज्य-शक्ति स्तालिन के हाथो म आयी और १६२७ ई० से वही रूस का प्रधान था।

स्तालिन भी बहुत ही योग्य शासक था। उसने रूस का सफलतापूर्वक आतरिक सगठन कर उसे एक ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया जो विश्व के रगमच पर इगलैण्ड तथा अमेरिका की बराबरी कर रहा है और उनसे टक्कर ल रहा है।

आधुनिक युग का यह महान् राजनीतिज्ञ ता० ६ मार्च १६५३ को स्वर्गवासी हो गया।

रूसी और फ्रासीसी क्रान्तियाँ

रूस तथा फ्रास की क्रानिया का तुलनात्मक अध्ययन बडा ही मनोरजक है। दोना म बहुत कुछ समता है। दोना के मौलिक कारण एक-से ही थे। बूरबन तथा रोमानोफ दोनों वशो के शासक स्वेच्छाचारी, अयोग्य और कमजोर थे। १६वॉ लूई और निकोलस द्वितीय दोनो ही अपनी पत्नी मेरी ऐन्टोनेट और अलेकजेड्रा के वशीभूत थे और यह कहना नही होगा कि दोनो की पत्नियाँ कितनी अदूरदर्शी, सकीर्ण और अहकारी थीं। फ्रासीसी क्राति का प्रकाश-स्तम्भ रूसो था तो रूसी क्राति का कार्लमार्क्स। फ्रास की जयकोबित पार्टी का प्रतिरूप रूस की बोलशेविक पार्टी थी और फ्रास का डाटन रूस का लेनिन था। दोनो देशो मे खूब रक्तप्लावन हुआ, क्राति सफल रही और जनतन्त्र की स्थापना हुई। परन्तु रूस की अपेक्षा फ्रास मे रक्तपात अधिक हुआ और रूस का जनतन्त्र फ्रास की अपेक्षा अधिक सफल तथा स्थायी सिद्ध हुआ। फ्रास की क्रान्ति ने विशेष रूप मे यदि स्वतन्त्रता प्रदान की तो रूसी क्रान्ति ने समानता स्थापित की। परन्तु दोनो म से किसी ने बन्धुत्व का सिद्धान्त कार्यान्वित नहीं किया।

रूस का सगठन

शासन व्यवस्था

यह ऊपर कहा जा चुका है कि १६१८ ई० मे देश के लिए एक नया शासन विधान तैयार हुआ। १६३६ ई० तक यह विधान लागू रहा और उक्त साल मे इसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। १६३६ ई० से यह परिवर्तित तथा सशोधित विधान कार्यान्वित है। इस विधान के निर्माण मे स्तालिन का विशेष हाथ रहा है। अत इसे स्तालिन-विधान भी कहते हैं।

विधान मे सघ शासन की व्यवस्था है जो यूनियन ऑफ सोवियत सोसलिस्ट रिपब्लिक्स कहलाता है। सक्षेप में इसे यू० एस० एस० आर० कहा जाता है। यूनियन की सभी शक्तियों का मूल श्रमिक वर्ग को बताया गया है। शारीरिक और मानसिक श्रम को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। बिना परिश्रम किये किसी को खाने का अधिकार नही

है। सीढ़िया की भाँति नीचे से ऊपर तक श्रमिको की सोवियत सगठित हैं। अन्त मे अखिल रूसी सोवियत काग्रेस का निर्माण होता है। विधान मे जनता के मौलिक अधिकारो को भी उचित स्थान मिला है। रूसी यूनियन मे बहुत से गणतन्त्र सम्मिलत हैं। यूनियन का सम्बन्ध सार्वदेशिक महत्त्व के विषयो मे है। कानून-निर्माण के लिये दो केन्द्रीय धारा सभाएँ है—यूनियन की सोवियत और सम्मिलित प्रदेशो की सोवियत। पहले का चुनाव सभी नागरिक मिलकर करते है और दूसरे का प्रत्येक गणतन्त्र के द्वारा होता है। दोनो सभाओ के द्वारा अध्यक्ष का चुनाव होता है।

शासन-प्रबन्ध के लिए एक मत्रिमडल होता है जिसमे आठ सदस्य होते है। इसे कमिश्नरो की कौसिल कहते है। देखने मे रूसी सविधान प्रजातात्रिक है, किन्तु वस्तुत यह अधिनायकवाद (डिक्टेटरशिप) है। इसे मजदूरो का अधिनायकवाद कहा जाता है। लेकिन असल मे कम्यूनिस्ट पार्टी का शासन है जिसमे स्तालिन का बोलबाला है।

आर्थिक सगठन

१९१७ ई० मे क्रान्ति के समय रूस अभी भी प्रगतिशील राष्ट्र नहीं था। उद्योग-धन्धो का कोई विकास नहीं हुआ था। धन-धान्य का देश मे अभाव था। जनता मे अशिक्षा फैली हुई थी। दस प्रतिशत से भी कम लोग पढ़-लिखे थे। जमीन पर किसानो का अधिकार था और यह छोटी-छोटी टुकड़िया मे विभक्त थी।

साम्यवादी सरकार ने अद्भुत उन्नति की। जनता के हित के लिए कई सुधार हुए, सर्वसाधारण के स्वास्थ्य तथा शिक्षा सम्बन्धी अनेक कार्य हुए। नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई। शिक्षा मे तीव्र गति से वृद्धि होने लगी। बीमा तथा पेंशन का प्रबन्ध हुआ। कृषि तथा उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए। उत्पादन के साधनो और वस्तुओं के वितरण पर सरकार ने नियन्त्रण स्थापित किया। भूमि का सामूहिककरण हुआ। १९२८ ई० तक आर्थिक क्षेत्र मे प्रगति तो हुई, किन्तु पूरी नहीं। इस साल से स्तालिन की अध्यक्षता मे पचवर्षीय योजनाएँ लागू की गईं। १९२८ ई०, १९३३ ई० मे ये योजनाएँ लागू की गई। इन योजनाओ के फलस्वरूप रूस मे क्रान्तिकारी प्रगति हुई है। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि मार्क्सवाद के सभी सिद्धान्त अभी पूर्णरूप से कार्यान्वित नहीं हो सके हैं। परिस्थिति के अनुसार कुछ जहाँ-तहाँ आवश्यक परिवर्त्तन करना पड़ा है।

विदेशी नीति

पूँजीवादी राष्ट्रों ने बोलशेविक रूस के साथ बहिष्कार की नीति ग्रहण की। वे इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे और बोलशेविक सरकार को निर्मूल करने की फिक्र मे थे। यह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अछूत-सा हो गया। लेकिन बोलशेविक नेता लेनिन पूँजीवादी

राष्ट्रों से सहयोग के लिए उत्सुक था और उसे सहयोग की आवश्यकता भी थी। उसने आर्थिक सहायता पाने के लिए अपने एक प्रतिनिधि चिचरीन को जेनेवा सम्मेलन में भेजा। यह १६२२ ई० की बात है। चिचरीन ने सम्मेलन के सदस्यों को अपने तर्कपूर्ण भाषण से बड़ा प्रभावित किया, परन्तु उनकी नीति में कोई परिवर्तन नहीं करा सका। उनके सिर पर बोलशेविक क्रान्ति के भूत का भय सवार था। किन्तु चिचरीन का सम्मेलन में जाना व्यर्थ नहीं सिद्ध हुआ। वहाँ उसका जर्मनी और इटली के प्रतिनिधियों से भी सम्पर्क हुआ। जर्मनी तो पराजित और उपेक्षित राज्य था ही, इटली भी सन्धि की शर्तों से असन्तुष्ट था। अतः सर्वप्रथम रूस और जर्मनी के बीच रपालो नामक स्थान में सन्धि हो गयी। जर्मनी ने बोलशेविक सरकार को स्वीकार कर लिया। अब अन्य राज्य के लिए मार्ग प्रस्तुत हो गया। १६२४ ई० में ग्रेट ब्रिटेन में रेमजे मैकडालन के प्रधान मन्त्रित्व में मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल बना और इस सरकार ने बोलशेविक सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। तत्पश्चात् इटली, फ्रांस, टर्की और जापान ने भी रूस के साथ सन्धि की। १६२७ ई० से रूस में स्तालिन की प्रधानता स्थापित हुई जो विश्व में बोलशेविक क्रान्ति का विरोधी था। पूंजीवादी राष्ट्र खुश हुए और उसके साथ मित्रता का व्यवहार करने लगे। यद्यपि रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था वह उसके कामों में सहयोग देने लगा। इसके विभिन्न सम्मेलनों में रूस भी अपना प्रतिनिधि भेजने लगा और १६३४ ई० में यह राष्ट्र-संघ का सदस्य भी हो गया। राष्ट्रसंघ की सदस्यता पूँजीवादी राष्ट्रों की उदारवादिता का परिचय नहीं था बल्कि यह विषम परिस्थिति का परिणाम था। इस समय तक जापान और जर्मनी ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता का परित्याग कर दिया था और यह अपनी अंतिम घड़ी गिन रहा था। जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाजी सरकार की स्थापना हुई। ऐसी ही विषम परिस्थिति में रूस को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने दिया गया। बोलशेविक रूस के प्रति अभी भी पूंजीवादी राष्ट्रों का मनोमालिन्य बना रहा। वे बोलशेविक रूस को नाजी जर्मनी से भी अधिक खतरनाक समझते थे। इंगलैण्ड में १६३१ ई० के बाद राष्ट्रीय सरकार स्थापित थी जिसमें अनुदार दल का विशेष प्रभाव था। ब्रिटेन और फ्रांस की सरकार ने हिटलर को तुष्ट करने की नीति अपनाई। वे जर्मनी को बोलशेविक रूस और पूँजीवादी पश्चिमी रूस के बीच सुदृढ बाँध समझते थे। ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चेम्बर लेन हिटलर की खुशामद में कई बार जर्मनी आया और पोलैण्ड पर आक्रमण करने के पहले वह जो-जो माँगें करता गया उनकी पूर्ति होती गई। रूस चुपचाप यह सब देखता रहा। वह कहीं भी पूछा नहीं गया। अगस्त १६३६ ई० में नाजी जर्मनी और बोलशेविक रूस में, जो दोनों एक दूसरे के विरोधी थे, अचानक सन्धि हो गई और समस्त संसार

आश्चर्यचकित रह गया। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास को तुष्ट करने की नीति भी व्यर्थ ही नहीं विनाशकारी सिद्ध हुई। तीन सितम्बर को दूसरे विश्व-युद्ध का श्रीगणेश हो गया।

रूसी क्रान्ति का महत्त्व

रूस की क्रान्ति ससार की प्रमुख घटनाओ मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। दुनिया के इतिहास मे यह युगान्तकारी घटना है। अँगरेजी तथा अमेरिकी क्रान्तियाँ प्रधानत राजनीतिक थी, फ्रासीसी क्रान्ति राजनीतिक तथा सामाजिक थी, किन्तु रूसी क्रान्ति राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक तीनो थी। राजनीतिक क्षेत्र मे इसने महान् परिवर्तन किया। जार तथा उसके परिवार का तो अन्त हुआ ही जारशाही भी सदा के लिए धूल मे मिल गई। सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रो मे क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए। महायुद्ध के पूर्व तथा बाद के रूस मे आकाश-पाताल का अतर पड गया। समाज के शोषक—भूमिपतियो—का अन्त हो गया। रूसो ने यह सिद्धात स्थापित किया था कि जिस व्यक्ति ने सर्वप्रथम भूमि के एक खड पर अपना अधिकार कर कहा कि यह मेरा है वह समाज का सबसे बडा शत्रु है। रूसी क्रान्ति इस सिद्धात का व्यावहारिक रूप थी। रूस मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की बात करना पाप है और राज्य की ओर से प्राणदण्ड के द्वारा इसका उत्तर मिलता है। जो अब तक शोषित तथा उपेक्षित थे वे ही अब स्वामी तथा शासनाधिकारी बन गये। समाज की विषमता जाती रही, श्रम को महत्ता स्थापित हुई। उत्पादन के साधनो तथा वस्तुओ के वितरण पर राष्ट्र का अधिकार हुआ। प्रजातत्र की विजय हुई, किसान-मजदूरो के हाथ मे शासन-सूत्र आ गया। क्रान्ति के पूर्व रूस इगलैण्ड तथा अमेरिका की तुलना मे बहुत पिछडा हुआ था। लेकिन क्रान्ति के बाद इसकी शक्ति इतनी बढ गई है कि वह इगलैण्ड तथा अमेरिका की समता करने लगा है।

———

अध्याय ३४

एकतंत्रवाद की प्रगति—यूरोप

भूमिका

२०वीं शताब्दी दुनिया के इतिहास में एकतन्त्रवाद का युग रहा है। इस युग का प्रारंभ प्रथम महायुद्ध के बाद ही हुआ है। एकतन्त्रवाद में एक ही व्यक्ति की इच्छा सर्वोपरि होती है। इसमें स्वायत्त शासन, निर्वाचन तथा वाद-विवाद की स्वतन्त्रता आदि की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप तथा एशिया के विभिन्न देशों में एकतन्त्रवाद की प्रगति हुई है। एकतन्त्रवाद को ही अधिनायकवाद या तानाशाही भी कहते हैं। इसका सर्वप्रमुख सञ्चालक अधिनायक, तनाशाह या एकशास्ता की पदवी से विभूषित रहता है। यह पहले ही देखा जा चुका है कि किस तरह रूस में श्रमिकों की आड़ में एकतन्त्र शासन काम कर रहा है। फिर इससे कुछ भिन्न प्रकार का एकतन्त्रवाद यूरोप के अन्य देशों में विकसित हुआ है। इटली तथा जर्मनी में इसका सर्वोत्तम नमूना पाया जाता है। एशिया में तुर्की में कमालपाशा का शासन तानाशाही का उत्तम उदाहरण है। पहले यूरोप के तानाशाहों का अध्ययन किया जायगा। तत्पश्चात एशिया के एकशास्ताओं का परिचय दिया जायगा।

(क) इटली

रूस में यदि कम्युनिस्ट पार्टी का उत्थान हुआ तो इटली में फासीस्ट पार्टी का अभ्युदय हुआ। वास्तव में फासीस्ट वर्ग का उत्थान कम्युनिस्ट पार्टी के विरोध में हुआ था। यदि कम्युनिस्ट पार्टी में कृषक तथा मजदूरों का बोलबाला था तो फासीस्ट पार्टी में भूमिपतियों का प्रभाव था। साम्यवाद के अतिरिक्त कुछ अन्य पार्टियाँ-सी इस पार्टी के उत्थान का मूल भी प्रथम महायुद्ध में बताया जा सकता है।

प्रथम, इटली युद्ध में मित्र राष्ट्रों की ओर से शामिल था। युद्ध में मित्र राष्ट्र विजयी हुए थे लेकिन इस विजय से इटली को कोई खुशी नहीं हुई, कुछ लाभ नहीं हुआ। १९१५ ई० को गुप्त संधि के द्वारा इटली को एड्रियाटिक सौंप देने के लिए वादा किया गया था। इटली ने पर्याप्त संख्या में अपने धन-जन का युद्ध में स्वाहा किया। उसकी इतनी बर्बादी स्वतन्त्रता-संग्राम में भी नहीं हुई थी। फिर भी मित्र राष्ट्रों ने अपना वादा पूरा नहीं किया। इटली एक नाबालिग बालकवत राज्य के रूप में देखा गया। यह मित्र राष्ट्रों की ईर्ष्या और गृह-सरकार की दुर्बलता का परिणाम था। दूसरे, अन्य देशों की तरह इटली की आर्थिक

दशा बिगड गयी थी। इसके बजट मे बहुत घाटा हो गया था। मुद्रा की कीमत गिर गयी थी और वस्तुओ का मूल्य बढ गया था। व्यापार तथा उद्योग-धधे छिन्न-भिन्न हो रहे थे। हडताल साधारण घटना हो गई थी। गमनागमन मे रुकावट पैदा हो रही थी और बेकारी की विकट समस्या उपस्थित थी। तीसरे, प्रजातत्र सरकार भ्रष्टाचार और कमजोरी के लिए बदनाम थी। पार्टी का सगठन सिद्धातो के आधार पर नहीं होकर व्यक्तित्व के आधार पर होता था। शासन के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। पुलिस उन्हे दबाने मे लाचार थी। जिस तरह इगलैड मे लकास्ट्रियन काल मे पार्लियामेंट शासन करने मे असफल रही वैसे ही इटली मे भी पार्लियामेंट की असमर्थता प्रकट हो रही थी। अब शासन मे परिवर्त्तन करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। यह परिवर्त्तन एक ही पार्टी ला सकती थी और वह फासिस्ट पार्टी थी। चौथे, यह पार्टी प्राचीन रोमन साम्राज्य के गौरव को पुन स्थापित करना चाहती थी। पाँचवे, इस पार्टी का नेतृत्व सुयोग्य तथा कुशल व्यक्ति के हाथ मे था।

चित्र २०—मुसोलिनी

फासीस्ट पार्टी का नेता था मुसोलिनी। १८८३ ई० मे एक साधारण लोहार के परिवार मे उसका जन्म हुआ था। उसका विद्यार्थी जीवन साधारण था। इसके बाद उसने शिक्षक तथा सपादक के रूप मे कार्य किया किंतु उसकी दिलचस्पी सैनिक वृत्ति मे थी। प्रारभ मे वह उग्र समाजवादी था। किंतु १९१४ ई० म जब उसने युद्ध का समर्थन किया तो उसे पार्टी से निकाल बाहर कर दिया गया। युद्ध मे उसने इटली की सेना मे एक साधारण पद पर काम किया। १९१९ ई० मे उसने फासीस्ट पार्टी का सगठन करना शुरू किया। वह बडा ही परिश्रमी था और उसमे आदर्श तथा व्यवहार दोनो का ही सम्मिश्रण था। इस पार्टी म युद्ध से लौटे हुए सैनिक तथा अन्य भूमिपति और बुद्धिजीवी सम्मिलित हुए। इसके सदस्य काले रग की वर्दी पहनते थे। ये लोग अपने अधिकारो के लिए रोम के सम्राटो की ओर देखते थे। इस पार्टी का नामकरण फासी शब्द के आधार पर हुआ। फासी का अर्थ होता है डडा जो प्राचीन रोम मे अधिकार का प्रतीक होता है। १९२१ ई० मे ३५ फासिस्ट लोक-सभा के लिए निर्वाचित हुए। अक्तूबर १९२२ ई० मे अपने नेता के अधीन तीस हजार फासिस्टों

ने मिलान से रोम के लिए प्रस्थान किया। सरकार किंकर्त्तव्यविमूढ़ थी। राजा ने सरकार-निर्माण के लिए मुसोलिनी को निमंत्रित किया और उसने प्रधान मंत्रित्व स्वीकार किया।

गृह नीति

अब यहाँ फासिस्ट की नीति पर प्रकाश डालना कुछ असंगत नहीं होगा। फासिस्ट राष्ट्रीयता एवं एकतन्त्रवाद के समर्थक और पार्लियामेंट्री प्रणाली के विरोधी थे। वे राज्य को सर्वोपरि समझते थे और इसके सामने व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता था। सब कुछ राज्य के अंदर, इसके बाहर कुछ नहीं—यही उनका उद्देश्य था। उनके कई सिद्धांत मैकियावेली के सिद्धांत थे। वे हिंसा तथा षड्यन्त्र की नीति में विश्वास करते थे। उनके मतानुसार राज्य के लिए उचित-अनुचित सभी प्रकार के साधनों का उपयोग किया जा सकता है। वे समाजवाद, साम्यवाद तथा विश्व के शांति के भी दुश्मन थे।

इस तरह फासिस्टों ने शासन-सूत्र प्राप्त करने पर एक सुदृढ़ केंद्रीय शासन स्थापित किया। मुसोलिनी सर्व-सर्वा था। शासन के सभी अधिकार फासिस्ट पार्टी की महासभा ग्रैंड कौंसिल के हाथ में थे। इसमें कुल बीस सदस्य होते थे। जिनमें मंत्री भी सम्मिलित थे। मुसोलिनी शासन का प्रधान मंत्री और महासभा का अध्यक्ष था। वह मंत्रिमंडल में ६ विभिन्न विभागों का मालिक था। उसकी नीति का कोई विरोध नहीं कर सकता था। फासिस्ट राज्य सहकारी राज्य था, जिसके सभी अंग सहकारिता के आधार पर कार्य करते थे। राज्य के विभिन्न अंगों में सहयोग अत्यावश्यक समझा जाता था। मजदूरों को कुछ अधिकार दिये गये। रात में काम करने वालों को अतिरिक्त मजदूरी देने का नियम बना। रविवार को तथा कुछ वार्षिक छुट्टियाँ देने की व्यवस्था हुई। किंतु मजदूर हड़ताल और मालिक कारखाने को बंद नहीं कर सकते थे। सरकार कारखानों में हस्तक्षेप कर सकती थी।

आर्थिक क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। कृषि की उन्नति और गेहूँ के उत्पादन में वृद्धि हुई। उद्योग-धंधों का विकास हुआ। राष्ट्रीय कर्ज के सूद की दर साढ़े पाँच प्रतिशत से घटाकर तीन प्रतिशत कर दी गई और सहकारी अफसरों का वेतन ६ से २० प्रतिशत तक कम कर दिया गया। मजदूरी और किराये की दर भी घटा दी गई। लिरा के मूल्य में भी कमी हुई। जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से संतानोत्पत्ति को प्रोत्साहित किया गया। बाल विवाह का प्रचार हुआ। जनसंख्या में अतिवृद्धि हुई। सैनिक व्यय के कारण आर्थिक दशा में कोई सुधार नहीं हो सका। चर्च और राज्य में मित्रता स्थापित करना मुसोलिनी का एक बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य था। १८७० ई० से ही दोनों में शत्रुता थी। १९२९ ई० में मुसोलिनी ने पोप के साथ एक संधि की। कैथोलिक धर्म घोषित हुआ अब सेंट पीटर के गिरजाघर पर राज्य तथा चर्च दोनों के झंडे फहराने लगे।

वैदेशिक नीति

मुसोलिनी साम्राज्यवादी था। वह इटली को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहता था। प्रारभ मे फ्रास से अनबन थी, किंतु १९३५ ई० मे दोनो मे सधि हो गई। वह अफ्रीका मे एक साम्राज्य कायम करना चाहता था। अत. कोई बहाना ढूँढ कर उसने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रसघ ने विरोध किया और आर्थिक नियत्रण लागू किया किंतु मुसोलिनी ने कुछ भी परवाह नहीं की और १९३६ ई० मे अबीसीनिया को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। इस मौके पर हिटलर ने मुसोलिनी के साथ सहानुभूति दिखलाई और रोम बर्लिन मे सन्धि हो गई। १९३७ ई० मे इटली ने जापान के साथ भी सन्धि कर ली और राष्ट्रसघ को त्याग-पत्र दे दिया। १९३८ ई० मे उसने फ्रास के साथ की गई सन्धि को तोड डाला और स्पेन मे विद्रोहियों को सहायता दी। १९३९ ई० मे उसने अल्बेनिया को हड़प लिया। इसी साल द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ और उसी मे मुसोलिनी का सर्वनाश हुआ। वह मार डाला गया और निरकुश फासिस्ट सरकार का अन्त हो गया। धीरे-धीरे इटली मे शान्ति कायम हुई और पार्लियामेंटरी शासन-प्रणाली की स्थापना हुई।

(ख) जर्मनी

महायुद्ध मे पराजित होने के बाद जर्मनी से होहेन्जोलर्न राजवश के शासन का अन्त हो गया और सम्राट कैसर को गद्दी छोड देनी पडी। १९१८ ई० के नवम्बर मे जर्मनी मे एक गणतन्त्र की स्थापना हुई जिसे वीमर गणतन्त्र कहते है।

वीमर गणतन्त्र को बड़ी ही विषम समस्याओं का सामना करना पड़ा। जर्मनी का आर्थिक पतन हो गया था। दरिद्रता और बेकारी सर्वत्र परिव्याप्त थी। लोग भूखों मर रहे थे। उनमे आशा और उत्साह का अभाव था। अत. देश मे आन्तरिक शान्ति नही थी। लोग क्षुब्ध थे। इसी हालत मे मित्र राष्ट्रों ने उसे बहुत ही अपमानजनक सधि करने को बाध्य किया तथा उसे प्रतिवर्ष अरबों रुपया क्षति-पूर्ति के रूप मे देने को बाध्य किया। जर्मनी के पास इसके लिये साधन नहीं थे, उसका व्यवसाय नष्ट हो चुका था तथा व्यावसायिक महत्त्व के सभी प्रदेश उसके हाथ से निकल चुके थे। वहाँ के सिक्के (मार्क) का मूल्य द्रुतगति से गिर रहा था। इस स्थिति मे जर्मनी की हालत बहुत ही दयनीय थी और इन समस्याओं का समाधान करने मे गणतन्त्र को असफलता ही मिल रही थी।

पर १९२४ ई० में डावस नामक एक अमेरिकन ने जर्मनी की स्थिति को सुधारने के लिए एक योजना बनायी तथा उसे अमेरिका से कर्ज दिलवाया। अब जर्मनी की स्थिति सुधरने लगी। अब तक राजनीतिक क्षेत्र मे भी जर्मनी अछूता ही था। पर अब उस क्षेत्र में भी उसके प्रति उदारता दिखाई जाने लगी। १९२५ ई० में लोकार्नो की सधि हुई

जिसमे जर्मनी को भी स्थान मिला। १९२६ मे वह राष्ट्रसंघ मे भी शामिल कर लिया गया और जर्मनी से विदेशी सेना हटा ली गयी।

पर शीघ्र ही घटनाओं ने दूसरा मोड़ लिया। १९२९ ई० मे सारे विश्व मे भीषण आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। इस आर्थिक संकट के फलस्वरूप अमेरिका जर्मनी को कर्ज देने मे असमर्थ हो गया। जर्मनी पर तो इस अर्थ-संकट का और भी बुरा प्रभाव पड़ा। उसकी आर्थिक स्थिति तो पहले से ही शोचनीय थी। व्यवसाय तथा उद्योग नष्ट हो गये। अब सभी कल-कारखाने बन्द हो गये। भीषण बेकारी फैली। सर्वत्र अकाल फैल गया। भूख से मरने वाले लोगों की संख्या बढ़ने लगी। जर्मनी का बैंक फेल कर गया और सरकार का दिवाला निकल गया। वीमर गणतन्त्र जर्मन जनता की तकलीफो को दूर करने मे सर्वथा असफल रहा और परिस्थितियो ने उसे कभी लोकप्रिय नहीं बनने दिया। पर इसके लिए गणतन्त्र की अपनी दुर्बलतायें भी जिम्मेदार थीं।

जिस समय गणतन्त्र के नेता क्षति-पूर्ति की रकम को कम कराने एवं कुछ काल के लिए स्थगित करने तथा अमेरिका से ऋण लेने के प्रयत्न मे लगे थे, उसी समय जर्मनी मे एक नये व्यक्ति का उत्थान हो रहा था जो इन सारी चीजों को बेकार समझता था। वह जर्मनी के सिर से वर्साय की अपमानजनक संधि को दूर कर देना चाहता था और जर्मनी को पुनः एक महान् राष्ट्र मे परिवर्तित कर देने का स्वप्न देख रहा था। यह व्यक्ति हिटलर था। उसका जन्म १८८९ ई० मे आस्ट्रिया के एक साधारण परिवार मे हुआ था। बचपन में उसने चित्रकारी की शिक्षा प्राप्त की थी और म्युनिक मे चित्रकारी का काम करता था। युद्ध छिड़ने पर वह जर्मन सेना मे भर्ती हो गया और उसकी प्रतिभा चमक उठी। उसकी अद्भुत वीरता से लोग बहुत ही प्रभावित हुए। युद्ध की समाप्ति के बाद उसने राजनीति मे प्रवेश किया तथा एक नयी पार्टी नेशनल सोशलिस्ट पार्टी का निर्माण किया जिसका संक्षिप्त रूप नाजी पार्टी है।

युद्ध मे पराजित होने के बाद जर्मनी की राष्ट्रीयता मे धब्बा लग गया था। वर्साय की संधि की शर्तें जर्मनी के लिये अपमानजनक थीं। अतः वे इस संधि का अन्त कर अपने खोये हुए राष्ट्रीय गौरव को पुनः कायम करने की ताक मे थे। नाजी पार्टी का यही उद्देश्य था। उसका कार्यक्रम बड़ा ही विस्तृत था जिससे सारी जर्मन जनता प्रभावित हुई। गणतन्त्र के असफल शासन और ढुलमुल नीति से सभी ऊब चुके थे। लोगो को यह विश्वास हो चुका था कि गणतन्त्र जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव को पुनः कायम नही कर सकता। अतः सभी लोग दिल खोलकर नाजी पार्टी मे सहयोग देने लगे।

रणक्षेत्र की हिटलर की सैनिक प्रतिभा राजनीति में भी अग्रगण्य रही। उसका

बेचैनी का वातावरण उपस्थित कर दिया था। हिटलर इन शर्तों को तोड़ने के लिए प्रयत्नशील था। अत जनता का सहयोग उसे मिला। पाँचवें, मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के साथ सहानुभूति नही दिखलाई। जर्मनी पर आर्थिक सकट तो था ही, मित्र राष्ट्रों ने उसे अरबों रुपये क्षतिपूर्ति के रूप मे देने को बाध्य किया और १६२३ ई० मे क्षति-पूर्ति नही दे सकने पर फ्रास ने रूढ़ प्रदेश पर कब्जा कर लिया। नाजियों ने मित्र राष्ट्रों की इस नीति का विरोध किया अत. उन्हे राष्ट्रीय सहयोग मिलना स्वाभाविक ही था। छठे, आर्थिक सकट नाजियों के विकास मे बहुत ही सहायक हुआ। वे लाखों की सख्या मे भूखे और बेकार मजदूरों मे बडी शीघ्रता से अपने सिद्धान्त का प्रचार कर सके। सातवे, नाजियों ने यहूदियों के खिलाफ जबर्दस्त घृणा का प्रचार किया। युद्ध मे जर्मनी की पराजय का उत्तरदायित्व वे यहूदियो पर ही लादते थे, क्योंकि उस समय शासन मे उन्हीं का हाथ था। वीमर गणतन्त्र मे भी यहूदियों की ही प्रधानता थी जो देश मे शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं कर सके थे। मित्रराष्ट्रों के अपमानजनक सधि-पत्रों को यहूदियों ने ही स्वीकार किया था अत. नाजी लोग यहूदियों को जर्मनों का विक्रेता कहा करते थे और इस प्रचार के कारण नाजियो के तरफ जर्मनी का बहुमत चला आया। आठवे, रूस की साम्यवादी लहर जर्मनी मे भी फैली थी। नाजियों ने यह प्रचार किया कि ये साम्यवादी राष्ट्रीयता के दुश्मन तथा रूस के एजेन्ट हैं। अत· लोग नाजियों के प्रभाव मे आ गये।

नाजी जर्मनी की गृह-नीति

हम देख चुके कि किस तरह वीमर गणतन्त्र के खडहर पर हिटलर के एकतन्त्रवाद का निर्माण हुआ। उसने निरकुश स्वेच्छाचारी शासन कायम किया। हिटलर की सरकार का आधारभूत तत्व एक दल और एक नेता का एकतन्त्र तथा अवाधित शासन था। वह अपनी शक्ति के लिए सेना पर निर्भर करता था। अत प्रत्येक योग्य युवक के लिए सैनिक बनना अनिवार्य हो गया। अब समस्त देश एक सैनिक कैम्प के रूप मे परिवर्तित हो गया। उसने सर्वप्रथम अपने विरोधी सभी राजनीतिक दलों को कुचल डाला। यहूदियों और साम्यवादियों का विशेष रूप से दमन किया गया। नाजी पार्टी के सिवा किसी दूसरे दल को अपना विचारव्यक्त करने, सभा करने या भाषण की स्वतन्त्रता न रह गयी। प्रेस, पुस्तकों एव समाचारपत्रों का अपहरण कर लिया गया। कोई भी व्यक्ति सरकार की आलोचना नही कर सकता था। हिटलर ने शरीर और मस्तिष्क दोनों पर पूर्णरूप से अधिकार कर लिया। नाजी-विरोधी व्यक्ति होने के सन्देह मात्र से कोई बिना मुकदमा चलाये जेल में ठूँस दिया जाता था। बिस्मार्क की भाँति हिटलर भी पार्लियामेंटरी प्रणाली का घोर विरोधी था। पार्लियामेंट के अधिवेशनों मे अब तर्क नहीं होते थे, वरन् सदस्यगण हिटलर के भाषण सुनते और स्वीकार कर लेते थे। पार्लियामेंट के निर्वाचन मे जो सदस्य 'मनोनीत होते थे उनका

विरोध नही होता था। सिनेमा, नाटक आदि मनोरजन के साधनो पर भी कडा नियन्त्रण रखा गया। विश्वविद्यालयों एव शिक्षण सस्थाओं पर अत्यधिक कडी दृष्टि रखी जाती थी। बालकों की पढाई मे इस बात पर विशेष जोर दिया जाता था कि उनमे यह भावना जाग्रत हो कि जर्मन जाति विश्व की सर्वोत्कृष्ट जाति है और वह दुनिया भर के लोगो पर राज्य करने के लिए ही पैदा हुई है। उनमे यहूदी-विरोधी भावनाएँ भी खूब भरी जाती थी। यहूदियो को सभी नागरिक अधिकारो से वञ्चित कर दिया गया था।

आर्थिक क्षेत्र मे नाजियो ने फासिस्टों का अनुकरण किया। सभी उद्योग-धन्धो के ऊपर सरकार का नियन्त्रण कायम किया गया। मजदूरों को हडताल करने का अधिकार नही रहा। उनकी मजदूरी, उनके काम करने के घटे, छुट्टी आदि का फैसला सरकार ही करती थी जो सर्वमान्य था। अब पूँजीपतियों को भी मुनाफा करने की स्वतन्त्रता नहीं रही। उत्पादन, मुनाफा आदि सभी पर सरकार का नियन्त्रण कायम हो गया।

राष्ट्रीय एकता के ख्याल से प्रशिया, बवेरिया, सैक्सनी आदि विभिन्न राज्यो की पार्लियामेंटें तोड़ दी गई और वे सभी जर्मनी के विभिन्न प्रान्त बना दिये गये। नाजी सरकार ने जर्मनी की उन्नति के लिए जोरदार प्रयत्न किया। शिक्षा, श्रम, राजनीति, व्यवसाय, शिल्प आदि के अलग-अलग सरकारी विभाग सगठित हुए। इस तरह हिटलर के एक तन्त्रवादी शासन मे जर्मनी की अभूतपूर्व उन्नति हुई।

वैदेशिक नीति

महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी राजनीति क्षेत्र मे अछूता था। उसकी कही कोई गिनती नहीं थी। दुनिया की राजनीति मे उसका स्थान शून्यवत् था। रूस की भी यही स्थिति थी। अतः १९२२ ई० मे जर्मनी और रूस के बीच पालों की सन्धि हुई और इस तरह रूस तथा जर्मनी मित्र बने। १९२५ ई० तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे जर्मनी की यही स्थिति रही। १९२५ ई० की लोकार्नो की सन्धि मे जर्मनी को भी स्थान मिला। दूसरे साल १९२६ ई० मे जर्मनी राष्ट्रसघ का सदस्य बना लिया गया। इस तरह धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसके प्रति उदारता दिखलाई जाने लगी। अमेरिका अब उसे वार्षिक ऋण देने लगा। पर १९२९ ई० के विश्व-आर्थिक सकट ने परिस्थिति को बदल दिया। सभी देश अपने को सँभालने मे ही लग गये। इधर जर्मनी मे नाजियो का उत्थान हुआ और १९३३ ई० मे हिटलर का एकतन्त्रीय शासन कायम हुआ। हिटलर के उत्थान से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे महान् उथल-पुथल हो गये। अब जर्मनी और रूस की मैत्री टूट गई। पोलैण्ड, जो जर्मनी का दुश्मन था, अब मित्र बन गया। १९३४ ई० में दोनो के बीच एक अनाक्रमणात्मक सन्धि हुई। १९३३ ई० के अक्टूबर महीने में ही जर्मनी राष्ट्रसघ से अलग हो चुका था। हिटलर ने अब वर्साय की सन्धि की सभी शर्तों को तोड़ डाला। वह

सन्धि-पत्रो को रद्दी कागज का टुकडा समझता था। उसने जर्मनी के सैनिको की सख्या बढ़ाई। अस्त्र-शस्त्रो को बढाने के लिए नये कारखाने खुलवाये। १६३६ ई० उसने राईनलैण्ड की किलाबन्दी कराई। उसने क्षति-पूर्ति की रकम को देने से इनकार कर दिया। अब मुसोलिनी ने इसी साल अबीसीनिया पर चढाई की। हिटलर ने मुसोलिनी के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की। इस तरह इटली तथा जर्मनी मे मित्रता हो गई। इसे ही रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण कहते हैं। कुछ समय बाद जापान भी इसमे सम्मिलित हो गया। हिटलर ने जल और थल सेना को बढ़ाकर उन सभी प्रदेशो को अधिकृत कर लेना चाहा, जहाँ जर्मन भाषा बोली जाती थी, ताकि वह एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण कर सके। १६३८ ई० मे उसने आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। उसने चेकास्लोवाकिया के उन प्रदेशो (सुडेटनलैण्ड) को अधिकृत कर लिया जहाँ जर्मन लोग बसते थे। बाद मे उसने वहाँ के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रदेशो पर भी कब्जा कर लिया। इसके बाद उसने डेनजिक बन्दर को अधिकृत कर लेना चाहा। फलस्वरूप छिट-पुट सघर्ष प्रारम्भ हो गया। अगस्त १६३६ ई० मे उसने रूस के साथ एक अनाक्रमणात्मक सन्धि की। नाजी और बोलशेविक सरकारो की इस सन्धि ने समस्त ससार को चकित कर दिया। सितम्बर मे वह पोलैण्ड मे घुस गया। पोलैण्ड के गलियारे को जीत लेना वह जरूरी समझता था। इसी समय ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास ने ३ सितम्बर को उसके खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी और द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया जो १६४५ तक चलता रहा। विश्व युद्ध मे जर्मनी की पुन. पराजय हुई और हिटलर का पतन एव नाजी शासन का अन्त हुआ।

अन्य देशो में एकतन्त्रवाद

रूस, इटली तथा जर्मनी के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशो मे भी एकतन्त्रवाद का उदय हुआ। स्पेन, आस्ट्रिया, हगरी, पोलैण्ड, योगोस्लाविया, बलगेरिया, यूनान आदि सभी देशो मे एकतन्त्रवाद फला-फूला। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इन सभी देशो मे प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। किन्तु अधिनायकों ने प्रजातन्त्र का गला घोट कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

एकतन्त्रवाद के गुण-दोष

एकतन्त्रवाद मे गुण-दोष दोनो ही हैं। इसका सबसे बड़ा गुण सकट के समय मालूम होता है। सकट-कालीन परिस्थिति मे शीघ्र निर्णय की आवश्यकता पड़ती है। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था मे शीघ्र निर्णय पर पहुँचना सरल कार्य नही है। किन्तु शीघ्र निर्णय एकशास्त्राओं का विशेष गुण रहा है। लेकिन द्वितीय महायुद्ध मे प्रजातन्त्रीय देशो की विजय ने एकतन्त्रवाद के इस गुण मे भी धब्बा लगा दिया है। इस विश्वव्यापी युद्ध में प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रो की जीत हुई और एकतन्त्रवादी राष्ट्रों को मुँहकी खानी पड़ी।

अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि एकतन्त्रवाद बहुत ही दोषपूर्ण सिद्धान्त है। सक्षेप में इसका सिद्धान्त है कि सब कुछ राष्ट्र या स्टेट के लिए, उसके बाहर कुछ नही है। यह स्टेट के हित के लिए व्यक्ति का बलिदान कर सकता है। किन्तु व्यक्ति के हित के लिए स्टेट के अधिकारो पर हस्तक्षेप नही करता है। इसमे भाषण तथा वाद-विवाद की कोई स्वतन्त्रता नही होती। अत. इसमे मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए कोई स्थान नही रहता। कठोर नियत्रण के कारण व्यक्ति की शक्तियाँ सकुचित हो जाती हैं। मनुष्य के शरीर तथा मस्तिष्क दोनो ही पर राज्य का एकाधिकार-सा स्थापित हो जाता है और वह यत्र के समान सदा कार्यशील रहता है। दूसरे, इसका आधार है पशुबल। यह राष्ट्र का सैनिककरण करता है। इसका जीवन सैन्य शक्ति पर ही निर्भर करता है। अतः यह इसकी वृद्धि को प्रोत्साहित करता है। इसके लिए अधिक से अधिक धन खर्च किया जाता है। अतः जनहित सम्बन्धी कार्यों की उपेक्षा होती है और उनके पसीने की कमाई का अधिक से अधिक दुरुपयोग होता है। तीसरे, सैन्य शक्ति मे वृद्धि होने से साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिलता है। इससे युद्ध की भावना जाग्रत होती है। सक्षेप मे एकतन्त्रवाद प्रजातन्त्र, अतर्राष्ट्रीयता, विश्वशान्ति तथा मानवता का कट्टर विरोधी और शत्रु है—यह मानव-सभ्यता तथा सस्कृति के लिए खतरनाक है।

अध्याय ३५

इंगलैण्ड की मुसीबत—आयरलैण्ड का मौका

भूमिका

आयरलैंड अटलाटिक महासागर मे एक छोटा-सा द्वीप है। किन्तु दुनिया की कहानी में इसका उल्लेख एक महान् अध्याय है। स्वतन्त्रता सग्राम के इतिहास में इसका विशिष्ट स्थान है। यहाँ के निवासियो के रग-रग मे देश-भक्ति और स्वतन्त्रता की भावना व्याप्त थी। लगभग ४ शताब्दिया तक इन्होंने अपनी स्वतत्रता-प्राप्ति के लिए इगलैंड जैसे शक्तिशाली और साम्राज्यवादी देश से सग्राम किया। इतने दीर्घ काल तक शायद ही किसी ने राष्ट्र-स्वतत्रता-सग्राम जारी रखा है। जिस धैर्य तथा उत्साह के साथ आयरिशों ने अपना बलिदान किया वह विश्व-इतिहास मे महत्त्वपूर्ण है। आयरिशो ने अपनी स्वाधीनता के लिए अच्छे-बुरे, हिंसात्मक-अहिसात्मक सभी उपाया का अवलम्बन किया। वे इगलैण्ड की मुसीबत में अपना मौका ढूँढने लगे। बृटिश सरकार ने भी उनके आन्दोलन को कुचलने मे कोई कोर-कसर नहीं उठा रखा। परन्तु मनुष्य के आत्मविश्वास और दृढ इच्छा के सामने अन्य सारी शक्तियाँ बेकार हैं। स्वतत्रता का पौधा लगा। वीर हुतात्माओ ने अपने पवित्र रक्त तथा पसीने से उसे वर्षों सींचा, उन्होने अपने धैर्य और अध्यवसाय को नहीं खोया। उनको भावना की अग्नि मे जितना ही अधिक दमन का घी पडता था, उतना ही वे उत्तेजित होते थे। स्वतन्त्रता का पौधा फला-फूला। आयरलैंड इगलैड के फौलादी फदे से मुक्त हुआ परन्तु साम्राज्यवादी देश ने इसका अग-भग कर डाला। यह कोई नई बात नही। साम्राज्यवाद अपनी विदाई के समय अपना कुछ बुरा असर छोड़ जाता है। प्रथम महायुद्ध के बाद आयरलैंड का अग-भग हुआ तो द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत और फिलस्तीन के अगों का टुकड़ा कर दिया गया। फिर भी स्वतन्त्रता के पुजारी अग-भग की वेदना सह सकते हैं लेकिन दासता की वेदना उनके लिए असह्य होती है। अब हम आयरलैण्ड के स्वातन्त्र्य सग्राम के इतिहास पर विहगम दृष्टिपात करेंगे।

१४८५—१८०० ई०

छठी शताब्दी में आयरलैण्ड पश्चिमी यूरोप मे विद्या का केन्द्र था और दसवी सदी तक गैलिक सस्कृति यहाँ फूलती-फलती रही। मध्ययुग में इसकी अवनति शुरू हुई। ट्यूडर राजाओं ने इस पर अपना आधिपत्य जमाया। आयरिशो ने तत्काल ही विद्रोह कर

डाला, विद्रोह को क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया। पूर्वकालीन स्टूअर्ट राजाओं के समय (१६०३-४६ ई०) विद्रोह की अग्नि सुलगती रही किन्तु निरंकुशता के प्रबल झोंके से इसे दबाने का प्रयत्न होता रहा। आयरलैंड की भूमि मे स्कॉट प्रेसबीटेरियानो को बसा दिया गया और कितने भू-पतियों को बेदखल कर दिया गया। इसी समय स्टैफर्ड ने कठोर शासन स्थापित किया। क्रॉमवेल (१६४६-५८ ई०) ने अपनी तलवार के जोर पर आयरिशो को शान्त रखा, फिर भी हजारों आयरिश अपनी जन्मभूमि छोड़कर यूरोप के अन्य देशों मे चले गये। आयरलैण्ड की अधिकाश जनता कैथोलिक थी। अत जेम्स दूसरे की ओर से आयरिशों ने पुनः विद्रोह किया। १६६० ई० मे बोयन का युद्ध हुआ और विलियम तृतीय ने उन्हे पराजित किया। लिमरीक की सधि हुई जिसमें कैथोलिको को बहुत सी सुविधाएँ देने की प्रतिज्ञा की गई। परन्तु सधि की किसी भी शर्त का शायद ही पालन हुआ हो। उलटे, आयरिशों के विरुद्ध कई कठोर कानून पास हुए और उन पर सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक सब प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये। वे न तो पार्लियामेट का सदय बन सकते थे और न उसे चुन सकते थे। वे न सैनिक बन सकते थे और न राज्यकर्मचारी। आयरलैण्ड की अपनी पार्लियामेण्ट थी किन्तु नाम के लिए—प्रदर्शन के लिए। इस पर इगलैण्ड का अधिकार था। बृटिश पार्लियामेण्ट की स्वीकृति के बिना इसका कोई कानून कार्यान्वित नहीं हो सकता था। उसका बनाया हुआ कानून आयरलैंड मे लागू हो सकता था। आयरिशों की अधिकाश भूमि प्रोटेस्टेंटो को दे दी गई और उनकी बाकी जमीन पर कड़ा कर लगा दिया गया। प्रोटेस्टेन्ट ही राज्यधर्म था और इसके चर्च के लिए कैथोलिको को टैक्स देना पड़ता था। कैथोलिक ५ पौंड से अधिक का घोड़ा नही रख सकते थे। उनकी सुरक्षा प्रोटेस्टेंटो की ही कृपा पर निर्भर थी। वे इगलैण्ड से ही व्यापार करने के लिए बाध्य थे और ऊनी कपड़े स्वय नहीं बना सकते थे। किसानों की दशा दयनीय थी। उनके पास खाने के लिए प्राय. आलू और उसके छिलके ही बच जाते थे और वे भी बड़ी कठिनाई से। आयरलैण्ड के प्रोटेस्टेंट भी भूल मे थे। उन्हें भी कोई स्वतन्त्रता नहीं थी और वे भी अँग्रेजो की ही दया के भिखारी थे। यह था आयरलैण्ड मे बृटिश साम्राज्यवाद का नगा रूप।

लेकिन आयरिश अन्याय को सहने वाले नहीं थे। वे तो मौका ढूँढ़ रहे थे और १७७६ ई० में इगलैण्ड मुसीबत में फँसा तो आयरिशों को सुअवसर मिला। अमेरीकी स्वतन्त्रता-सग्राम के समय ग्रेटन जैसे कुशल नेता के पथ-प्रदर्शन में वे विद्रोह सगठित करने लगे। १७८२ ई० में बाध्य होकर बृटिश सरकार ने उन्हे कई सुविधाएँ दे दी। उनकी पार्लियामेण्ट को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो गया और व्यापार-प्रतिबन्ध हटा लिये गए। लेकिन आयरिश इन मोखों से—स्वतन्त्रता को टुकड़ियों से—सतुष्ट होने वाले

नहीं थे । वे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे । अत. फ्रासीसी क्रान्ति के समय उल्फटन के नेतृत्व मे 'युनाइटेड आयरशि मैन' नामक एक दल सगठित हुआ। १७६८ ई० मे इस दल ने विद्रोह कर दिया। किन्तु एक साम्राज्यवाद की शक्ति का सामना करना आसान कार्य नहीं था। विद्रोह क्रूरतापूर्वक दबा डाला गया। उस समय इगलैण्ड का शासन सूत्र छोटे पिट के हाथ म था। वह बड़ा कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने आयरिशों को मिलाने के लिए जादू का एक नया खेल खेला। उसने आयरलड और इगलैण्ड के पार्लियामेण्ट्री सयोग का प्रस्ताव किया। १७०७ ई० मे इगलैण्ड और स्काटलैण्ड के बीच इस तरह का सयोग हो चुका था, किन्तु आयरिशों का खून स्कॉटों के खून से भिन्न था। आयरिश लोग सयोग के प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं हुए। लेकिन पिट ने उन्हे लालच दी कि इसी के साथ उनकी अन्य बुराइयों का भी अन्त हो जायगा। तब वे तत्पर हुए। अब १८०० ई० मे दोना देशा का पार्लियामेण्ट्री सयोग हुआ। आयरिश पार्लियामेंट का अन्त हो गया और आयरलैण्ड को ३२ सदस्य लार्ड सभा मे और १०० सदस्य कामन्स सभा मे भेजने का अधिकार मिला।

१८००-१६१४ ई०

परन्तु पिट अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहा कर सका। जार्ज तृतीय, जो राजा था, कैथोलिकों का प्रबल विरोधी था। वह इतना सकीर्ण था कि कैथोलिक-मुक्ति अपनी राजशपथ के प्रतिकूल समझता था। अतः उसके विरोध पर पिट ने त्यागपत्र दे दिया। यह तो पहला ही उदाहरण हुआ। १६वीं शताब्दी मे आयरिश प्रश्न ने बृटिश राजनीति को बहुत ही प्रभावित किया। इस चट्टान से टकराकर कई मन्त्रिमण्डल भी चूर-चूर हो गये और पार्टी की स्थिति मे महान् परिवर्त्तन हो गये ।

१६वीं शती के पूर्वार्द्ध मे डेनीयल ओकोनल आयरिशों का सबसे बडा नेता था। उसी के प्रयास से १८२८ ई० मे टोरी मन्त्रिमण्डल के समय कैथोलिक-मुक्ति-नियम पास हुआ और अब वे राज्य कर्मचारी तथा पार्लियामेण्ट के सदस्य बनने के अधिकारी हुए। इसका कारण यह था कि आयरलैण्ड सयोग से असतुष्ट हो क्रान्ति की तैयारी कर रहा था। इसी समय ओकोनल बहुमत से पार्लियामेंट का सदस्य भी निर्वाचित हो चुका था। परन्तु इस कानून ने टोरी पार्टी को विभाजित कर दिया क्योंकि मुक्ति प्रदान करना इस पार्टी का सिद्धात नहीं था। मुक्ति-नियम के पास कराने में पील का विशेष हाथ था। अधिकाश टोरी सदस्य उससे चिढ़ गए। १८४६ ई० मे परिस्थिति और भी अधिक सगीन हो गई। उस समय पील टोरी मन्त्रिमण्डल का प्रधान मत्री था। पार्टी सिद्धात के प्रतिकूल अन्न कानून को रद्द कर दिया गया। इसी कारण उसके मन्त्रिमण्डल का ही अन्त हो गया। यह

कहा जाने लगा कि पील ने अपनी पार्टी को दो बार धोखा दिया। किन्तु बात ऐसी नहीं है। वह कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने पार्टी की अपेक्षा राष्ट्र के हित का अधिक ख्याल किया। दोनो ही बार विद्रोह की आशका थी। अतः उसने विद्रोह की सभावना को दूर कर राष्ट्र की भलाई की। पार्टी तो राष्ट्र की एक टुकडी मात्र थी। अतः उसने सपूर्ण देश के सामने टुकड़ी की उपेक्षा की। यह उसकी व्यावहारिकता और व्यापकता का परिचय है।

इसी समय आयरलैण्ड मे एक तरुण दल कायम हुआ जो उग्रवादी था। यह पार्लियामेट्री सयोग को रद्द करना चाहता था। ग्लैडस्टन की सरकार (१८६८—७४ ई०) ने आयरिशो को सतुष्ट करने का प्रयत्न किया। अब प्रोटेस्टेंट धर्म राजधर्म नहीं रहा और इसकी आर्थिक सहायता बन्द कर दी गई। किसानो को भी कुछ सुविधाऍ मिली। भू-पतियो के द्वारा बेदखल किये जाने पर किसानो को क्षति-पूर्ति करने की व्यवस्था की गई। मालगुजारी की दर कम और निश्चित कर दी गई। कृपकों को कृषि की सुविधा दी गई। किन्तु आयरिशो की मॉग बड़ी थी। अब एक और क्रातिकारी दल की स्थापना हुई। यह फेनीयन समाज के नाम से प्रसिद्ध है। इसने खुलेआम हिंसा की नीति अपनायी, किन्तु हिंसा से उत्तम लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती। इस समय आयरलैण्ड में पार्नेल नामक नेता का उदय हुआ। उसने स्वराज्य (होमरूल) के लिए आन्दोलन खडा किया। ग्लैएडस्टन भी इसका समर्थक हो गया और इस उद्देश्य से उसने दो बार होम रूल बिल पार्लियामेट में पेश किया किन्तु दोनों ही बार, १८८६ ई० तथा १८९४ ई० मे बिल पास नहीं हो सका और उसे त्यागपत्र देना पडा। कैथोलिक-मुक्ति के प्रश्न ने टोरी दल को और स्वराज्य के प्रश्न ने लिबरल दल को छिन्न-भिन्न कर दिया।

१८९४ ई० से १९१४ ई० तक बृटिश सरकार की ओर से आयरलैण्ड पर कड़ा नियन्त्रण रखा गया। इस बीच पारलेल की शक्ति भी समाप्त हो चुकी थी। १९१३-१४ ई० मे लिबरल सरकार के अधीन फिर होमरूल बिल पेश किया गया। उत्तर मे आयरिश प्रोटेस्टेन्टो ने इसका घोर विरोध किया। तब तक महायुद्ध शुरू हो गया और बिल स्थगित कर दिया गया।

१९१४—१९२२ ई०

महायुद्ध काल मे भी आयरिशों का आन्दोलन जारी रहा। इसी समय सिनफीन पार्टी का उदय हुआ। डॉवेलेरा इस पार्टी का प्रधान नेता था। यह पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता था। इसने युद्ध मे असहयोग की नीति बरती और जर्मन सहायता से एक प्रजातन्त्र राज्य कायम करना चाहा। १९१६ ई० में ईस्टरसोम के दिन इस पार्टी ने भयानक विद्रोह कर दिया। महायुद्ध के समय ऐसा विद्रोह बड़ा ही खतरनाक था। अत॰ बृटिश सरकार ने बड़ी ही

निर्दयता के साथ इसे कुचल डाला। आयरलैण्ड मे सैनिक कानून लागू हुआ और बड़े-बड़े नेता गोली के शिकार हुए। बहुतों को अपनी जननी तथा जन्मभूमि से निर्वासित कर दिया गया। युद्ध के अन्त मे १६२० ई० मे एक कानून के द्वारा आयरलैण्ड को उत्तरी और दक्षिणी दो भागो मे बॉट दिया गया। इन दोनो भागों की पार्लियामेट पृथक् कर दी गयी और उसे कानून आदि बनाने का अधिकार दे दिया गया। लेकिन सयोग कायम रहा और आयरलैण्ड की वैदेशिक तथा सैन्य नीति सयुक्त पार्लियामेंट के ही हाथ मे रही। किन्तु सिनफिनियन इस अपूर्ण स्वराज्य से असतुष्ट रहे और उन्होंने डीवेलेरा की प्रधानता मे डेल आयरेल नामक एक स्वतन्त्र शासन इसके पहले ही स्थापित कर लिया था। इस तरह दक्षिणी आयरलैण्ड मे लगभग दो वर्षो तक दोहरा शासन रहा। बृटिश सरकार आयरिशो की इस धृष्टता को सहज ही सहन नहीं कर सकती थी। उसने आयरिशों को दबाने के लिए एक विशेष प्रकार की सेना भेजी जो अपनी पोशाक के आधार पर 'ब्लैक एड टैंस' कही जाती है। यह अपने अमानुषिक कार्य के लिए प्रसिद्ध है। इसने पशुओ की भॉति आयरिशो का शिकार किया। परन्तु वीर आयरिशों को आत्मसमर्पण अज्ञात था। आखिरकार बृटिश सरकार को झुकना पडा और १६२२ ई० मे दोनों मे सधि हुई। दक्षिणी आयरलैण्ड सयुक्त राष्ट्र से अलग कर दिया गया और आयरिश फ्री स्टेट के नाम से उसे औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया गया। उत्तरी भाग अल्सटर ग्रेट ब्रिटेन के ही अधीन रहा।

१६२२—१६४६ ई०

इस सधि ने दक्षिणी आयरलैण्ड मे भी भीषण गृह-युद्ध का सूत्रपात किया। नर्म पथियो ने सधि स्वीकार कर ली किन्तु डीवेलेरा के नेतृत्व मे उग्र पथियो ने इसे अस्वीकार कर दिया। अपनी जन्मभूमि के अग-भग से उग्रपथियों के खून खौल रहे थे। अब दोनों विरोधी दलो मे मार-काट का बाजार गर्म हुआ। कॉसग्रेव सरकार ने उग्रपथियों का जोरो से दमन किया। नर्म पथियो की विजय रही। नर्म पथी फ्री स्टेट के समर्थक थे। उग्र पथी सपूर्ण आयरलैण्ड मे पूर्ण सत्तात्मक जनतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। १८३२ ई० मे डीवेलेरा की पार्टी का बहुमत हुआ और उसकी सरकार बनी। अब इसने एक-एक कर ग्रेट ब्रिटेन से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर डाला। उसने बृटिश सम्राट के प्रति राजभक्ति की शपथ उठा दी। आयरी कानून के लिए गवर्नर जेनरल की स्वीकृति अनावश्यक कर दी गई और प्रिवीकौंसिल मे अपील भेजने की प्रथा बन्द कर दी गई। १६३७ ई० मे एक नया विधान बना। देश का नाम आयर पडा और इसे पूर्ण सत्तात्मक जनतन्त्र घोषित किया गया। डॉगलस हाइड इसके प्रथम राष्ट्रपति और डीवेलेरा प्रथम प्रधान मत्री हुए। एक राष्ट्रपति, उत्तरदायी मत्रिमण्डल और दो भवनों की व्यवस्था की गई। इस प्रकार डीवेलेरा

ने वेस्टमिनिस्टर के कानून का अपने देश मे खूब ही उपयोग किया। यहाँ तक कि दूसरे महायुद्ध के अवसर पर वह तटस्थ रहा। लेकिन अभी तक आयर बृटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहा। वैदेशिक क्षेत्रो मे बृटिश सम्राट अभी उसकी ओर से काम करता रहा। किन्तु १६४६ ई० मे यह अन्तिम सम्बन्ध भी तोड़ लिया गया। अलस्टर को मिलाने की नीति बराबर कायम रही है। इसके लिए द्वार खुला रखा गया है और वह जब चाहे तब जनतन्त्र मे सम्मिलित हो सकता है।

छोटे द्वीप के निवासियो का यह अद्भुत चमत्कार है जो पराजित राष्ट्र को सदा प्रेरणा देता रहेगा।

अध्याय ३६

मानव समाज का पागलपन—द्वितीय विश्व-युद्ध

भूमिका

१६१४ ई० मे मनुष्य ने सर्वप्रथम अपने पागलपन का परिचय दिया जबकि प्रथम विश्व-युद्ध का श्रीगणेश हुआ। ४ वर्षों तक युद्ध सामग्रिया का निर्माण, नर-नारी का सहार और धन-दौलत का नाश होता रहा। १६१८ ई० मे इस युद्ध की महामारी का अन्त हुआ। कुछ राजनीतिज्ञो का कथन था कि युद्ध का अन्त करने के लिए ही यह युद्ध किया गया था। किन्तु उनका कथन सत्य नही निकला। १६१६ ई० मे वर्सेल्स की सधि हुई और उसी सधि मे दूसरे युद्ध का बीज छिपा हुआ था। कुछ अन्य घटनाएँ भी हुई। अतः बीस वर्ष के ही बाद द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रारभ हो गया और यह ६ वर्षों (१६३६-४५ ई०) तक चलता रहा। यह प्रथम महायुद्ध से भी अधिक व्यापक, भयकर तथा सहारक था। हिंसा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। मानव-सहार का नग्न नृत्य हुआ। आकाश से वायुयानो के द्वारा बम-वर्षा, ध्वशकारी अणुबम का प्रयोग और जलपोतो द्वारा इस युद्ध मे विनाश ही इसकी विशेषताएँ थी। फिर अकाल तथा महामारी का प्रकोप हुआ। इस प्रकार सहस्रा व्यक्ति काल के ग्रास बने। इस तरह खून की नदियाँ बहायी गईं और मनुष्य ने दूसरी बार अपने पागलपन का लज्जाजनक प्रदर्शन किया। इस द्वितीय विश्व-युद्ध के भी अनेक कारण हैं।

कारण

राष्ट्रसघ की निर्बलता

प्रेसिडेट विलसन के प्रयास से शाति-स्थापना के लिए राष्ट्रसघ का निर्माण हुआ। राष्ट्रसघ छोटे तथा साधारण झगड़ो को सुलझाने में समर्थ हुआ लेकिन बड़े-बड़े झगड़ों मे यह कुछ न कर सका। शक्तिशाली राष्ट्रो के विरुद्ध यह कुछ भी नहीं कर सकता था। जापान, जर्मनी, इटली आदि राज्यों ने आक्रमणकारी नीति अपनायी। किंतु राष्ट्रसघ ने उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। इसने जब विरोध की आवाज उठाने का प्रयत्न किया तो इन राज्यों ने सघ की सदस्यता से ही पद-त्याग कर दिया। इस तरह राष्ट्रसघ की उपेक्षा होती रही। इसकी दुर्बलता से राज्यो को आक्रमण के लिए प्रोत्साहन भी मिलता रहा। इसकी विफलता के प्रधान कारण थे—महान् राज्यो मे सहयोग का अभाव, स्वार्थ का प्राबल्य और इसकी सदस्यता की अमेरिका के द्वारा अस्वीकृति।

सयुक्त राज्य अमेरिका की नीति

सयुक्त राज्य अमेरिका केवल राष्ट्रसघ से ही अलग नहीं रहा, १६२१ से १६३६ ई० तक उसने पृथकता की नीति का अनुसरण किया। इसका अर्थ यह है कि यह ससार के मामलो से उदासीन रहा और किसी राज्य मे इसने हस्तक्षेप नहीं किया। ससार के सर्वशक्तिशाली देश और स्वाधीनता तथा लोकतन्त्र के कर्णधार की ऐसी नीति मानव-समाज के लिए घातक सिद्ध हुई। इससे महत्त्वाकाक्षी और दुराचारी राष्ट्रों को अधिक बढावा मिला।

अस्त्रीकरण की प्रतियोगिता

गत महायुद्ध के बाद विभिन्न राज्यो के द्वारा निरस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न किया गया। जेनेवा मे एक निरस्त्रीकरण-सभा भी बुलाई गयी। किन्तु प्रयत्न दिखावटी था, वास्तविक नही। शक्तिशाली राज्यो मे भीतर ही भीतर अस्त्रीकरण के क्षेत्र मे प्रतियोगिता चल रही थी और प्रत्येक राज्य अपने अस्त्र-शस्त्र मे वृद्धि कर रहा था। उसे युद्ध की आशका बनी हुई थी और वह सैन्य-शक्ति के मामले मे इतना मजबूत बन जाना चाहता था कि लडाई छिड जाने पर उसे दूसरे का मुँह न ताकना पड़े। इससे युद्ध के लिए वातावरण तैयार हो रहा था।

जापान का अभ्युदय

यूरोप के राष्ट्र तो साम्राज्यवादो थे ही, एशिया मे भी एक साम्राज्यवादी राष्ट्र का उत्थान हुआ। यह राष्ट्र था जापान। इसने २०वी सदी मे साम्राज्यवाद और सैनिकवाद के क्षेत्र मे बड़ी उन्नति की। इसने १६३१ ई० मे मचूरिया पर अधिकार कर लिया। धीरे-धीरे चीन के उत्तरी प्रदेशो पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। राष्ट्रसघ मे जब विरोध की बात हुई तो उसने त्यागपत्र दे दिया। १६३४ ई० मे इसने एशिया के लिए मुनरो सिद्धात निकाला और १६३६ ई० में जर्मनी के साथ सधि की। दूसरे साल इटली भी इसमें सम्मिलित हो गया। समाजवादी रूस के विरुद्ध यह सधि की गई। १६३६ ई० में जापान ने दक्षिणी चीन पर धावा किया और ब्रिटिश भू-भागो पर भी अधिकार करने की चेष्टा करने लगा। इगलैण्ड, फ्रास आदि राष्ट्र चीन के साथ सहानुभूति रखते थे।

इटली की साम्राज्यवादी नीति

१६३४ ई० तक इटली का अधिनायक मुसोलिनी इगलैण्ड तथा फ्रास के साथ मिला रहा। किंतु अब उसकी नीति मे परिवर्त्तन हो गया और १६३५-३६ ई० मे उसने अबीसीनिया पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। अबीसीनिया के सम्राट ने राष्ट्रसघ में अपील की। राष्ट्रसघ ने व्यापारिक प्रतिबध लागू किया। लेकिन इससे इटली का कुछ विशेष नही बिगड़ा। तेल प्रधान वस्तु थी, जिसपर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया गया। अतः इटली का उद्देश्य पूरा हो गया। राष्ट्रसघ के हस्तक्षेप का यह परिणाम हुआ कि

इटली उससे अलग हो गया। दूसरे, मुसोलिनी तथा हिटलर मे मित्रता हो गई क्योकि हिटलर ने अबीसीनिया मे मुसोलिनी की नीति का विरोध नही किया था और दोनो ही एकतन्त्रवाद के समर्थक थे। १६३६ ई० मे दोना ने एक सधि की। यह सधि रोम-बर्लिन धुरी के नाम से विख्यात है। इसी समय हिटलर ने जापान के साथ भी एक सधि की। इस तरह बर्लिन रोम तथा टोकियो मे निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया।

स्पेन का गृहयुद्ध

स्पेन प्रथम विश्व-युद्ध मे किसी भी दल की ओर से शामिल नहीं हुआ था। किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद इसकी भी दशा बुरी होने लगी थी। १६२३ ई० मे वहाँ राईबरा के नेतृत्व मे एकतत्र शासन स्थापित हुआ। लेकिन एक दशक के भीतर ही राईवरा सरकार का अन्त हो गया और जनतत्र की स्थापना हुई। यह जनतत्र दीर्घकाल तक नही रह सका। स्पेन मे गृहयुद्ध छिड गया। विद्रोहियो का नेता फ्रैंको था। मुसोलिनी तथा हिटलर फ्रैंको की भरपूर सहायता करते थे। रूस ने जनतत्र की सहायता की। इसी समय ऐसा प्रतीत होता था कि स्पेन का गृहयुद्ध विश्व-युद्ध मे परिणत हो जायगा। लेकिन अमेरिका, इगलैण्ड तथा फ्रास ने स्पेन मे हस्तक्षेप नही किया और महायुद्ध का बादल टल गया। परतु नवजात जनतत्र का अन्त हो गया, फ्रैंको की विजय हुई और इस विजय का सारा श्रेय जर्मनी तथा इटली को था।

जर्मनी का उत्कर्ष

१६१६ ई० से १६३३ ई० तक जर्मनी की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी। वर्साय की सधि की शर्तों के भार से वह कराह रहा था। यह सधि आगामी युद्ध के लिए एक पृष्ठभूमि थी। इस बीच वहाँ नात्सी (नाजी) पार्टी का क्रमशः सगठन होने लगा था। नाजियो की महत्त्वाकाक्षाएँ बहुत थी। वे अपने को सर्वोच्च आर्य तथा विश्व राज्य के अधिकारी मानते थे। हिटलर इस पार्टी का सर्वे-सर्वा था जिसकी सगठन शक्ति अपूर्व थी। १६३३ ई० मे जर्मनी का शासन-सूत्र उसी के हाथ मे चला आया। वह एक सैनिक था और एकतत्रवाद का समर्थक। वर्साय की सधि उसके हृदय में कॉटों की तरह चुभती थी जिससे मुक्ति पाना उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह कोई भी साधन अपनाने के लिए तत्पर था। अत. राज्यशक्ति हाथ में आने पर वह वर्साय की सधि की शर्तों को एक-एक कर तोडने लगा। उसने राष्ट्रसघ छोड दिया; जापान, इटली तथा रूस से सधि कर ली और आस्ट्रिया, जेकोस्लोवाकिया आदि देशो को सहज ही हडप लिया। उसके मित्र मुसोलिनी ने भी अलबेनिया पर अधिकार कर लिया। १ सितम्बर १६३६ ई० को हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। युद्ध का

का श्रीगणेश हो गया। इगलैण्ड तथा फ्रास ने जर्मनी के विरुद्ध तीन सितम्बर को युद्ध छेड़ दिया।

इगलैण्ड तथा फ्रास का उत्तरदायित्व

युद्ध होने मे इगलेण्ड तथा फ्रास भी उत्तरदायी थे। इन दोनो प्रजातत्री देशो की तटस्थता और सात्वना की नीति से जर्मनी को आक्रमण के लिए विशेष प्रोत्साहन मिला। स्पेन मे वे तटस्थ रहे, आस्ट्रिया तथा जेकोस्लोवाकिया के मामले मे उन देशो ने हिटलर को तुष्ट करने की नीति अपनायी। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चेम्बर लैन्स दो-तीन बार जर्मनी गये, उन्होने हिटलर की माँग को स्वीकार किया और म्यूनिक पैक्ट हुआ। किन्तु हिटलर ऐसा लोभी और धूर्त था कि जब उसकी एक माँग पूरी हो जाती थी तो वह कुछ समय बाद नई माँग पेश करता था। आस्ट्रिया और जेकोस्लोवाकिया पर जर्मनी का अधिकार हो जाने के समय तक ग्रेट ब्रिटेन की नीति मे कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। इस तरह इगलैण्ड तथा फ्रास की नीति से हिटलर का मन बढ़ता गया। लदन लौटने पर चेम्बरलेन ने बड़े गर्व से कहा कि हम लोगो के युग मे शाति स्थापित रह सकी किन्तु चर्चिल ने उत्तर देते हुए कहा, "ब्रिटेन तथा फ्रास को युद्ध तथा मानहानि में से किसी एक को चुनना था। उन्होने मानहानि को चुना। युद्ध तो होकर ही रहेगा।"

एक और प्रकार से भी इगलैण्ड तथा फ्रास का उत्तरदायित्व है। ये दोनो देश समाजवादी रूस को शका की दृष्टि से देखते थे। कभी-कभी उसकी उपेक्षा भी करते थे। १६३४ ई० तक रूस, जबकि वह राष्ट्रसघ का सदस्य हुआ, यूरोप का अछूत जैसा था। इगलैण्ड तथा फ्रास पश्चिमी योरप मे साम्यवादी रूस के प्रभाव को रोक रखने के लिये जर्मनी को सबल और सतुष्ट बनाए रखना चाहते थे। अतः उन्होने जर्मनी के साथ उदारवादी नीति अपनायी थी। फलस्वरूप रूस जर्मनी की ओर झुक गया और दोनों मे २३ अगस्त १६३६ ई० को एक सधि हुई। इस सधि के होने से भी हिटलर को पोलैण्ड पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहन मिला। अब इगलैण्ड तथा फ्रास की नीद टूटी और उन्होने हिटलर का वास्तविक उद्देश्य समझा। लेकिन अब तक काफी देर हो चुकी थी और स्थिति गभीर हो चुकी थी। ३ सितम्बर १६३६ ई० को द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रारभ हो गया।

घटनाएँ

६ वर्षों तक युद्ध चलता रहा। लगभग चार वर्षों तक युद्ध की गति शत्रुराष्ट्रों के पक्ष में थी और पाश्चात्य राष्ट्रो की हार होती रही। जर्मनी ने बेलजियम, हालैण्ड, नॉरवे, तथा स्वेडन पर अधिकार कर लिया। उसने बालकन राष्ट्रो पर भी अपनी प्रभुता स्थापित की। रूस ने भी अपनी पश्चीमी सीमा पर के देशों पर आक्रमण किया। विस्तृत

भूभागों को अपने राज्य में मिला लिया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान का आक्रमण हो रहा था और उसने बर्मा तक के भू-भागों पर अधिकार कर लिया। इसी समय भारत-वर्ष के विद्रोही नेता सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय सेना का निर्माण हुआ था। इतिहास में यह सेना आइ० एन० ए० के नाम से प्रसिद्ध है। यह सब होते हुए भी युद्ध के उत्तरार्द्ध में मित्र राष्ट्रों का सितारा चमक उठा। जर्मनी ने अपने मित्र रूस पर भी तीर छोड़ दिया। १६४१ ई० के अन्त तक अमेरिका भी युद्ध में सम्मिलित हो गया था। अमेरिकावासियों ने जापानियों के छक्के छुड़ा दिये। उन्होंने उनके दो नगरों—हिरोसिमा तथा नागासाकी—को अणु बम से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। दुनिया के इतिहास में यह नवीन प्रयोग था, साथ ही मानव-सभ्यता पर यह कलंक का एक टीका भी है। धुरी राष्ट्रों—जापान, जर्मनी, इटली की पराजय हुई। मित्र राष्ट्र विजयश्री को पाकर गौरवान्वित हुए। अगस्त १६४५ ई० में द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध का अन्त हो गया।

मित्र राष्ट्रों की विजय के कारण

मित्र राष्ट्रों की विजय के अनेक कारण थे। (१) मित्र राष्ट्रों की धन-जन की शक्ति धुरी राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक थी और उनके साधन अनन्त थे। (२) उनकी सामुद्रिक शक्ति असीम थी और इनके सामने जर्मनी विवश था। (३) नेपोलियन के समान हिटलर की महत्त्वाकांक्षाएँ असीम थी। वह प्रदेशों को जीतता हुआ बढ़ते जाना चाहता था किन्तु विजित प्रदेशों का संगठन नहीं करता था। अतः इन देशों में गुप्त ढंग से उसके विरुद्ध विरोधी प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। उसने फ्रांस की पराजय के पश्चात् शीघ्र ही इंगलैण्ड पर आक्रमण करने का प्रयत्न नहीं किया। (५) जर्मनी ने रूस पर भी धावा बोल दिया जो उसकी बड़ी भारी भूल साबित हुई इससे उसकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। इसी रूस ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले नेपोलियन का छक्का छुड़ा दिया था और उसकी पराजय में एक प्रमुख कारण बना था। रूस की वही भौगोलिक स्थिति थी जिसके कारण हिटलर को भी मुँहकी खानी पड़ी। (६) अमेरीका के सम्मिलित हो जाने से युद्ध की गतिविधि निश्चित रूप से मित्र राष्ट्रों के पक्ष में हो गई। प्रथम महायुद्ध में भी उसका सम्मिलित होना निर्णायक सिद्ध हुआ था। युद्ध में अमेरिका के प्रवेश से मित्र राष्ट्रों की शक्ति तथा उत्साह में असीम वृद्धि हुई। अमेरिका वासियों ने ही अणु बम का प्रयोग कर जापान के दो समृद्ध नगरों को भस्मीभूत कर डाला और उसे सिर झुकाने के लिए बाध्य किया।

सन्धियाँ

युद्ध के पश्चात् अनेक समस्याएँ उपस्थित हुईं जिन्हें हल करने के लिए मित्र राष्ट्र

कार्यशील हुए। परराष्ट्रसचिवों के तथा अन्य प्रकार के कई सम्मेलन हुए। सर्वप्रथम पराजित राष्ट्रो से सधि करने की समस्याएँ थीं। पहले दक्षिणी और पूर्वी यूरोप के राज्यों के साथ सधियाँ हुईं। इटली के उपनिवेश छीन लिये गये। एरीट्रिया, लीबिया और सोमाली लैण्ड जो पहले इटली के अधिकार मे थे, अब मित्र राष्ट्रो के अधीन हो गये और ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास, रूस तथा अमेरिका इनकी देख-रेख करने लगे। यूरोप मे भी उसके राज्य के कुछ भाग फ्रास, यूनान, यूगोस्लाविया और अलबेनिया के बीच बाँट दिये गए। इटली की सेना घटाकर ढाई लाख के लगभग कर दी गई। फिनलैण्ड को रूस के द्वारा १९४० ई० में जीते हुए भाग को उसी के अधीन मान लेना पडा। रूस को रूमानिया से भी कुछ भू-भाग मिला और रूमानिया की यह क्षति-पूर्ति हगरी के द्वारा की गई। हगरी को कुछ रकम भी चुकाने के लिए बाध्य किया गया। आस्ट्रिया तथा जर्मनी के साथ सधि करना एक टेढ़ी खीर थी। इन प्रयत्नों को लेकर रूस और दूसरे मित्र-राष्ट्रो के बीच भीषण मतभेद उठा। रूस दुर्बल आस्ट्रिया की स्थापना के पक्ष मे था। किन्तु अन्य मित्र राष्ट्र इसका विरोध कर रहे थे। १९४८ ई० के मध्य तक उनमें समझौता न हो सका और उस समय तक आस्ट्रिया उनके बीच वाद-विवाद का विषय बना रहा। समझौता होने पर ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रास, रूस और अमेरिका ने इसे चार भागों मे बाँट लिया। युद्ध-काल मे ही रेनर की अध्यक्षता में अस्थायी सरकार बनी। नये निर्वाचन मे भी इसी सरकार का बहुमत रहा। मित्र राष्ट्रो ने इसी सरकार को स्वीकार कर लिया।

मित्र-राष्ट्रो के बीच सबसे अधिक मतभेद जर्मनी को लेकर हुआ। रूस अपने स्वार्थ से जर्मनी का औद्योगिक पुनरुत्थान चाहता था। किन्तु ब्रिटेन, फ्रास तथा अमेरिका इसके विरोधी थे। आखिरकार जर्मनी भी चार भागो मे बाँट लिया गया और सभी एक-एक भाग के मालिक बने। जर्मनी का सबसे अधिक भाग रूस को और सबसे कम भाग फ्रास को मिले। रूस से कम अमेरिका को और फ्रास से अधिक ब्रिटेन को मिला। एक केन्द्रीय शासन परिषद की स्थापना हुई जिसमे चारों राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व था। परन्तु अभी भी वे आपस में एकमत न रहे।

जापान के शासन का भार जेनरल मैकआर्थर के हाथ में सौपा गया। उसे राय देने के लिए एक जापानी कौंसिल स्थापित हुई जिसमें ८ सदस्य थे। इसका सभापति एक अमेरिकी सदस्य था। इसी जेनरल और कौंसिल की देख-रेख मे जापानी सरकार काम करने लगी। कोरिया पर जापान का कोई अधिकार नही रहा। इसे रूस और अमेरिका ने आपस मे बाँट लिया। १९४८ ई० के मध्य में सयुक्त राष्ट्र-सगठन ने कोरिया की स्वतन्त्रता के लिए कमीशन भी नियुक्त किया। परन्तु रूस ने कमीशन के साथ सहयोग की नीति नहीं बरती

और आज कोरिया मे दोनो बड़ी शक्तिया के स्वार्थ आपस मे टकरा रहे है। इस बीच १६४७ ई० मे जापान ने एक नवीन विधान कार्यान्वित किया।

परिणाम

युद्ध या महायुद्ध के जो साधारण परिणाम होते आये हैं वे तो हुए ही, करोड़ो नर-नारी बाल-बच्चे काल के गाल मे चले गये। अरबो की धन-दौलत का नाश हुआ। सर्वविनाश-कारी अणुबम का प्रयोग हुआ और जापान के दो हरे भरे नगर धराशायी और भस्मीभूत हो गये। मानव-समाज पर भय और विपत्ति के पहाड़ टूट पड़े और दुर्बल राष्ट्रो की रीढ टूट गई।

द्वितीय महायुद्ध के और भी महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। इसने विश्व की राजनीति मे क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ला दिया।

द्वितीय महायुद्ध मे दो विरोधी दल तो लड़ ही रहे थे, यह दो विचार-धाराओ मे भी सघर्ष था। ये दो विचार-धाराएँ थी—प्रजातन्त्र और एकतन्त्र। मित्रराष्ट्रो की विजय के फल स्वरूप प्रजातन्त्र सिद्धान्त की भी विजय हुई और विश्व मे इसका क्षेत्र सुरक्षित हो गया।

परन्तु युद्ध के पश्चात् अन्य-अन्य दो राजनीतिक विचार-धाराओ मे सघर्ष भीषण रूप में शुरू हो गया। ये विचार-धाराएँ हैं— साम्यवाद और पूँजीवाद। पूँजीवाद राष्ट्र लोकतन्त्र के भी समर्थक हैं। पहले का नेतृत्व रूस के और दूसरे का अमेरिका के हाथ मे है। रूस साम्यवाद का प्रचार चाहता है और अमेरिका इसका विरोध कर लोकतन्त्र की स्थापना चाहता है। विश्व-शान्ति के लिये रूस और अमेरिका का यह सघर्ष बहुत ही घातक है। तृतीय महायुद्ध की यदि इसे भूमिका कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। कोरिया मे दोनो की मुठभेड़ और पैंतरेबाजी शुरू हो गई है और दोनों अपने-अपने दल को सगठित करने मे सलग्न हैं। पूर्वी यूरोप मे रूस का प्रभाव बढ़ रहा है और पश्चिमी यूरोप मे अमेरिका का। अब तक जर्मनी पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के बीच एक दृढ दुर्ग के समान स्थित था किन्तु उसका पतन हो जाने से मध्य यूरोप तक प्रभाव स्थापित करने के लिये रूस को सुविधा प्राप्त हो गई है। पूर्वी यूरोप के देशो की व्यवस्था मे रूस की देख-रेख मे महान् परिवर्त्तन हुए हैं।

दूसरे विश्व-युद्ध के पश्चात् राष्ट्रीयता की पुरानी महत्ता नहीं रही। अब विचारधारा का महत्त्व बढ़ा जो भौगोलिक सीमा के अन्दर सीमित नहीं रहती। प्राय समस्त ससार उप-र्युक्त दो विचारधाराओं मे विभक्त है। साम्यवाद और लोकतन्त्र—अब अपने-अपने सिद्धान्त के लिये ही लोग मर मिटने के लिए कटिबद्ध हैं। एक ही देश के अन्दर दोनो विचार-

धाराओं के नागरिक वर्त्तमान है और वे आपस में लडते-झगडते है। दूसरे देश के उसी विचरधारा के समर्थकों के साथ अपने देश के विरोधी विचार-धारा के समर्थकों की अपेक्षा उनका घना सम्बन्ध स्थापित है। उदाहरणार्थ, भारत के कम्युनिस्टों का काग्रेसियो की अपेक्षा रूस के कम्युनिस्टो के साथ निकट सम्पर्क है और वे राष्ट्रीय सरकार के प्रबल विरोधी हैं। भारत के एक काग्रेसी मुख्य मन्त्री[1] ने अपनी सरकार की नीति ए (A) से जेड (Z) तक कम्युनिस्ट विरोधी घोषित की थी। विचारधारा की महत्ता की अपेक्षा विज्ञान की उन्नति ने भी राष्ट्रीय सीमा के महत्त्व को घटा दिया है। विज्ञान ने दूरी और काल को बहुत ही सक्षिप्त कर दिया है और सारे ससार को एक सूत्र मे आबद्ध कर दिया है। वर्त्तमान समस्याऍ विश्व की समस्याऍ हैं जिनके समाधान के लिये अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर सहयोग की आवश्यकता है।

विचार-धाराओ की महत्ता बढने से राष्ट्रीय सरकारों की प्रवृत्ति एकाधिकार की ओर झुकने लगी है। विरोधी दलों पर नियन्त्रण करना आवश्यक समझा गया है। अत. लोक-तन्त्री शासन में भी विचार-स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है और विरोधियो को दबाने के लिए तरह-तरह के कुचक्र रचे जाते हैं। साम्यवादी रूस मे तो यह प्रवृत्ति और अधिक काम करती है। इस तरह विशुद्ध जनतन्त्र शासन का गला घोंटा जाने लगा है।

द्वितीय महायुद्ध ने महान् राज्यों की स्थिति मे बहुत बडा परिवर्त्तन ला दिया है। पहले की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति कमजोर पड गई है। उसका साम्राज्य सकुचित हो गया है और उसकी आर्थिक दशा बिगड़ गई है। साम्राज्य के कई अग अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर उससे अलग हो गये हैं और जो पहले ब्रिटिश राष्ट्र सघ था वह अब सिर्फ राष्ट्र सघ रह गया है। प्रथम महायुद्ध के बाद उसकी गिनती विश्व की प्रथम शक्ति के रूप में होती थी किन्तु अब वह तृतीय श्रेणी का राज्य बन गया है। युद्ध के पश्चात् वहाँ एटली के प्रधान मन्त्रित्व में मजदूर सरकार की भी स्थापना हुई। फ्रास भी १६३६ ई० तक तो एक शक्तिशाली राष्ट्र था परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद उसकी गिनती चतुर्थ श्रेणी में होने लगी। इसके अतिरिक्त फ्रास मे तृतीय गणतन्त्र का अन्त हो गया और चतुर्थ गणतन्त्र की स्थापना हुई।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् दो राष्ट्र अधिक शक्तिशाली होकर निकले, अमेरिका और रूस। यूरोपीय राज्यों में रूस को प्रथम श्रेणी मे रख सकते हैं। किन्तु विश्व के पैमाने पर अमेरिका को यह श्रेय प्राप्त होगा और रूस को द्वितीय श्रेणी का राज्य कहा जायगा। फिर

---

[1]श्रीराज गोपालाचार्य (मद्रास)

भी आज की दुनिया के रगमच पर ये ही दोनों प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे खड़े हैं और एक दूसरे के अशुभ चिन्तक हैं।

विजित तथा उपेक्षित राष्ट्रों मे स्वतन्त्रता की भावना जागरित हो उठी और स्वातन्त्र्य आन्दोलन मे तीव्रता आ गई। युद्ध-काल मे अमेरिका के राष्ट्रपति रुजवेल्ट तथा ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल के सहयोग से चार्टर प्रकाशित हुआ जो अटलांटिक चार्टर के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध का उद्देश्य बतलाया गया। इसमे स्वतत्रता तथा आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का समर्थन किया गया था। अतः युद्ध का अन्त होने पर गुलाम जातियो मे स्वतन्त्रता के लिय सघर्ष छिड गया। एशिया के देशो मे स्वतन्त्रता का प्रभात हुआ।

एशियाई देशो मे तो प्रथम महायुद्ध के बाद से ही स्वतत्रता के लिए आन्दोलन उठ खड़े हुए थे और पश्चिमी एशिया के कुछ देशों मे सफलता भी मिल चुकी थी। परन्तु अभी भी एशियायी भू-भागो पर पाश्चात्य साम्राज्य का नगा नाच हो रहा था। द्वितीय महायुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास तथा हालैण्ड एशिया को छोडने के लिये बाध्य हुए और भारत, बर्मा, सीलोन, हिन्दचीन तथा हिन्देशिया स्वतन्त्र हो गये। एशिया में केवल जापान एक साम्राज्यवादी देश था जो चीन को अपने फौलादी पजे मे फॅसाए हुए था। युद्ध मे जापान का पतन हो गया और चीन स्वतन्त्र हुआ। इस चीन में समाजवादी प्रजातन्त्र की स्थापना हुई है। एशिया मे दो नये राज्यो की सृष्टि हुई है—पाकिस्तान और इसरायल। १६४७ ई० मे पहले का और १६४८ ई० मे दूसरे का निर्माण हुआ है और ये दोनो क्रमश. मुसलमानों तथा यहूदियो की साम्प्रदायिकता के उत्पादन हैं, फिर भी सन्तोष इतना ही है कि ये दोनों भी स्वतन्त्र राज्य हैं। अब यह निश्चय है कि विश्व के रग-मच पर स्वतन्त्र एशिया वर्त्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे प्रमुख भाग लेगा और मानव-समाज की प्रगति मे सक्रिय सहयोग प्रदान करेगा।

इस प्रकार पुराना साम्राज्यवाद मृत्यु-शैया पर अब अन्तिम साँस ले रहा है। अब देश या विश्व-विजय की कल्पना करना सम्भव नही रहा। सेना रखी जाती है परन्तु देश की व्यवस्था और सुरक्षा के लिए। परन्तु अब एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का उदय हुआ है। सबसे पहले प्रदेशो को जीतना और उनका शोषण करना ही साम्राज्यवाद का लक्ष्य होता था। प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका ने आर्थिक साम्राज्यवाद का जाल बिछाना शुरू किया जो डालर साम्राज्यवाद कहलाता है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् एक तीसरे ही प्रकार का साम्राज्यवाद स्थापित हुआ। इसे सैद्धान्तिक साम्राज्यवाद कह सकते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि विश्व मे दो विचार-धाराऐं प्रधान हैं जिनका नेतृत्व रूस और अमेरिका कर रहे

है। दोनों ही विश्व को अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों मे बाँट लेने के लिए सचेष्ट है और उन्हे इसमे सफलता भी मिल रही है। वे इस मौके की ताक मे भी है कि विरोधी सिद्धान्त का पृथ्वी से अस्तित्व ही मिट जाय।

शान्ति-स्थापना के लिये भी प्रयत्न हुआ। पिछले महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसघ का निर्माण हुआ था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय तक इसका अन्त हो चुका था। अतः अब सयुक्त राष्ट्र नाम की सस्था स्थापित हुई। आगे इन दोनो सस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाएगा।

———

अध्याय ३७

एशियाई देशों का जागरण—चीन तथा जापान

भूमिका

बहुत समय से हम लोगो ने एशिया के देशों की चर्चा नही की है। हाँ, इनका उल्लेख तो किया गया है किन्तु जहाँ-तहाँ, छिट-फुट, स्वतन्त्र रूप से नहीं। इसके कई
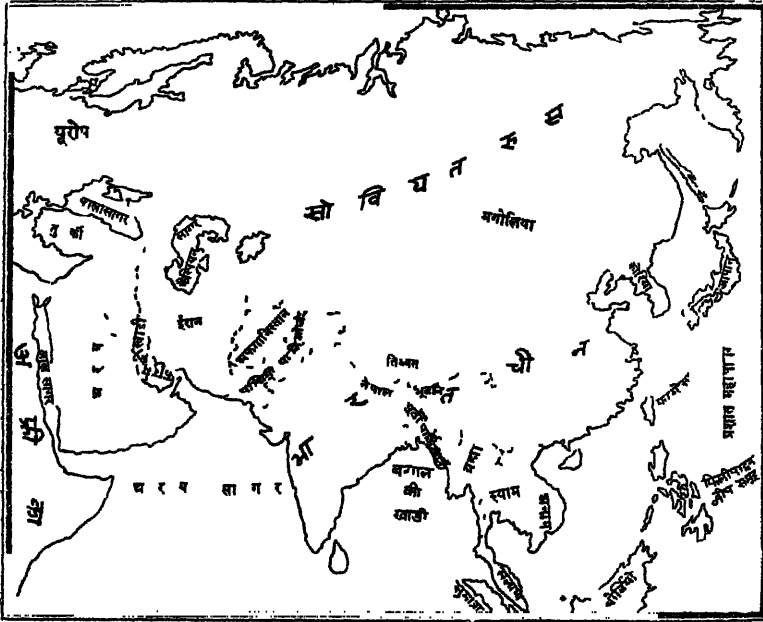
चित्र २२—आधुनिक एशिया का मानचित्र

कारण हैं। आधुनिक युग के प्रारम्भ में इन देशों की दशा शोचनीय थी। इनका प्राचीन गौरव जाता रहा था और ये पाश्चात्य साम्राज्यवाद के बुरे शिकार हो गए थे। इन देशों में शोषण, अत्याचार तथा अन्याय का राज्य था। कमाने वाला और कोई था और खाने वाला कोई दूसरा। ये परतन्त्रता की बेड़ी मे जकड़ गए थे। एशियावासियों के मुख बन्द थे और वे पिंजड़े में चिड़ियों की भाँति सीमित थे। उनका जीवन दुखदर्द की कहानी था। आर्थर गुइटर बैन ने अपनी एक पुस्तक 'बेटल नट्स' में लिखा है—

जब जीवन दर्द बन जाता है,
उम्मीद मूक हो जाती है।
तो विश्व कहता है 'जाओ',
और कब्र कहती है 'आओ'।

ऐसा मालूम होता था कि कवि का कथन एशियावासियो के साथ सार्थक सिद्ध होगा। परन्तु काल-क्रम से पॉसा पलट गया। एशियावासी भी तो थे मानव, जिनके पूर्वज कभी समस्त ससार के पथप्रदर्शक रह चुके थे। उनके भी दिल था दिल मे अरमान थे, महत्त्वाकाक्षाएँ थी। उनको भावनाओ को कोई कुचल नही सका था, उनकी आत्मा पर कोई अधिकार नही कर सका था। उनमे आशा की किरणे वर्त्तमान थी। वे अपने गौरवमय अतीत की याद करते थे और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का सुन्दर स्वप्न देखते थे। वे अपने पर किये गए अन्याय तथा अत्याचार को समझते थे किन्तु इनका सामना करने के लिए उनमे शक्ति का अभाव था। उनकी जीवनी शक्ति का दमन नही हुआ था। समय पाकर उनकी शक्ति का विकास होने लगा और वे अपनी निद्रा से जाग उठे। सदियो से जो दीपक बुझ गया था वह फिर जल उठा और बड़े वेग से। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उन्हे सुअवसर मिला। स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो ने, जिनकी आड मे मित्र राष्ट्रो ने युद्ध का सफल सचालन किया, एशियावासियो को प्रोत्साहित किया और उनके हृदय मे राष्ट्रीयता के भाव बड़े वेग से सचारित हुए। वे अपनी बेड़ियो को तोड़ने के लिए व्यग्र हो उठे। अनेक माँ के लाल ने शहादत का मुकुट पहना और स्वतन्त्रता देवी को अपने खून की बलि चढ़ाई। कितने नर-पुगवो ने तोप के ताप को भी तुच्छ समझा और गोलियो का भी फूलो की भाँति स्वागत किया। उनके त्याग एव तपस्या प्रतिफलित हुई, उनकी बेड़ियाँ टूट गई। स्वतन्त्र हो वे मानव सभ्यता एव सस्कृति के विकास मे उचित योग देने लगे हैं और विश्व मे स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। इस तरह युद्धोत्तर काल मे दुनिया की राजनीति मे एशिया के महत्त्व मे बहुत वृद्धि हो गई है। इस परिस्थिति से प्रभावित होकर एक कवि ने लिखा है—

'हम वक्त की लगाम को लपके हैं थामने
कोई भी खबरदार, आना न सामने
हम चाहें तो ससार की किस्मत को पलट दें
जालिम घमडियो के तख्तो का ताज उलट दें
चाहें तो हिला दें हम पाताल का तला,
आज एशिया के लोगो का काफिला चला।'

अगले पृष्ठों मे एशियाई देशो के इसी जागरण का उल्लेख किया जायगा। परन्तु इसका उल्लेख करने के पूर्व इसके कारणो पर विचार कर लेना युक्तिसगत होगा।

एशियाई जागरण के कारण

१. प्राकृतिक—जागृति एक प्राकृतिक घटना है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होता है। वैसे ही सभी मनुष्य के सभी दिन एक समान नहीं होते। सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख का होना स्वाभाविक है। जो ऊपर है वह कभी नीचे आ सकता है और जो नीचे है वह कभी ऊपर जा सकता है। यही बात किसी देश या राष्ट्र के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। राष्ट्र मे भी बीमारी होती है, कमजोरी होता है और नींद आती है। किन्तु मनुष्य की अपेक्षा राष्ट्र एक बहुत बडी वस्तु है, अतः उसकी बीमारी, कमजोरी या नीद दीर्घ काल तक और कभी-कभी मनुष्य की कई पीढियो तक कायम रहती है। परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि किसी समय उसकी बीमारी अच्छी होती है, कमजोरी दूर होती है और नींद भी टूट जाती है। प्राचीनकाल मे एशिया मे ही मानव-सभ्यता एव सस्कृति का सूर्य उदय हुआ था और उस समय यूरोप के भू-भाग जगलो से आच्छादित थे और सभ्यता का कहीं नाम-निशान भी नहीं था। धीरे-धीरे एशिया पतनोन्मुख होने लगा और यूरोप मे सभ्यता की प्रकाश-किरण फैली।

२. विज्ञान की उन्नति—विज्ञान की उन्नति के कारण दुनिया छोटी हो गई है। समय और दूरी पहले की अपेक्षा सक्षिप्त हो गए हैं। जो काम पहले वर्षों, महीनो या सप्ताहों मे होता था वही अब क्रमश: महीना, सप्ताहों या कुछ दिनो के अन्दर होने लगा है। अब घटो का काम मिनटो मे होता है। इसका कारण है यातायात के साधनों का उन्नत होना। रेल, जहाज, वायुयान आदि सवारियो के द्वारा विश्व के एक भाग से दूसरे भाग मे जाना सरल हो गया है। तार, बेतार के तार, रेडियो आदि के द्वारा घर बैठे-बैठे सम्पूर्ण विश्व का समाचार मिल जाता है। इन सभी कारणो से मानव-समाज के सम्पर्क मे वृद्धि हो गई है और सम्पर्क मे वृद्धि होने से स्वाभाविक ही विचार विनिमय होने लगता है। विचार-विनिमय से मनुष्य को अपना गुण-अवगुण का बोध होता है और वह अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। यह सर्वविदित है कि मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है।

३. पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार—धीरे-धीरे एशिया के देशों मे पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार होने लगा। शिक्षा-प्रणाली मे पाश्चात्य इतिहास, भूगोल, विज्ञान, दर्शन आदि शास्त्रों को स्थान मिला। अंग्रेजी भाषा का प्रचार हुआ और विदेशी ग्रन्थो का देशी भाषाओं मे अनुवाद होने लगा। इन ग्रन्थो के पठन-पाठन से एशियावासियों को पाश्चात्य जगत की उन्नति का रहस्य मालूम होने लगा और वे तदनुसार अपने देश मे सुधार कर

उन्नति करने के लिए उत्सुक हो उठे। १६वी सदी के पहले भी दुनिया मे कई क्रान्तियों हो चुकी थी। इगलैएड की महान् क्रान्ति, अमेरिका का स्वातन्त्र्य सग्राम, फ्रास की राज्य-क्रान्ति, आयरलैएड का विद्रोह आदि इनके कुछ उदाहरण हैं। पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा एशियावासी इन क्रान्तियों से अवगत हुए और उनमे प्रजातन्त्र का विचार उत्पन्न हुआ। उनके रक्त में गर्मी पैदा हो गई, उनकी नसों मे बड़े वेग से नये उत्साह का सचार हुआ, उनमें एक नई जान आ गई।

पाश्चात्य शिक्षा के साथ इसाई धर्म तथा पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार हुआ। इससे एशियावासियों के साथ सास्कृतिक पुनरुत्थान को प्रोत्साहन मिला। इस सास्कृतिक पुनरुत्थान के आधार पर राजनीतिक जाग्रति हुई।

४. विदेशियो की नीति—एशिया में विदेशियो ने अन्यायपूर्ण शोषण की नीति अपनाई। वे सारे एशिया पर आर्थिक साम्राज्यवाद का जाल बिछाकर एशियावासियो को चूसने लगे। एशिया वाले रात-दिन परिश्रम करते थे—एँडी-चोटी का पसीना एक करते थे किन्तु मौज उड़ाते थे विदेशी। कैसा घोर अन्याय था! इसपर भी यह आशा रहती थी कि एशिया वाले जरा-सा भी विरोध की आवाज न निकाले। आज्ञा-भग का परिणाम होता था प्राणदण्ड। वे हिंसा तथा दमन के द्वारा एशियावासियो का शोषण करते रहना चाहते थे। किन्तु ऐसी स्थिति टिकाऊ और सन्तोषजनक नही होती। पहले तो हिसा से ईर्ष्या, घृणा तथा द्वेष की भावना उत्पन्न होती है। दूसरे, हिसा और दमन के द्वारा कोई भी किसी के दिल पर अधिकार नही कर सकता—उसकी भावनाओं को नहीं कुचल सकता।

साम्राज्यवाद और शोषण की नीति ने एशियावासियों की राष्ट्रीय भावना को भी जागरित किया। उनमे देशभक्ति तथा जातीयता का बड़े वेग से सचार हुआ। जापान में उग्र राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। एशिया की जाग्रति का यह सुन्दर प्रतीक था।

५. रूस-जापान युद्ध—१९०४—५ ई० मे रूस और जापान के बीच युद्ध हुआ। अब तक यूरोप अजेय समझा जाता था। रूस की तुलना मे जापान एक छोटा-सा राज्य था, किन्तु जापान ने रूस को युद्ध मे पराजित कर दिया। एशिया के इतिहास मे यह घटना बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। इससे एशियावासियो मे महान् मनोवैज्ञानिक परिवर्त्तन हुए। जापान की विजय पश्चिम पर पूर्व की विजय समझी जाने लगी और सर्वत्र बड़े उत्साह के साथ उत्सव मनाया गया। यूरोप अजेय है—अब इस धारणा का अन्त हो गया। इस विजय से एशिया के समस्त देशो मे राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिला और सभी विजित राज्य यूरोप की दासता से मुक्त होने का प्रयत्न करने लगे।

६ रूसी क्रान्ति—इसी समय रूसियों ने निरकुश जार के विरुद्ध खुलेआम द्रोहवि

कर दिया। यद्यपि विद्रोह सफल नही हुआ फिर भी जार अपनी जनता को कुछ सुविधाएँ देने के लिए बाध्य हुआ। वह 'ड्यूमा' (राष्ट्रीय सभा) को स्वीकार करने के लिए विवश हुआ। इस विद्रोह का भी एशिया के लोगो पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

७. प्रेसिडेंट विल्सन की घोषणा—महायुद्ध के समय अमेरिका के आदर्शवादी प्रेसिडेंट विल्सन ने यह घोषित किया था कि मित्र राष्ट्र आत्मनिर्णय तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की रक्षा के लिए ही युद्ध कर रहे हैं। इस घोषणा ने दुर्बल, विजित तथा छोटे-छोटे राष्ट्रो मे एक नई जान भर दी और वे अपनी मुक्ति के लिए आशान्वित हो उठे।

(क) चीन

चीनी क्रान्ति

यह पहले ही देखा जा चुका है कि मचू वश के उत्तरकालीन शासन मे अनेक बुराइयाँ प्रचलित थीं। शासक अयोग्य थे। व्यभिचार का बाजार गर्म था। राज कर्मचारियों का नैतिक पतन हो गया था। व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोपरि समझा जाता था। देश मे अराजकता थी। इस स्थिति से विदेशियों ने लाभ उठाया। १६वीं शताब्दी मे चीन मे उन्ही का बोलबाला था। उनकी अन्यायपूर्ण शोषण-नीति ने देश की आर्थिक स्थिति को और भी अधिक बिगाड़ दिया। उन्होने चीनवासियों को जितना बन पडा उतना चूसा। जनता पीड़ित थी, लेकिन उनकी कमाई से विदेशी मौज उडा रहे थे। ऐसी परिस्थिति दीर्घकाल तक नहीं टिक सकता। किसी भी देश के निवासी ऐसे घोर अन्याय तथा स्वार्थ को कब तक सह सकते हैं? कुशासन, निर्धनता तथा विदेशी प्रभाव ने चीनियो की राष्ट्रीय भावना को जागरित किया। उनमे देश-प्रेम तथा जातीयता का तीव्र वेग से सचार हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खडा हुआ। यह आन्दोलन एक ओर मचू राज्यवश के विरुद्ध था और दूसरी ओर विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध। लेकिन प्रारम्भ में विदेशियो के ही विरुद्ध आन्दोलन अधिक सबल रहा। उन्हें देश से निकालने के लिए अनेक गुप्त दल स्थापित हो गए। बॉक्सिग क्लब ऐसा ही एक गुप्त क्रान्तिकारी दल था। इस दल के सदस्य घूँसेबाजी का खूब ही अभ्यास करते थे। इसने विदेशियों के विरुद्ध १८६६ ई० मे एक भयकर विद्रोह किया। यह बॉक्सर विद्रोह कहलाता है। इसमे बहुत से विदेशियो को मौत के घाट उतारा गया। इस विद्रोह की पहले भी चर्चा की जा चुकी है। विद्रोह तो हुआ किन्तु विदेशियो ने इसे बड़ी ही क्रूरता के साथ कुचल डाला और अपनी स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक मजबूत कर लिया।

लेकिन बॉक्सर विद्रोह की असफलता से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इसका कोई परिणाम नही हुआ। इससे चीनियों को अप्रत्यक्ष रूप से लाभ पहुँचा। इसने उनकी आँखें खोल दीं— उनके राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। प्रथम सीनो-जापानी

युद्ध के पश्चात् (१८९५ ई०) चीन मे यूरोपीय ढङ्ग पर सुधार करने के लिए 'तरुण चीन' आन्दोलन छिड़ा था। इस दिशा मे कुछ प्रगति भी हुई थी, किन्तु इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी हुई। राजमाता जूसी ने सुधार का विरोध किया और सम्राट के हाथ से शासन-सूत्र छीन लिया। बॉक्सर विद्रोहियों ने भी सुधार के विरोध मे जूसी का समर्थन किया था। लेकिन अब चीनी लोग समझने लगे कि उन्हे अपनी पुरानी आदतो मे परिवर्त्तन लाना होगा—पाश्चात्य प्रणाली मे भी कुछ अच्छी बाते है जिन्हे ग्रहण करना होगा। यूरोपीय ढङ्ग पर बिना सुधार किए उनके देश का हित सम्भव नहीं है।

१९०४—५ ई० मे रूस और जापान मे युद्ध हुआ। जापान ने पाश्चात्य स्कूल मे शिक्षा पाई थी और तदनुसार अपना सगठन किया था। उसने युद्ध मे रूस को पराजित कर दिया था। इस घटना से भी चीनियों को यह विश्वास हो गया कि उन्हे भी अपने देश मे पाश्चात्य ढङ्ग पर आवश्यक सुधार करना चाहिए।

अब १९०५ ई० से चीन मे पुनरुत्थान-काल शुरू हुआ। जापान की भाँति वहाँ भी उग्रवादी राष्ट्रीयता का विकास प्रारम्भ हुआ। अनेक प्रकार के सुधार हुए। सैकडो विद्यार्थियो को राज्य की ओर से शिक्षा पाने के लिए विदेश भेजा गया। सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए इतिहास, विज्ञान, विदेशी भाषा आदि अनिवार्य कर दिए गए और देश मे पाश्चात्य ढङ्ग के विद्यालय खोले गए। रेलो का निर्माण तथा सेना का पुनर्संगठन हुआ। उद्योग-धन्धो की उन्नति के लिए कल कारखाने खोले गए।

इस प्रकार सुधारो का ताँता बँध गया, किन्तु देश मे कुछ ऐसे नवयुवक भी थे जो इन सुधारों से सन्तुष्ट नहीं थे। उनके विचार से निरकुश राजतन्त्र का नाश कर जनतन्त्र की स्थापना करना आवश्यक था। उनका विश्वास था कि प्रगतिशील जनतन्त्र के द्वारा ही चीन का उद्धार होगा। सनयातसेन (१८६७—१९२५ ई०) नामक एक ईसाई डाक्टर उनका नेता था। वह केंटन का निवासी था। उसने १८९४ ई० मे ही चीन मे नवोत्थान समिति स्थापित की थी। १९११ ई० मे यह समिति कोमिन्तॉग के नाम से प्रसिद्ध हुई। दक्षिणी चीन मे मचू राज्य के विरुद्ध विद्रोह हुआ। शासक ने दूसरे साल गद्दी छोड़ दी और सनयातसेन की प्रधानता मे चीनी जनतन्त्र की स्थापना हुई। नानकिंग मे उसकी राजधानी स्थापित हुई।

जनतन्त्र की कठिनाइयाँ

इस तरह चीन मे क्रान्ति हुई, प्राचीन राजतन्त्र का अन्त हो गया और जनतन्त्र का जन्म हुआ। लेकिन जनतन्त्र का जन्म शुभ मुहूर्त्त मे नहीं हुआ। इसे अनेक कठिनाइयो तथा विपदाओं का सामना करना पडा। प्रतिक्रियावादियो ने इसे उखाड फेंकने मे कोई कोर-कसर उठा नहीं रखा। उत्तरी भाग मचू शासक युआन शिकाई के अधीन था। वह

एक कुशल सैनिक था। उसने जनतत्र की सत्ता अस्वीकार कर दी और दूसरा राज्य स्थापित कर लिया। कर्ज और हथियार के रूप मे उसने विदेशी सहायता ली और इसके द्वारा राष्ट्रवादियो का दमन करने का प्रयत्न किया। इस तरह चीन का राज्य दो भागो मे बँट गया और घरेलू मतभेद तथा आन्तरिक कलह का जोर बढता गया। १९१६ ई० मे चुआन की मृत्यु हो गई लेकिन इससे स्थिति मे कोई सुधार नहीं हुआ। आपसी फूट कायम रही। जनता मे शिक्षा का नितान्त अभाव और शासन मे भ्रष्टाचार का प्रचार था। सर्वत्र सामन्तो का बोलबाला था। इन सभी बुराइयो के अतिरिक्त विदेशिया की स्वार्थ-लोलुपता अपने भीषण रूप मे काम कर रही थी।

जापान के साथ सघर्ष

१९१४ ई० मे महायुद्ध आया। चीन तथा जापान दोनो ही मित्रराष्ट्र की ओर से युद्ध में सम्मिलित हुए। दोनो ही को अपने-अपने लाभ की आशा थी। चीन को आशा थी कि मित्रराष्ट्रों के विजयी होने पर उसके दिन फिर जाएँगे और शोषण बन्द हो जायगा किन्तु उसकी सारी आशा धूल मे मिल गई। जापान ने चीन मे जर्मनी के स्थित सारे भू-भाग पर अधिकार कर लिया। उसने चीन के सामने अपनी २१ माँगे भी उपस्थित की। इन माँगो को स्वीकार करने से सारे चीन मे जापान का प्रभुत्व स्थापित हो जाता। चीनी घबडा उठे। उनमे नई चेतना का उदय हो रहा था। विद्यार्थिया और मजदूरो मे उत्तेजना फैल रही थी। उन्होने विरोध का प्रदर्शन किया और वे जापानी माल का बहिष्कार करने लगे। इस स्थिति पर विचार करने के लिए १९२१ ई० में वाशिंगटन कान्फ्रेंस बुलाई गई। चीनियो के पक्ष मे कुछ निर्णय हुए। मुक्तद्वार की नीति का पुनः समर्थन किया गया। कुछ समय के लिए चीन की रक्षा हो गई। लेकिन जापान की वक्र-दृष्टि दुर्बल पडोसी चीन पर बराबर लगी रही। आर्थिक साधनो और सैनिक स्थिति के कारण वह मचूरिया हडप लेना चाहता था। इसके विषय मे वह रूस की ओर से भी सशकित था। अतः १९३१ ई० मे जापान ने मचूरिया को अधिकृत कर लिया। अब यह मचुको कहा जाने लगा और मचू वश के राजा पुई को यहाँ का कठपुतली सम्राट बना दिया गया।

प्रगति और प्रतिक्रिया

इस बीच चीन मे महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। जनतत्र के जन्मदाता सनयात सेन की १९२५ ई० मे मृत्यु हो गई। वे राष्ट्रीयता, प्रजातत्र और जीविकावाद के पक्के समर्थक थे। कोमिन्तांग का सगठन उन्ही के प्रयास का परिणाम था। यह चीन की राष्ट्रीय पार्टी थी। सनयात सेन ने कम्युनिस्ट पार्टी के साथ भी गठबन्धन कर सयुक्त मोर्चा स्थापित किया था। कोमिन्तांग पार्टी के सदस्यो ने सनयात सेन के सिद्धान्तो का पालन किया। ३ वर्षों तक उनका प्रभाव बना रहा और उन्हें अद्भुत सफलता मिली। सनयात सेन के मरने के

बाद चॉग काई शेक देश के नेता बने। ये समाजवाद के विरोधी थे और इन्होने रूस के साथ चीन का सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। कोमिन्तॉग और कम्युनिस्ट पार्टी का गठबन्धन भी टूट गया। चॉग साम्राज्यवादियो का पक्ष करते थे। वे जी-जान से कम्युनिस्टो के पीछे पड गए और उनकी खबर लेने लगे। कोमिन्तॉग पार्टी मे नरम पथियो और उग्रपन्थियो मे फूट पड गई। चॉग नरम पथियो का नेतृत्व कर रहे थे। यहाँ इन्ही की प्रधानता थी। इस तरह देश मे गृह युद्ध शुरू हो गया। कम्युनिस्टो को झुकना पडा और चॉग की विजय हुई। १९३७ ई० तक चॉग के अधीन कोमिन्तॉग पार्टी की तूती बोलती रही। १९२८ ई० मे इन्होने उत्तरी सरकार का अन्त कर चीन मे राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की। नानकिग मे इनकी राजधानी कायम हुई। सभी राष्ट्रो ने इस सरकार को स्वीकार कर लिया।

चित्र २३—चॉगकाई शेक

१९१९ से १९३१ तक आन्तरिक कलह चीन के इतिहास की विशेषता है। फिर भी इस काल मे चीन पतनोन्मुख नही था। दो दिशाओं मे अद्भुत प्रगति हुई। चीनियों की राष्ट्रीय भावना सबल हो गई। विदेशियों के विरुद्ध प्रदर्शन, हड़ताल तथा विद्रोह हुए। अँग्रेजी माल का बहिष्कार हुआ। विद्रोहियो तथा हड़तालियो पर कही-कहीं गोलियाँ चली। किन्तु गोलीकाण्ड ने अग्नि मे घी का काम किया और राष्ट्रीय भावना और भी उत्तेजित हो उठी। चीन के अधिकाश भाग पर राष्ट्रवादियो का आधिपत्य हो गया और शघाई तथा नानकिंग भी उनके अधिकार मे आ गए। अन्त मे उन्होने चॉग के अधीन राष्ट्रीय सरकार भी स्थापित कर ली। उन्होने शिक्षा के क्षेत्र मे भो उन्नति की। डा० हूशीह के प्रयत्न से लिपि में सुधार हुए और व्यापक रूप से नयी लिपि का प्रयोग होने लगा। लोगों को साक्षर बनाने के लिए आन्दोलन किया गया। सीखने वालो के लिए नए ढग से किताबें लिखी गई। विदेशी भाषाओं मे लिखे गए वैज्ञानिक, दार्शनिक आदि ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। राजनीतिक क्षेत्र मे भी सुधार हुए और नए-नए विभाग खोले गए। कानून तथा न्यायालय के क्षेत्र मे परिवर्त्तन हुए। इस तरह विभिन्न सुधारों के द्वारा देश का पुनर्संगठन करने का प्रयत्न हुआ, परन्तु देश की सन्तोषजनक प्रगति नहीं हुई। चॉग की नीति के कारण राष्ट्रवादियों तथा कम्युनिस्टों के बीच गृहयुद्ध का श्रीगणेश हो

ही चुका था। १९२८ से १९३६ ई० तक यह चलता रहा। देश के उद्योग-धन्धा का समुचित विकास नहीं हुआ। राष्ट्रीय पूँजी का अभाव था और सारे देश पर विदेशी आर्थिक जाल बिछा हुआ था। श्रमिको को उचित वेतन और भर पेट भोजन नही मिलता था। कृषि की अवनति थी जिससे किसानो की दशा बिगडती जाती थी।

चीन १९३१—४५ ई०

अभी कहा गया है कि १९३१ ई० मे जापान ने मचूरिया हडप लिया। चीन ने राष्ट्रसघ से सहायता माँगी। राष्ट्रसघ जापान की निंदा करने के अतिरिक्त कुछ न कर सका। जापान ने राष्ट्रसघ की सदस्यता को ही ठुकरा डाला। इसके पाँच वर्ष बाद युद्ध घोषित किए बिना ही उसने चीन पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रीय सरकार ने देश की रक्षा के लिए पूरी कोशिश की। जापानियो का सामना करने के लिए कम्युनिस्टों के साथ पुराना गठबधन पुन. स्थापित हो गया। अब गृहयुद्ध स्थगित हो गया। कम्युनिस्टो पर से सभी प्रतिबन्ध हटा लिए गए। इस प्रकार सभी चीनी सधैर्य और वीरतापूर्वक आक्रमण-कारियो का सामना करते रहे। बाद मे यह युद्ध द्वितीय महायुद्ध मे परिणत हो गया। इसी महायुद्ध मे जापान की पराजय हो गई और वह १९४५ ई० के उत्तरार्द्ध मे अलग हो गया।

चीन १९४५—४९ ई०

इस बीच राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टो के बीच फिर मतभेद शुरू हो गया और इनका गठबन्धन पुनः खुल गया। युद्ध-काल मे कम्युनिस्टो की शक्ति बहुत बढ गई थी। युद्ध के बाद भी यह शक्ति बढ़ती रही। दूसरी ओर देश के आर्थिक साधनो पर चाँग और उसके सगे-सम्बन्धियो तथा सहयोगियो का अधिकार बढ़ता जा रहा था। इन सबों का अमेरिका के साथ सम्बन्ध था। अतः इनकी स्वार्थपूर्ण नीति के कारण चीन पर अमेरिका का आर्थिक जाल जोरों से फैलने लगा था। राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों के विकास के लिए रास्ता बन्द होता जा रहा था। सर्वसाधारण की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। माओ से तुग कम्युनिस्टो का प्रधान नेता था। वह अपने सिद्धान्त का सच्चा समर्थक था। उसने पाश्चात्य राजनीतिक विद्वानो की कुछ अमूल्य रचनाओं का गहन अध्ययन किया था। चीन से जापान के हटते ही उसने अधिकाश भू-भागों पर अधिकार कर लिया। रूस ने मचूरिया मे आधिपत्य जमा लिया। गृह-सघर्ष चलता रहा। अत मे राष्ट्रवादियो को पराजय स्वीकार करनी पड़ी और उनके नेता चाँग काई शेक ने फारमूसा मे शरण ली। अब चीन मे लाल तारे का उदय हुआ, कम्युनिस्ट विजयी हुए। नवम्बर १९४९ ई० मे चीनी जनतन्त्र की स्थापना हुई। माओ से तुग इसके सर्वप्रथम अध्यक्ष हुए जिन्हें चेयरमैन की पदवी प्राप्त है।

इस तरह चीन में साम्यवाद की स्थापना हुई। परन्तु यह रूस का प्रतिरूप नहीं है।

माओ से तुग उदारवादी नेता है। उनमे कट्टरता का अभाव है। उसने चीन में साम्यवाद को चीनी जामा पहनाया, रूसी नहीं। वह इस देश की बुराईयो का मूल दो ही बातों मे देखता था—भूमि-प्रणाली तथा पारिवारिक उपासना। उसने इन दोनो प्रथाओं मे परिवर्त्तन किया और चीन दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति करने लगा है।

कम्युनिस्टो की सफलता के कारण

कम्युनिस्टो की विजय और राष्ट्रवादियों की पराजय के कई कारण हैं। कम्युनिस्टो को माओ से तुग जैसा योग्य नेता प्राप्त था। वह प्रतिभाशाली, दूरदर्शी तथा व्यावहारिक पुरुष है। वह खूनी, क्रान्तिकारी या कट्टर सिद्धान्तवादी नहीं है। उसने चीन की विशेष परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए साम्यवाद को कार्यान्वित किया है। दूसरे, उसे सोवियत रूस से सहायता मिलती रही है। तीसरे, चीन के गरीबो तथा किसानों ने उनका साथ दिया क्योकि वे तत्कालीन स्थिति मे परिवर्त्तन चाहते थे। उन्हे जमीन देने की व्यवस्था की गई। छोटे-छोटे उद्योगपतियो तथा पूँजीपतियो ने भी उनका साथ दिया। इस तरह उन्होने राष्ट्रवादियों के विरुद्ध सयुक्त मोर्चा कायम किया। चौथे, उनमें पूरी एकता थी और वे सैन्य-सगठन तथा युद्ध-सचालन मे भी बडे ही दक्ष थे। पॉचवें, राष्ट्रीयता के युग मे चीन में विदेशियों का प्रभाव बढ़ता ही जाता था और राष्ट्रवादी नेता चॉग काई शेक उनके साथ सहानुभूति का ही बर्ताव रखता था। उसके नेतृत्व में साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने की कोई आशा नहा थी। चीनियों के लिए यह असह्य हो रहा था। छठे, चाँग की नीति में एक और भी त्रुटि थी। वह शासन मे किसी प्रकार का सुधार नही करता था और शान्ति-स्थापना के लिए ही विशेष चिन्तित रहता था। लेकिन जनता सुधार चाहती थी। कम्युनिस्टो ने सुधार का कार्यक्रम उपस्थित कर जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया।

चीनी जनतत्र की महत्ता

चीनी जनतत्र की स्थापना एशिया के इतिहास मे एक नवीन तथा गौरवपूर्ण अध्याय है। अब चीन प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे तीव्रगति से उन्नति कर रहा है। पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चगुल से वह मुक्त हो गया है। सदियों से उसकी जो समस्यायें थीं उनका समाधान हो गया है और हो रहा है। अब सर्वसाधारण के दिन फिर गए और उनमे एक नई जान आ गई है। एशिया के कुछ अन्य देशो ने, जहाँ साम्राज्यवाद के कुछ चिह्न रह गए थे, चीन से शिक्षा ग्रहण की और उन्हें इन चिह्नों को निर्मूल करने के लिए विशेष प्रोत्साहन मिला है। किन्तु चीनी जनतंत्र ने पूँजीपतियों तथा साम्राज्यवादियो के सिर मे बहुत दर्द उत्पन्न कर दिया है। विश्व मे रूस के बाद यह दूसरा विशाल साम्यवादी देश है। अतः ब्रिटेन तथा अमेरिका की आँखो मे यह काँटों के जैसा चुभ रहा है। भारत की जनतान्त्रिक सरकार ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता

प्रदान कर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। अन्य देशो को भी भारत का अनुकरण करना चाहिए और अन्त मे वे चीनी जनतत्र को स्वीकार करने के लिए विवश होंगे।

(ख) जापान

भूमिका

जापान का उत्थान तथा पतन आधुनिक इतिहास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण तथा शिक्षाप्रद घटना है। इसके प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास पर दृष्टिपात किया जा चुका है। वहाँ भी अनेक देशों की भाँति राजतन्त्र प्रणाली प्रचलित थी। राजा मिकाडो के नाम से प्रसिद्ध थे और यह पदवी अभी भी कायम है। राजा बहुत ही उच्च दृष्टि से देखा जाता था और ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था। परन्तु वास्तविक सत्ता शोगनो के हाथ में थी। राजा के मत्री शोगन कहलाते थे। वे ही शासन-सूत्र के सचालक थे और राजा उनके हाथो मे कठपुतलो की तरह थे। १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे देश मे कई गृह-युद्ध हुए। सर्वत्र अशान्ति फैलने लगी। अन्त में इगेयासु नाम के एक पुरुष ने शान्ति स्थापित की। वह तोकुगावा वश का था। उसने अपनी योग्यता से अपने देश के गौरव को बढाया। इससे मुग्ध होकर १६०३ ई० मे सम्राट् ने उसे शोगन नियुक्त कर दिया। उसने येदो में अपनी राजधानी स्थापित की और इसे राज-प्रासादों तथा भवनो से खूब ही सजाया। १६१७ ई० में उसकी मृत्यु हुई लेकिन इतने ही समय मे उसने अपने वश की स्थिति सुदृढ़ कर दी। १८६८ ई० तक इसी वश के हाथ मे शासन-शक्ति सुरक्षित रही और यह तोकुगावा वश के प्रभुत्व का काल कहलाता है। इसी वश के दीर्घकालीन शासनकाल में जापान के एकान्त-वास का प्रारम्भ हुआ था और लगभग सवा दो सौ वर्षों के पश्चात् इसका अन्त भी हुआ। इगलैंड ने चीन का दरवाजा खोला तो अमेरिका ने जापान का।

तोकुगावा वश का प्रभुत्व

तोकुगावा वश के शोगनों ने अनेक प्रकार के सुधार किये। उन्होंने सर्वप्रथम अपनी स्थिति मजबूत की। उनकी राजधानी की सजावट सम्राट की राजधानो से बढ़-चढ कर थी। समस्त जापान मे सामन्तवादी शासन-व्यवस्था थी। सम्राट् नाम के लिए शासक था, शोगन सर्वसर्वा थे। शोगन के बाद सामन्तवर्ग का स्थान था और सेना सामन्तो के अधीन थी। सामन्तो या सरदारों को अपने साथ बाल-बच्चे रखने की मनाही थी। उनका परिवार राजधानी में ही रहता था। दुश्मनों से जागीर छीनकर अपने मित्रो को दे दी गयी और विरोधियों के जागीरों के बीच मे अपने समर्थकों को जागीर दे दी जाती थी। इससे विद्रोहात्मक भावना को प्रोत्साहन नहीं मिलता था। सरदारो के आपसी झगड़े को भी

प्रोत्साहित किया जाता था ताकि उनमे सगठन न हो सके। सैनिको पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाता था। जासूसो का एक विभाग खोला गया था। फौजदारी के कानून बहुत ही कठोर थे।

देश मे शान्ति रहने से व्यापार की उन्नति हुई। धन-दौलत की वृद्धि हुई और विद्या, साहित्य तथा कला-कौशल का विकास हुआ। धार्मिक क्षेत्र मे भी सुधार हुए। ईसाई धर्म के प्रचार पर रोक लगा दिया गया और बौद्ध धर्म के प्रचार को प्रोत्साहन मिला।

तोकुगावा वश के शोगना ने विदेशी सम्पर्क को प्रोत्साहित नही किया। इस वश के राज्यकाल के पहले विदेशो से कुछ सम्पर्क हो चला था। यूरोप के कुछ देशो के व्यापारी तथा पादरी जापान में आने-जाने लगे थे। उन्हे शोगनों का सहयोग प्राप्त होता था लेकिन जापान निवासी विदेशियो को सदा शका की दृष्टि से देखते थे। धीरे-धीरे वे उनकी कूटनीति से परिचित होने लगे और उनके कुकृत्यों को सुनने-समझने लगे। उन्हें यूरोप के धार्मिक युद्ध तथा सहस्रों व्यक्तियो के सहार का समाचार मिला। उन्होंने चार्ल्स प्रथम के प्राणदण्ड तथा स्पेनवासियो के द्वारा पेरू और मैक्सिको मे किये गये अत्याचारों के सम्बन्ध मे सुना। इन सभी दुर्घटनाओ से जापानियो को विदेशियो के प्रति घृणा उत्पन्न होने लगी और वे उनसे भयभीत हो गये। अतः उन्होने १६४० ई० मे विदेशियो से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। ईसाई धर्म के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जापान से कोई विदेश और विदेश से कोई जापान आ-जा नहीं सकता था। जापान का द्वार बन्द हो गया। इस प्रकार जापान का एकान्तवास शुरू हुआ जो १८५३ ई० तक कायम रहा।

एकान्तवास का अन्त

जापान का एकान्तवास स्थायी नहीं रह सका। यह ठीक है कि इस युग मे अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार हुए किन्तु सर्वसाधारण की दशा सन्तोषजनक नही थी। समाज मे विषमता थी। भ्रष्टाचार का भी प्राबल्य था। अतः कितने लोगो को एकान्तवास का समय प्रिय तथा लाभदायक नहीं मालूम पड़ा। उनकी दृष्टि मे पहले का ही समय अच्छा था। दूसरे, जापान में उद्योग-धन्धों का विकास हो रहा था और इससे व्यापार को प्रोत्साहन मिलता था परन्तु अन्य देशों से सम्बन्ध-विच्छेद व्यापार की दृष्टि से हानिकारक था। अतः व्यापारी वर्ग जापान के अकेलापन का अन्त चाहते थे। तीसरे, कई देशो के निवासी भी जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध कायम करना चाहते थे। चौथे, आधुनिक युग विज्ञान का युग है। इस युग मे किसी देश के लिये अकेला रहना कठिन ही नहीं असम्भव है, क्योंकि वह कभी भी प्रगति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता।

अत १८५३ ई० जापान के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण साल है। उसी वर्ष उसके एकान्त-वास का अन्त हो गया, उसकी दीर्घकालीन निद्रा भग हो गई। इस सम्बन्ध मे अमेरिका ने सर्वप्रथम कदम उठाया। जापान के निकट तक अमेरिका के जहाज मछली पकडने के लिये आया-जाया करते थे। लेकिन जब जहाज मे कुछ गडबडी होती थी या खाद्य सामग्री की आवश्यकता हो जाती थी तो नाविक अफसर विवश हो अपने जहाजो को जापान के बन्दरगाहो मे या आस-पास लगा देते थे, किन्तु जापानी उन्हे तग किया करते थे। दूसरे, अमेरिका के पश्चिमी भाग का विकास हो रहा था और प्रशान्त महासागर मे उसका स्वार्थ विशेष था। अत अमेरिका के लिये यह अत्यावश्यक था कि वह जापान के बन्दरगाहो को खोलवा दे। इसी उद्देश्य से वहाँ का जहाजी अफसर कमोडोर पेरी १८५३ ई० मे जापान पहुँचा। वह अपने साथ सम्राट के लिए कुछ भेंट का सामान भी लाया था। इस वर्ष कार्य-सिद्धि नहीं हुई। जहाजो को देखकर जापानियों के होश उड़ गये और उनमे हल्ला मच गया। लेकिन जापान से मित्रता करने के लिए अमेरिका तुल गया था। दूसरे साल पेरी जगी जहाजो के साथ फिर जापान पहुँचा। जापान के अधिकारी अमेरिका से सन्धि करने के लिए बाध्य हुए। उन्होने दो बन्दरगाहों को अमेरिकी व्यापार के लिए खोल दिया। यह देखकर यूरोप के अन्य राज्यो ने भी जापान मे प्रवेश करने के लिए प्रयत्न किया। अगले कुछ वर्षों मे सभी बन्दरगाह विदशी व्यापार के लिए खोल दिये गये। विदेशो मे आने-जाने के लिए जापानियो को भी सुविधा प्रदान की गई और इससे लाभ उठाने के लिए वे प्रयत्न करने लगे।

विदेशी सम्पर्क का प्रभाव

अब यह देखना चाहिये कि विदेशी सम्पर्क का जापान की गृह-नीति पर क्या प्रभाव पड़ा?

जापान की गृह-नीति पर विदेशी सम्पर्क का व्यापक प्रभाव पड़ा। इससे शोगन की दीर्घकालीन प्रभुता का अन्त हो गया। १२वीं शताब्दी मे मिकाडो नाममात्र का ही शासक था, वास्तविक शक्ति तो शोगनों के हाथ मे केन्द्रित थी। परन्तु मिकाडो का स्थान सर्वोच्च था और वह प्रजा का प्रिय पात्र था। विदेशियों से सन्धि तथा सम्पर्क स्थापित करने के लिए शोगन को उत्तरदायी ठहराया गया। इससे उसमे लोगो की श्रद्धा कम हो गई और राजा के पक्ष मे लोकमत सगठित हो गया और सम्राट की शक्ति सुदृढ हो गई।

१८५४ ई० के पश्चात् जापान में दो दल स्थापित हो गये—एक शोगन के पक्ष में और दूसरा राजा के। राज-पक्ष वाले ने विदेशी सम्पर्क का समर्थन नहीं किया और वे शोगनों के द्वारा की गई सन्धियों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने जापानी बन्दरगाहों को बन्द कर देने की धमकी दी और कई जगहों में विदेशियों को मौत

के घाट भी उतार दिया। पश्चिम वाले भला इस धमकी से क्योकर डरते। उन्होंने अपने जगी जहाजों को भेजकर गोला-बारूद के द्वारा जवाब दिया। शिमो नोसेकी की खाडी मे गोलियाँ बर्साई गई। मीकाडो और उसके मित्रो ने हार मान ली और उन सन्धियो को स्वीकार कर लिया जिन्हे शोगन ने विदेशियो से की थी।

१८६७ ई० मे जापान मे एक अमर घटना हुई। इस वर्ष वहाँ क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ। एक नया सम्राट सिंहासन पर आरूढ हुआ। इसका नाम मुत्सुहितो था। वह अभी नाबालिग था किन्तु बहुत ही योग्य तथा दूरदर्शी था। जापान के प्रथम राजवश मे उसका स्थान १२२वाँ था। उसने ४५ वर्षों (१८६७—१९१२) तक शासन किया। वह अपने देश मे पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार का समर्थक था, साथ ही शोगनत्व का अन्त कर मीकाडो का प्राचीन स्थान भी प्राप्त करना चाहता था। अत· उसने अन्तिम शोगन को पदत्याग करने के लिये बाध्य किया और उसके हाथ मे शासन का केन्द्रीयकरण हो गया। इस तरह जापान मे एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। इस युग को जापान के इतिहास का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

आन्तरिक प्रगति

विभिन्न क्षेत्रों मे सुधार

अब जापान का नव निर्माण शुरू हुआ। उसने तीव्र गति से अपनी प्रगति की। उसकी प्रगति का आधार-स्तम्भ था पाश्चात्य सभ्यता। पश्चिमी प्रणाली के ढग पर ही उसने अपना सगठन किया। जागीरदारी प्रथा का अन्त हो गया और सामन्तो ने अपने सारे अधिकारो को परित्याग कर दिया। अब उसके प्रदेशो पर राज्य का अधिकार स्थापित हो गया। किसान सामन्ती करो से मुक्त हो गये। बहुत से सामन्तो को क्षतिपूर्त्ति के लिए रकम दी गई। भूमि की माप कराई गई और भूमि-कर की व्यवस्था की गई। जागीरदारी प्रथा के नाश से सैनिक सगठन करना आवश्यक हो गया। अब तक समुराई वर्ग के हाथ मे सैनिक सेवा का कार्य सीमित था। यह वर्ग भारत के क्षत्रिय वर्ग के समान था। सैनिकों को वेतन के बदले जागीर मिलती थी किन्तु अब सैन्य सेवा का एकाधिकार एक वर्ग के हाथ मे नही रहा। अनिवार्य सैन्य सेवा का नियम बना और एक राष्ट्रीय सेना का निर्माण हुआ। जर्मनी के आधार पर स्थल सेना का और इगलैण्ड के आधार पर नौ सेना का सगठन हुआ। जहाज-निर्माण के लिए एक कम्पनी स्थापित हुई। तार, डाक तथा रेलवे की व्यवस्था की गई। रेल-निर्माण का कार्य पहले तो सरकार के ही हाथ में था लेकिन कुछ दिनो के बाद गैरसरकारी कम्पनियाँ इस तरह के कार्य को अपने हाथ में लेने लगी। यातायात के उन्नत साधनों द्वारा व्यापार तथा राष्ट्रीयता के विकास को प्रोत्साहन मिला। बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों को चलाने का प्रयत्न हुआ। कल-कारखानों की वृद्धि हुई

और भाप की शक्ति का उपयोग होने लगा। कपड़े, कागज, दियासलाई, सीमेंट आदि के व्यवसायो को विशेष प्रोत्साहन मिला। मुद्रा का प्रचार हुआ और राष्ट्रीय बैंको की स्थापना हुई। इस तरह अल्प काल मे ही जापान औद्योगीकरण के मार्ग पर अग्रसर हुआ और उसकी तीव्र प्रगति का यही रहस्य है।

शिक्षा के क्षेत्र मे आमूल परिवर्त्तन हुए। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहित किया गया। फ्रास, जर्मनी और अमेरिका की पद्धतियो का अनुकरण हुआ। प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। अंग्रेजी भाषा का प्रचार हुआ। अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए। जापान के विद्यार्थी शिक्षा-प्राप्ति के लिए विदेशो मे भी भेजे जाने लगे। ग्रीगरी के तिथि पत्र का भी उपयोग होने लगा। सूट-बूट, कोट, पेन्ट का प्रचलन हुआ। धर्म सम्बन्धी सुधार भी हुए। सबको धार्मिक स्वतन्त्रता मिल गई। अब शिन्टो धर्म राजधर्म नही रह गया और ईसाई धर्म के ऊपर से प्रतिबन्ध हटा लिया गया।

राजनीतिक क्षेत्र मे भी महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। इस दिशा मे जापान पर फ्रास का अधिक प्रभाव पडा था। फ्रासीसी विधान के आधार पर १८८६ ई० मे एक जापानी सविधान का निर्माण हुआ। सम्राट को सर्वोच्च सत्ता का प्रतीक माना गया। राज्य का वही प्रधान रहा। अतः शासन, सेवा, युद्ध, सन्धि आदि सब पर उसी का अधिकार रहा, उसी की स्वीकृति से कोई नियुक्ति हो सकती थी या कोई कानून पास हो सकता था। उसकी सहायता के लिए दो सस्थाएँ थी—मन्त्रि-मडल और प्रीवी कौसिल। सम्राट ही अपने मन्त्रियो को नियुक्त करता था और मन्त्रीगण उसी के प्रति उत्तरदायी थे। दो धारा सभाएँ स्थापित की गई—हाउस आफ पीयर्स और हाउस आफ रिप्रेजेंटेटिव्ज। पहली बड़ी तथा दूसरी छोटी सभा थी। मत देने तथा सभा का सदस्य होने के लिए कुछ आर्थिक योग्यता निश्चित की गई। अत. धारा सभाओ मे सर्वसाधारण का कोई प्रतिनिधित्व नही था। प्रथम महायुद्ध के बाद आर्थिक योग्यता हटा दी गई और सभी को बालिग मताधिकार दे दिया गया। फ्रास तथा जर्मनी के आधार पर न्याय-विभाग मे भी सुधार हुए। नागरिक तथा फौजदारी कानून सम्बन्धी नये ग्रन्थ तैयार हुए और जूरी प्रथा का प्रचलन हुआ। अब जापान ने अपने कानूनो को सब पर समान रूप से लागू करना चाहा। विदेशी पूर्वी कानूनो को बडा कठोर और बुरा समझते थे और इस बहाने वे अपने को इन कानूनो से बरी रखते थे। किन्तु जापान मे अब इस बहाने के लिए कोई स्थान न रहा। जापान ने विषम स्थिति का अन्त कर देने के लिए विदेशी शक्तियो से अनुरोध किया। पहले तो वे आना-कानी करने लगे परन्तु इससे तो काम चलने को था नहीं, उन्हें जापान के अनुरोध को स्वीकार करना पडा। सर्वप्रथम मेक्सिको के साथ सन्धि हुई और उसके बाद ब्रिटेन

तथा अमेरिका के साथ। इस तरह १९वीं सदी के अन्त तक जापान मे विदेशियो के विशेषाधिकार का बहुत कुछ अन्त हो गया। यह जापान की बहुत बड़ी सफलता थी।

जाग्रत जापान का महत्त्व

इस तरह जापान ने पश्चिम के आधार पर अपना सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सगठन किया। गृहनीति की भाँति उसकी परराष्ट्रनीति पर भी पश्चिम का प्रभाव पड़ा। उसने पाश्चात्य जगत की कूटनीति तथा साम्राज्यवाद को भी ग्रहण किया जिसका उल्लेख अगले पृष्ठो मे किया जायगा। इस प्रकार बड़ ही द्रुतवेग से जापान ने पश्चिमी जामा को धारण किया और बहुत ही कम समय म अपनी उन्नति से सारे ससार को चकित कर दिया। उसके उत्थान को देखकर एशियावासी ही नहीं, सारे ससार के लोग दग रह गये। वह यूरोप का शिष्य था किन्तु प्रगति की दौड मे वह उससे भी आगे निकल गया और उसने अपने गुरु को भी पछाडने मे तनिक सकोच नहीं किया। एशिया के सम्मुख जापान ने एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया। दुनिया की कहानी मे जापान का यह जागरण एक अद्भुत घटना है, एशिया के इतिहास मे यह एक महान् अध्याय है।

जापान के पाश्चिमीकरण की सफलता के कारण

अब यह जानने की उत्सुकता होती है कि जापान ने पाश्चात्य सभ्यता को इतनी जल्दी से क्यो अपना लिया और उसके पडोसी देश चीन मे इसकी क्यो उपेक्षा की गई? इसका कारण स्पष्ट है। चीन की सभ्यता अति प्राचीन थी और इसके निवासियो को उस पर गर्व था। वे पाश्चात्य सभ्यता को तुच्छ समझते थे। अत. उससे कुछ ग्रहण करना नही चाहते थे। इसके विपरीत जापान की सभ्यता नई थी और उस पर पश्चिमीकरण का रग चढ़ना आसान था। दूसरे, मन्चू वश के उत्तर-कालीन शासन मे अव्यवस्था का साम्राज्य था और इससे यूरोपियनो ने पर्याप्त लाभ उठाया, जैसे भारतवर्ष में उत्तरकालीन मुगलों के शासन मे अंग्रेजो ने लाभ उठाया था। जापान मे ऐसी विषम स्थिति नहीं उत्पन्न हुई थी। तीसरे, चीन के शासन के प्रारम्भ में पादरियों तथा व्यापारियो को प्रोत्साहित किया गया था किन्तु जापान के अधिकारियों ने उन्हें इस तरह का अवसर भी प्रदान नही किया।

सक्रिय विदेशी नीति तथा साम्राज्यवाद

कारण

जापान मे उग्र राष्ट्रीयता का विकास हुआ और यह पश्चिमीकरण का ही एक अग था। उग्र राष्ट्रीयता ने सैन्यवाद को जन्म दिया और सैन्यवाद से साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिला। जापानी साम्राज्यवाद का कुछ पहले भी उल्लेख हो चुका है किन्तु यहाँ इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है।

शोगन के समय जापान ने विदेशिया से अपमानजनक सन्धि की थी। जापान उनमें आवश्यक परिवर्त्तन लाने के लिए उत्सुक था और इस उद्देश्य से उसने प्रमुख राष्ट्रों से अनुरोध किया, किन्तु किसो ने उसकी सहायता नहीं की। इससे उसकी राष्ट्रीय भावना को बहुत चोट पहुँची और उसे यह अनुभव हुआ कि दुनिया मे दुर्बलता भयकर पाप है और शक्ति ही अधिकार का स्रोत है। इसके अतिरिक्त जापान का औद्योगीकरण हो चुका था और उसे भी कच्चे माल तथा नये बाजारो की आवश्यकता थी। उसकी जनसख्या मे भी निरतर वृद्धि हो रही थी और बढ़ती हुई आबादी के लिए निवास तथा भोजन की समस्या उत्पन्न हो रही थी। इस समस्या का समाधान होना भी आवश्यक था। अतः जापान ने सक्रिय परराष्ट्र नीति अपनायी और सर्वप्रथम अपने पडोसी राज्य चीन मे इसका प्रयोग किया।

चीन जापानी युद्ध १८६४ ई०

कोरिया का एक छोटा सा भू-भाग भौगोलिक दृष्टि से बडा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। चीन, जापान तथा रूस तीनों की लोलुप दृष्टि उस पर लगी रही है। वर्त्तमान काल में भी यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा बना हुआ है। पाश्चात्य देश इसे साम्यवादी रूस तथा चीन के विरुद्ध मोर्चा का आधार बनाना चाहते हैं। यह पहले चीन के अधिकार मे था किन्तु १८७२ ई० मे जापान ने इस पर आक्रमण कर दिया। चीन मे सघर्ष छिड गया परन्तु घनघोर युद्ध नही हुआ। कोरिया जापान से सन्धि के लिए बाध्य हुआ और १८७६ ई० से जापान वहाँ प्रभव बढाने लगा। जीवित रहने के लिए जापान कोरिया पर अधिकार करना आवश्यक समझता था, लेकिन चीन के लिए यह असह्य था। अतः कोरिया ही को लेकर १८६४-६५ ई०मे भीषण युद्ध छिड़ गया। चीन पराजित हुआ। चीन से जापान को एक बडी रकम क्षतिपूर्ति के रूप मे मिली और पोर्ट आर्थर, लिआयोतुङ्ग, फारमुसा द्वीप प्राप्त हुए। इस विजय से जापान की प्रतिष्ठा एव महत्ता मे वृद्धि हुई। वह यूरोप की असमान सन्धियों से मुक्त हो गया और उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

रूसी-जापानी युद्ध १६०४ ई०

अब जापान का रूस के साथ युद्ध अनिवार्य हो गया। जापान की उन्नति रूस को सह्य नहीं थी। वह रूस के मार्ग मे काँटा था। उसने फ्रास तथा जर्मनो की सहायता से पोर्ट आर्थर तथा लिआयोतुङ्ग त्याग देने के लिए जापान को विवश कर दिया। लेकिन रूस स्वय मचूरिया से हटना नही चाहता था और कोरिया पर भी अपना दाँत गडाये हुए था। जापान ने इगलैण्ड के साथ एक रक्षात्मक सन्धि कर ली। उसने रूस के साथ भी सन्धि करना चाहा किन्तु रूस कोरिया मे जापान के प्रभाव-क्षेत्र को मानने के लिए कदापि तैयार नही था। इसका बुरा परिणाम हुआ। रूस को अपनी शक्ति का गर्व था। जापान

आत्मसात करने के लिए व्यग्र था। सुअवसर पाकर जापान ने १९३१ ई० में मंचूरिया को हड़प लिया। यह उसके साम्राज्य का अंग बन गया और अब मंचूको कहलाने लगा। यहाँ की गद्दी पर मंचू शासक पुई को बैठाया गया जिसे चीन से १९१२ ई० में निकाल दिया गया था।

राष्ट्रसंघ ने इसकी जाँच के लिए एक कमीशन नियुक्त किया। जापान ने संघ को अँगूठा दिखा दिया और त्याग-पत्र दे डाला। उसने चीन के कुछ और भू-भागों पर आधिपत्य जमाया। ये सब घटनाएँ १९३१-३४ के बीच हुईं। चीन की राष्ट्रीय सरकार ने जापान का बड़ी मुस्तैदी से सामना किया। किन्तु जापान ने नियमित रूप से घोषणा किये बिना ही चीन के विरुद्ध १९३७ ई० में युद्ध छेड़ दिया। बाद में यह युद्ध द्वितीय महायुद्ध में परिणत हो गया। जापान ने एकान्तवादी राष्ट्र जर्मनी तथा इटली से भी सन्धि कर ली। इस तरह द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय जापान एक सबल राष्ट्र था जिसकी मित्रता के लिए अन्य राष्ट्र लालायित थे। सितम्बर १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ। प्रारम्भ में जापान तटस्थ था किन्तु युद्ध में अमेरिका के प्रवेश करते ही जापान भी कूद पड़ा। उसने धुरी राष्ट्रों का पक्ष लिया और मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। वह दक्षिणी-पूर्वी एशिया पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करना चाहता था। उसने अपने मनोरथ को बहुत अंश में पूरा भी कर लिया। उसने चमत्कारपूर्ण विजय प्राप्त की।

जापान का पतन

युद्ध के उत्तर काल में जापान की स्थिति खराब होने लगी थी। मई १९४५ ई० को जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया। तत्पश्चात् मित्र राष्ट्रों ने जापान के जीते हुए द्वीपों पर अधिकार कर लिया लेकिन जापान अभी भी युद्ध से मुँह मोड़ने के लिए तैयार नहीं था। वह लड़ता ही गया। अगस्त का महीना था। इसी समय अमेरिका ने एक नये शस्त्र का सर्वप्रथम प्रयोग किया। वह शस्त्र है भीषण तथा भयंकर परमाणु बम। दो बमों का प्रयोग हुआ। जिनके द्वारा हिरोशिमा तथा नागासाकी दो नगरों का सर्वनाश हुआ। अब जापान हथियार डाल देने के लिए बाध्य हुआ। इसके सारे साम्राज्य का नाश और इसकी शक्ति का पूर्ण पतन हो गया। जापान का शासन-प्रबन्ध अमेरिकी सेनाध्यक्ष डगलस मैक आर्थर के हाथ में सौंप दिया गया। वहाँ अमेरिकी सेना रहने लगी। १९५१ ई० में अमेरिका ने जापान के साथ सन्धि कर अपने प्रभाव को सुदृढ बना लिया।

———

अध्याय ३८

एशियाई देशों का जागरण—ईरान तथा अफगानिस्तान

(क) ईरान

क्रान्ति का सूत्रपात

यह पहले ही कहा जा चुका है कि १७६४ ई० मे ईरान मे काजर राजवश को स्थापना हुई जिसने १६२५ ई० तक राज्य किया। इसी वश के समय मे ईरान बृटिश तथा रूसी साम्राज्यवाद का अखाडा बन गया। दोनो ही उस पर अपना दाँत लगाये हुए थे। २०वी शती के प्रारम्भ मे मिट्टी के तेल की खानें मिलीं। अब ब्रिटेन तथा रूस के बीच प्रतिद्वन्द्विता और अधिक बढी। तेल की खानों मे कार्य करने के लिए एक ऐंग्लो पर्शियन आयल कम्पनी स्थापित हुई। ब्रिटेन और रूस ईरान को दुर्बल बनाने और उसका आर्थिक शोषण करने के लिए सतत् प्रयत्न करने लगे। सम्राट भी कमजोर और व्यसनी थे। देश की दशा दयनीय हो रही थी। अतः १६०५ ई० मे एक राष्ट्रीय दल की स्थापना हुई। यह विदेशियो के हस्तक्षेप तथा सम्राट की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाना चाहता था। यह देश मे लोक-सत्तात्मक शासन कायम करना चाहता था। इसी समय रूस और जापान मे युद्ध हुआ जिसमे जापान विजयी हुआ। इस घटना से राष्ट्रीय दल को बहुत प्रोत्साहन मिला। १६०६ ई० मे एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति हुई। शाह ने बाध्य होकर लोक-सत्तात्मक विधान स्वीकार किया। एक व्यवस्थापिका सभा का निर्माण हुआ -जिसमे १३६ निर्वाचित सदस्य थे। यह 'मजलिस' के नाम से विख्यात है। शासन मे शाह को सहायता देने के लिए एक कैबिनेट का निर्माण हुआ।

शुरू मे तो कुछ ऐसा लगा कि १६०६ ई० की क्रान्ति सफल हो गई किन्तु यह बात नहीं हुई। शाह ने लाचारीवश विधान स्वीकार किया था। अतः वह इसकी उपेक्षा भी करने लगा। मजलिस के साथ उसका सघर्ष हो गया और उसने मजलिस भवन पर बम तक गिरा दिया। ईरान की सेना तथा जनता मजलिस के पक्ष मे थी। शाह मजलिस का अन्त तो करना चाहता ही था, रूस तथा ब्रिटेन भी यही चाहते थे। राष्ट्रवादी मजलिस की सफलता उनके लिए घातक सिद्ध होती। अत. रूसी तथा ब्रिटिश सेना ने शाह की सहायता की। बृटिश सरकार ने हिन्दुस्तान से अपनी सेना ईरान मे भेजी थी। विदेशियो के हस्तक्षेप के कारण मजलिस कुछ न कर सकी। अन्त में अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिये राष्ट्रवादियों ने अमेरिका से सहायता माँगी। १६११ ई० में मोर्गनशुस्तर नाम का

एक योग्य अर्थशास्त्री ईरान आया। लेकिन ब्रिटेन तथा रूस की कुचेष्टाओं के कारण वह भी सफल नहीं हुआ और ईरान छोड़ देने के लिए बाध्य हुआ।

ईरान और प्रथम महायुद्ध

१६१४ ई० में प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ। इस समय तक ईरान की हालत बहुत खराब हो चुकी थी। १६०७ ई० में ब्रिटेन और रूस ने इसे अपने अपने प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट लिया था। उत्तरी भाग रूसियों और दक्षिणी भाग अंगरेजों के अधिकार में थे। वे इसे अपने साम्राज्य के गर्भ में ले लेने के लिए प्रयत्नशील थे। किन्तु महायुद्ध ने इसकी स्वतन्त्रता बचा ली। युद्ध में ईरान ने अपनी तटस्थता घोषित की। लेकिन वह तो एक दुर्बल राज्य था। अत. किसी ने उसकी तटस्थता की नीति का सम्मान नहीं किया। उसकी भूमि पर विदेशी सेनाएँ युद्ध कर रही थीं और फारस चुप था। जब १६१७ ई० में रूस में क्रान्ति हुई तो रूसी सेनाएँ फारस से हट गयीं। किन्तु अंगरेजों ने उत्तरी भाग पर भी अधिकार कर लिया और फारस को अपने साम्राज्य का अंग बना लेना चाहा। लेकिन रूस में बोलशेविक सरकार की स्थापना तथा तुर्की में कमालपाशा की सफलता के कारण इंगलैंड का मनोरथ पूरा नहीं हो सका। दोनों ही ईरान के मामले में हस्तक्षेप करना नहीं चाहते थे। रूस ने तो फारस की बहुत बड़ी सहायता भी की। उसने फारस-स्थित अपने सभी स्वार्थों को तिलांजलि दे दी। फारस में रूस का जो कुछ था सो फारस को मिल गया। १६२० ई० में परशिया राष्ट्रसंघ का सदस्य भी हो गया। दूसरे ही साल ब्रिटिश सेना फारस छोड़ देने के लिए विवश हुई और कितने ब्रिटिश अफसर भी देश से निकाल दिये गये।

रजाशाह पहलवी (१६२५—४१ ई०)

ईरान के राष्ट्रवादियों को बोलशेविक रूस और प्रजातन्त्रात्मक तुर्की का समर्थन क्या था मानो डूबते हुए को तिनके का सहारा मिल गया। इसी समय रजा खाँ नामक एक सैनिक अफसर ईरान के रंगमंच पर उपस्थित हुआ जिसने एक जादूगर की भाँति अपने देश के लोगों को प्रभावित किया। उसने सेना में अपनी धाक जमायी और इसका पुनर्संगठन किया। वह बड़ा ही योग्य व्यक्ति था और उसमें देशभक्ति की भावना जागरित हो उठी थी। वह शीघ्र ही १६२३ ई० में ईरान का प्रधान मन्त्री हो गया और १६२५ ई० में मजलिस ने उसे शाह के पद पर बैठा दिया। उसने अपना सम्बन्ध ईरान के प्राचीन राजवंश (पहलवों) से स्थापित किया और स्वयं रजाशाह पहलवी के नाम से विख्यात हुआ।

सुधार की प्रगति

रजाशाह उदारवादी शासक था। उसके शासनकाल में राष्ट्रीयता की विशेष प्रगति हुई। अनेक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। उसने तुर्की के कमालपाशा की भाँति ईरान

को आधुनिक देश बनाने का भरपूर प्रयत्न किया। उसने लोक-सत्तात्मक प्रणाली की नीव दृढ की और अपने यहाँ से विदेशियो को भगाने की चेष्टा की।

पाश्चात्य ढग पर सैनिक सगठन की व्यवस्था हुई। यातायात के साधन उन्नत किये गये। रेला का निर्माण हुआ, उद्योग-धन्धा का विकास हुआ, कल-कारखाने खोले जाने लगे। एक राष्ट्रीय वैक की स्थापना हुई और बजट के घाटा को क्रमश. पूरा कर लिया गया। हवाई अड्डे बने और फारस की खाडी से होकर करॉची तथा भारत के लिए हवाई जहाजी उडने लगे। फारस की खाडी मे जहाज आने लगे। राष्ट्रीय सरकार ने विदेशी व्यापार पर अधिकार किया और फारस मे विदेशियो के लिए कृषि के हेतु जमीन खरीदना रोक दिया गया। इन्डो-यूरोपियन कम्पनी के हाथ से तार छीन लिया गया। तेल के क्षेत्र मे भ सरकार ने कम्पनी से विशेष सुविधा प्राप्त करनी चाही अत. १६३३ ई० मे एक नयी सुलह हुई जो फारस सरकार के लिए अधिक लाभदायक थी। १६३५ ई० मे फारस का नाम ईरान मे परिवर्तित हो गया।

आधुनिक ढग की शिक्षा की व्यवस्था हुई। स्कूल-कालेज खोले गये। स्त्रियो की स्थिति मे सुधार हुआ। उनकी भी शिक्षा का प्रबन्ध हुआ। पर्दा पर प्रतिबध लगा और पाश्चात्य वेष-भूषा को प्रोत्साहित किया गया। शिक्षा के प्रचार के साथ फारसवासियो की अपनी प्राचीन सस्कृति मे अभिरुचि बढी और इस क्षेत्र मे विद्वान् अनुसन्धान का कार्य करने लगे। न्याय प्रणाली मे भी परिवर्त्तन हुआ। फ्रास के आधार पर एक नयी न्याय-व्यवस्था कायम की गई।

द्वितीय महायुद्ध के समय रजाशाह ने अपने देश को तटस्थ रखना चाहा किन्तु इगलैड तथा रूस को यह स्वीकृत नही था। उन्होने ईरान मे हस्तक्षेप किया और उनके कुचक्रो के कारण १६४१ ई० मे रजाशाह गद्दी छोड़ देने के लिये बाध्य हुआ। उसका पुत्र मुहम्मद रजा सिहासनारूढ हुआ। दूसरे महायुद्ध का अन्त होने पर ईरान मे इगलैण्ड और अमेरिका का प्रभाव बढा। परन्तु कुछ समय बाद ईरान की सरकार और ऐंग्लो ईरानियन आयल कम्पनी के बीच मतभेद शुरू हो गया। डॉ० मोसादीक के प्रधान मन्त्रित्व मे मतभेद ने सघर्ष का रूप ग्रहण कर लिया। ईरानी सरकार तैल व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करना चाहती थी। किन्तु अगरेजो को यह बात पसन्द नहीं थी। सरकार और कम्पनी में खुल्लम-खुल्ला लड़ाई छिड़ गई और कम्पनी तेल क्षेत्र को छोडने के लिए बाध्य हुई। कई महीने समझौते की बात चलती रही किन्तु कोई परिणाम नही निकला। अक्टूबर १६५२ ई० मे ईरान ने ब्रिटेन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद करने की भी घोषणा कर दी।

वैदेशिक नीति

वैदेशिक नीति मे ईरान अन्य राज्यों से मित्रता कायम रखना चाहता था। फारसी

सरकार ने ईराक के नये राज्य को स्वीकार किया और वहाँ के राजा फीजल फारस मे भ्रमण करने आये। तुर्की के साथ सीमा सम्बन्धी झगड़े का अन्त कर दिया गया। १९३७ ई० मे अफगानिस्तान, ईराक तथा तुर्की के साथ एक अनाक्रमणात्मक सन्धि हुई और इन चार राष्ट्रो के गुट को पूर्वी गुट कहा जाने लगा।

(ख) अफगानिस्तान

भूमिका

यह देखा जा चुका है कि ईरान की भाँति अफगानिस्तान भी रूस तथा इगलैण्ड के बीच प्रतिद्वन्द्विता का अखाडा बना हुआ था। १९०७ ई० मे इस देश के बारे मे भी दोनो मे समझौता हुआ था। अगरेजो ने वहाँ अपनी प्रभुता स्थापित कर ली थी। इस तरह २०वी शताब्दी के प्रारम्भ तक अफगानिस्तान पर साम्राज्यवाद का जाल बिछ चुका था और वहाँ राजनीतिक चेतना का अभाव था। अमीर की सेना सुसगठित नहीं थी और उसके दरबार मे एक अगरेज प्रतिनिधि रहने लगा था, देश मे अव्यवस्था थी। षड्यन्त्र और रक्तपात की प्रधानता थी। लेकिन वर्त्तमान शताब्दी मे एशिया मे क्रान्ति और सुधार की जो लहर प्रवाहित हुई उससे अफगानिस्तान भी अछूता नहीं बचा।

अमानुल्ला और अफगान-स्वतन्त्रता

१९वी सदी के अन्त मे अबदुर्रहमान (१८८०-१९०१ ई०) अफगानिस्तान के अमीर थे। अफगानों मे भी राष्ट्रीयता की भावना उदित होने लगी थी। अमीर ने अपने देश का नव निर्माण करना चाहा। इस उद्देश्य से उसने सैनिको को सगठित किया। लेकिन शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी। उसके मरने पर हबीबुल्ला (१९०१-१९) अमीर हुए। नये अमीर ने भी सेना को शिक्षित बनाने का प्रयत्न किया। लेकिन वह अगरेजो का पक्षपाती था। अत. १९१९ ई० मे उसकी हत्या कर डाली गई। तत्पश्चात् उसका भाई अमीर बना। किन्तु वह शीघ्र ही पदच्युत कर दिया गया। अब हबीबुल्ला का पुत्र अमानुल्ला गद्दी पर बैठा।

अफगानिस्तान के इतिहास मे अमानुल्ला का शासन (१९१९-२९ ई०) बडा ही महत्त्वपूर्ण है। वह उदारवादी तथा स्वतन्त्र विचार का शासक था। उसमे देश-भक्ति की भावना थी। उसकी पत्नी का भी दृष्टिकोण व्यापक था। वह भी उदारवादी थी। यदि अमीर को अफगानिस्तान का पीटर महान् कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही। पीटर सर्व प्रथम शासक था जिसने १८वी सदी मे रूस को पाश्चात्य सभ्यता का जामा पहनाने का भरपूर प्रयत्न किया। प्रथम महायुद्ध के समय तक अफगानिस्तान मध्यकालीन राज्य के जैसा था। वहाँ अमीर का मनमाना शासन था और विदेशी राष्ट्र साम्राज्यवादी खेल खेल रहे थे। वहाँ न तो कोई विधान था और न लोकसत्ता थी। अमानुल्ला के राज्याभिषेक

के साथ सुधार के युग का प्रादुर्भाव हुआ और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे अफगानिस्तान की ख्याति बढ गई।

या तो अनेक क्षेत्रो मे सुधार हुए, किन्तु जो वैधानिक सुधार हुआ वह विशेष उल्लेखनीय है। १६२३ ई० मे अमीर ने एक विधान स्वीकार किया। यह तुर्की के विधान के आधार पर निर्मित हुआ था। अमीर कार्यकारिणी का प्रधान था और उसके अधिकार अभी भी विस्तृत थे। लेकिन विधान की स्वीकृति ही प्रगति की सूचक थी। एक धारा सभा (कौंसिल ऑफ स्टेट) की व्यवस्था की गई जिसके आधे सदस्य मनोनीत और आधे निर्वाचित थे। इसके बाद अन्य सुधार हुए। शिक्षा मे परिवर्त्तन हुआ, पर्दा प्रथा उठाने की चेष्टा की गई, सडकों का निर्माण हुआ और वाणिज्य-व्यवसाय को प्रोत्साहन मिला। सेनाओं का पुनर्संगठन हुआ और अफगान विद्यार्थी विदेशों में भेजे जाने लगे। १६२६ ई० मे अमीर ने राजा की पदवी धारण की। राज्याभिषेक होते ही अमीर ने भारत पर चढाई करने के लिए अफगानो को प्रोत्साहित किया। इतना ही नही, उसने अगरेजी शासन के विरुद्ध बगावत करने के लिए भारत के मुसलमानो को भी बढावा दिया। ब्रिटिश सरकार अफगानिस्तान से सम्बन्ध करने के लिए बाध्य हुई। इसके द्वारा उसने अफगानिस्तान की पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। इसे स्वतन्त्र विदेशी नीति भी अनुसरण करने का आदेश दे दिया। अमीर ने इस्लामी राष्ट्रो के साथ सद्भावना स्थापित की। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर ईरान तथा तुर्की से मैत्रीपूर्ण सन्धि की। सोवियत रूस से भी ऐसी सन्धि की गई थी। १६२८ ई० मे राजा सपत्नीक यूरोप भ्रमण के लिए चला और वहाँ के सभी प्रमुख देशो की राजधानियो मे गया। उसने तुर्की, ईरान तथा भारत मे भी यात्रा की। इन यात्राओं के द्वारा वह विदेशियो से सम्पर्क और मित्रता स्थापित करना चाहता था। जब वह विदेशो मे सैर कर रहा था उसी समय देश मे उसके विरोधियों को मौका मिला। पिछड़े हुए देश मे तीव्र गति से क्रान्तिकारी सुधार करना खतरे से खाली नहीं रहता। उसके सुधार लोकप्रिय नहीं हुए। कट्टर धर्माधिकारी उससे असन्तुष्ट हो गए थे। अत. उसकी अनुपस्थिति मे विरोधी पक्ष का सगठन हुआ और १६२६ ई० में जब वह लौटा तो उसे गद्दी छोड़ देने के लिए बाध्य होना पडा।

नादिरशाह और मुहम्मद जाहिरशाह

बच्चा सक्का बागियों का नेता था। १६२६ ई० में उसी के हाथ मे शासन-सूत्र आया किन्तु वह दीर्घकाल तक गद्दी पर नहीं रह सका। उसे गद्दी पर नहीं रह सका। उसे गद्दी से उतारकर नादिर खाँ नामक व्यक्ति पदारूढ हुआ। वह अमानुल्ला के ही दल का व्यक्ति था, किन्तु अगरेजों की ओर विशेष झुका हुआ था। गद्दी पर बैठने के बाद उसने शाह की उपाधि ली और ४ वर्षों (१६२६-३३ ई०) तक शासन किया। उसने सुधार

क्रम को जारी रखा। १६३२ ई० मे पुराने विधान मे परिवर्त्तन हुआ और दो धारा सभाएँ—बडी तथा छोटी स्थापित हुई। लेकिन उसके सुधारो मे उग्रवादिता नही थी। १६३३ ई० मे उसका भी बध कर डाला गया और उसका पुत्र मुहम्मद जाहिरशाह सिंहासनारूढ हुआ। इसने भो सुधार की नीति जारी रखी। अपने देश की रक्षा के हेतु इसने तुर्की, ईराक तथा ईरान के साथ मिलकर एक सशक्त सघ स्थापित किया।

अफगानिस्तान और भारत

प्राचीन काल मे अफगानिस्तान का अधिकाश भाग भारत मे ही सम्मिलित था। कदहार भारतीय साम्राज्य का ही अग था और वह गधार के नाम से प्रसिद्ध था। अतः अफगानिस्तान से भारत का पुराना सम्बन्ध रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति से अफगानो मे भी उत्साह का सचार हो गया है। दोनो देशो का पुराना सम्बन्ध पुर्नस्थापित करने का प्रयत्न हो रहा है। भारत का अफगानिस्तान मे और अफगानिस्तान का भारत मे दूतावास स्थापित है और १६४६ ई० मे दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध हुआ।

ईरान, पाकिस्तान तथा रूस मे भी अफगानस्तान के दूतावास स्थापित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे यह शान्ति का समर्थक है। अतः महान् राष्ट्रो के गुट से अलग है।

———

अध्याय ३६

अहिंसा का प्रयोग-स्थल–भारतवर्ष

भूमिका

वर्त्तमान युग उथल-पुथल, चहल-पहल और अस्त-व्यस्त का युग है। सर्वत्र चचलता है और प्रगति का दौड हो रहा है। सारे विश्व मे ही यह नाटक चल रहा है। भारतवर्ष भी विश्व का एक भाग है। अत. यह विश्वव्यापी घटनाओ से कैसे अछूता बच सकता है। अशोक की मृत्यु के बाद से ही भारत की राजनीतिक एकता जाती रही थी। ८वीं शताब्दी मे इस देश पर मुसलमानो का आक्रमण शुरू हो गया और १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे उन्होने यहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया। १६वी शताब्दी के प्रारम्भ मे मुगल आये और दो शताब्दियो तक यहाँ इनकी तूती बोलती रही। १८वीं शताब्दी में भारत की दशा दयनीय थी। इसे कई रोगो ने ग्रस्त कर लिया था। प्रत्येक दिशा में प्रगति रुक गई थी और सर्वत्र अव्यवसाय तथा भ्रष्टाचार का साम्राज्य फैल रहा था। शारीरिक तथा मानसिक दोनो दृष्टिकोणों से भारतीय साम्राज्य निःशक्त हो रहा था। अब मुगलो का सौभाग्य-सूर्य अस्त हो रहा था। यहाँ की भूमि पर फ्रासीसी तथा अँग्रेजी लड़ रहे थे और अपना-अपना प्रमुत्व स्थापित करने के लिए एक दूसरे का क्रूरतापूर्वक सिर तोड रहे थे। अँगरेजो को विजयश्री प्राप्त हुई और उन्होने भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया जो १९४७ ई० तक अक्षुण्ण बना रहा। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि अँगरेजी शासन से भारत की केवल बुराई ही नही हुई, कुछ लाभ भी हुए। यद्यपि भारत राजनीतिक परतन्त्रता की बेडी मे जकड़ा हुआ था तो भी १९वी शताब्दी के प्रारम्भ से इसकी कई दिशाओं मे उन्नति होने लगी। इसे आधुनिक भारतीय पुनरुत्थान का युग कहते हैं। भरतीयो का राजनीतिक जागरण भी इसी पुनरुत्थान का एक अग मात्र है। इस सबका परिणाम यह हुआ कि भारत ने १९४७ ई० मे अँग्रेजा से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। इस स्वतन्त्रता-प्राप्ति का साधन था अहिंसा, जिसके प्रवर्त्तक थे युगपुरुष महात्मा गाधी। दुनिया की राजनीति मे यह एक नया प्रयोग था, नई साधना थी। २०वी शताब्दी मं जैसे रूस साम्यवाद का प्रयोग-स्थल है वैसे ही भारत अहिसा का प्रयोग-स्थल रहा है। अतीत मे बहुत से सन्तों तथा साधुओं ने धार्मिक और नैतिक क्षेत्र मे अहिंसा

का प्रचार किया है, किन्तु सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी ही उसके सर्व प्रथम प्रचारक हैं।

अब इस भारतीय पुनरुत्थान के कारणों तथा विकास पर प्रकाश डाला जायगा।

(क) पुनरुत्थान आन्दोलन

पुनरुत्थान के कारण

(१) **ब्रिटिश साम्राज्यवाद**—अंग्रेजों ने सारे भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर एक सुदृढ केन्द्रीय शासन की स्थापना की। इससे देश में राजनीतिक एकता स्थापित हुई।

(२) **पश्चिम का प्रभाव**—कई साधनों के द्वारा भारत का पाश्चात्य सभ्यता और देशों से सम्पर्क स्थापित हुआ। इस दिशा में डेविड हेयर जैसे शिक्षा-प्रेमियों, कारे जैसे पादरियों और मेकाले जैसे शासकों के प्रयत्न विशेष सराहनीय हैं। देश में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार हुआ, इससे भारतवासियों को यूरोप के इतिहासकारों तथा राजनीतिज्ञों की रचनाओं के पढने का सुअवसर मिला और वे प्रजातन्त्र, सहिष्णुता, राष्ट्रीयता, आत्मनिर्णय आदि सिद्धान्तों से परिचित हुए। अंग्रेजी भाषा का प्रचार हुआ और इसके माध्यम से पढे-लिखे लोगों में विचार-विनिमय होने लगा। विज्ञान ने यातायात के साधनों को उन्नत बनाया और इससे आपस का मिलना-जुलना और सहज हो गया। नेतागण देश-भ्रमण करने लगे और जनता से उनका सम्पर्क होने लगा। इससे राष्ट्रीयता का विकास हुआ।

(३) **विद्वानों और कवियों का प्रभाव**—क्रान्ति या परिवर्त्तन का बीज पहले दिमाग में ही पैदा होता है। इसके लिए विद्वान तथा कवि ही उपयुक्त वातावरण तैयार करते हैं। इस दिशा में भारत तथा यूरोप के विद्वानों का प्रयास स्तुत्य है। यूरोप के विद्वानों में मैक्समूलर सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक आदि के और भारतीय विद्वानों में राजेन्द्र लाल मित्र, महादेव गोविन्द रानाडे, भाण्डारकर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ संस्कृत साहित्य का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुआ और इससे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति में यूरोपियनों की रुचि बढी। इससे भारतवासी अपने प्राचीन गौरव में गर्व अनुभव करने लगे।

(४) **प्रेस का प्रभाव**—लोकमत के निर्माण में प्रेस का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अखबारों में अनेक प्रकार के लेख छपते हैं और उनका व्यापक प्रचार होता है। १९वीं सदी में अमृत बाजार पत्रिका, इंडियन मीरर, बाम्बे समाचार आदि अखबार निकलने लगे

थे जिनसे मानसिक विकास में बड़ा लाभ हुआ। इस क्षेत्र में बंगाल प्रान्त सबसे आगे था। सर्व प्रथम बंगाल ने ही अंग्रेजी शिक्षा का स्वागत किया था।

(५) **देशवासियों में असन्तोष**—उपर्युक्त सभी कारणों से भारतीयों का मानसिक विकास होने लगा था। वे देश की राजनीतिक तथा आर्थिक प्रगति से असन्तुष्ट थे। उन्हें गुलामी तथा शोषण का बुरा अनुभव हो रहा था। भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं था। १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में देश में कल-कारखाने स्थापित होने लगे थे किन्तु भारतीय पूँजीपतियों को पग-पग पर विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता था। देश में बेकारी फैल रही थी। लोगों का नैतिक ह्रास हो रहा था। विदेशी सत्ता होने से शासक और शासित में गहरी खाई थी। प्रवासी भारतीयों के साथ बुरा बर्ताव किया जाता था और दक्षिणी अफ्रीका में उनकी दशा बड़ी ही शोचनीय हो रही थी।

(६) **अन्य देशों का जागरण**—विचारों तथा सिद्धान्तों का प्रभाव बड़ा ही सबल तथा व्यापक होता है। एशिया के कई देशों में जागरण तथा प्रगति के युग का प्रादुर्भाव हो चुका था। जापान ने सामन्तवाद को तिलांजलि देकर वैध राज्यतन्त्र अपनाया और अब दिन दूनी रात चौगुनी उसकी उन्नति होने लगी। यहाँ तक कि १९०४-५ ई० में उसने पश्चिम के रूस जैसे विशाल देश से युद्ध ठान दिया और उसे बुरी तरह पराजित कर दिया। एशियाई देशों में जापान के इस चमत्कारपूर्ण विजय के व्यापक प्रभाव पर हम दृष्टिपात कर चुके हैं। १९०६ ई० में फारस का निरंकुश शाह मजलिस (व्यवस्थापिका सभा) स्वीकार करने के लिए बाध्य हुआ। इसके दो वर्षों के बाद तरुण तुर्कों के प्रयास से तुर्की के स्वेच्छाचारी सुलतान ने भी एक संविधान स्वीकार किया। १९१२ ई० में रूढ़िवादी चीन ने प्रजातन्त्र स्थापित कर लिया। प्रथम महायुद्ध के बाद इस्लामी राज्यों में एक नयी जान आ गई। अरब, फारस, अफगानिस्तान और मिश्र में क्रान्ति तथा सुधार का युग प्रारम्भ हो गया। तुर्की में तो कमालपाशा ने क्रान्तिकारी परिवर्त्तन किया। १९२५ ई० में तुर्की में भी प्रजातन्त्र की स्थापना हुई और आधुनिक ढंग से सुधारों का ताँता लग गया। इन उदाहरणों से भारतवर्ष भी बहुत ही प्रभावित हुआ। भारतवर्ष में भी १९०५ ई० में ही ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध आन्दोलन का श्रीगणेश हो चुका था। अतः भारत का भी अन्य देशों पर प्रभाव पड़ा।

पुनरुत्थान का विकास

उपर्युक्त सभी कारणों से भारत ने करवट बदली—उसकी सदियों की नींद टूटी। उसके जर्जर शरीर में नयी जान आ गई। निश्चेष्ट समाज गतिशील हो उठा। भारतवासी राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत होने लगे। सारे राष्ट्र का कायाकल्प होना शुरू हुआ। देश के नेता परतंत्रता की बेड़ी से मुक्त होने के लिए व्यग्र होने लगे। वे अपने उज्ज्वल

गौरवमय अतीत की ओर देखने लगे और उनके हृदय मे सुन्दर, सुखमय भविष्य के निर्माण करने की महत्त्वाकाक्षा उत्पन्न हुई। अब प्रत्येक दिशा मे सुधार और प्रगति के लक्षण दृष्टिगोचर हुए।

धार्मिक सुधार—१८वीं शताब्दी मे धर्म की दृष्टि से लोग विवेकशून्य तथा रूढि-उपासक वन गये थे। इसके वास्तविक आदर्श को भूल कर वे इसकी आड मे तरह-तरह के पाप किया करते थे। एक तन्त्रवाद का बोलबाला था। ये सभी बातें बगाल मे विशेषत पाई जाती थीं। अत वही प्रान्त सुधार के क्षेत्र मे अग्रगण्य भी रहा। वर्तमान सुधार-आन्दोलन और जागृति के प्रथम प्रवर्त्तक राजा राममोहन राय (१७७४—१८३३ ई०) थे। उन्होंने पाश्चात्य ढग पर हिन्दू धर्म को सुधारने का प्रयत्न किया और ब्रह्म-समाज की स्थापना की। उन्होंने प्रचलित कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए एक ईश्वर की उपासना पर जोर दिया। वे मूर्ति-पूजा, हिंसा, परदा आदि के भी विरोधी थे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशव-चन्द्र सेन भी इस समाज के प्रमुख कर्णधार थे। इन कुशल नेताओ की देख-रेख मे समाज ने सुधार-कार्य मे बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। लेकिन इस पर पाश्चात्य सभ्यता का अधिक प्रभाव था। अत यह लोकप्रिय सस्था नहीं बन सकी।

भारत को तो एक ऐसी सस्था की आवश्यकता थी जो सर्वसाधारण की सहानुभूति प्राप्त कर सके और जो स्वदेशी भावना से सबल हो। इस आवश्यकता की पूर्ति आर्य समाज ने की। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आर्य समाज की स्थापना हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४—८३ ई०) इसके प्रवर्त्तक थे। स्वामी जी ने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन और चिंतन किया और उन्हीं को ज्ञान का भण्डार बतलाया। भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति मे इनकी विशेष अभिरुचि थी और वैदिक अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया गया। इन्होने जाति-पॉति की व्यवस्था, मूर्तिपूजा, बाल-विवाह तथा हिन्दू धर्म की अन्य रूढियो का खण्डन किया। आर्य समाज मे राष्ट्रीयता की भावना भी भरी थी अत· इसे इस्लाम तथा इसाई धर्म से प्रतिद्वन्द्विता भी उठ खड़ी हुई। इस सस्था ने जनता की सहानुभूति प्राप्त की और शिक्षा-प्रचार पर जोर दिया। हिन्दी भाषा के द्वारा ही प्रचार-कार्य होता था। पजाब इस समाज का केन्द्र था किन्तु अन्य प्रान्तो मे भी इसकी शाखाएँ बढ़ने लगी थीं।

धर्म-सुधारको मे रामकृष्ण परमहस (१८३३—१९०२ ई०) का भी नाम उल्लेखनीय है। इन्होने भ्रातृत्व और समाज-सेवा पर बहुत जोर दिया। ससार मे हिन्दू धर्म का गौरव स्थापित करने का श्रेय स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ को है। विवेकानन्द रामकृष्ण परमहस के आदर्श शिष्य थे। इन्होंने अमेरिका मे सर्व-धर्म-सम्मेलन मे भाग लिया और अपने भाषण से श्रोता को मुग्ध कर रखा। अमेरिका में बहुत से व्यक्ति—

स्त्री और पुरुष—स्वामी जी के शिष्य बन गये। इन्होंने रामकृष्ण मिशन नामक सस्था स्थापित की। इस सस्था ने गरीबो की बडी सेवा की है और शिक्षा-प्रचार मे सहयोग दिया है। रामतीर्थ ने राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित किया। वे भारत माता के उपासक थे।

थियोसॉफिकल सोसाइटी ने भी शिक्षा-प्रचार तथा समाज-सुधार के कार्य मे भाग लिया। इसका कार्यालय काशी मे खोला गया। वहा सेन्ट्रल हिन्दू कालेज भी स्थापित हुआ जो इस समय हिन्दू विश्वविद्यालय मे सम्मिलित है।

शिक्षा की प्रगति—अभी देखा जा चुका है कि उपर्युक्त सभी सस्थाओ ने शिक्षा-प्रचार पर जोर दिया। अत. उनके प्रयास से देश मे अनेक स्कूल तथा कालेज खुल गये। ब्रिटिश सरकार ने भी शिक्षा-प्रचार की ओर ध्यान दिया और १८१३ ई० से यह आर्थिक सहायता भी देने लगी थी। लेकिन अधिकाश पढे-लिखे लोग नौकरी के लिए ही लाला-यित रहते थे। फिर भी कुछ थोड़े से लोग ऐसे थे जो विद्वता के लिए अध्ययन करते थे और जिनमे राष्ट्रीयता का भाव भरा था। ऐसे लोग खास कर बगाल प्रान्त मे पाये जाते थे। उनमे कई राष्ट्रीय लेखक निकले जो अपनी लेखनी के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट करने मे प्रयत्नशील थे। 'इसी समय बकिमचन्द्र चटर्जी ने 'आनन्द मठ' नामक उपन्यास लिखा और इसी से भारत का राष्ट्रीय गान 'बन्देमातरम्' प्राप्त किया गया है।

नवीन मध्यम वर्ग का उत्थान—एक नवीन मध्यम वर्ग का उदय हुआ जिसमें वकील, डाक्टर, व्यापारी तथा व्यवसायी सम्मिलित थे। इनमे से अधिकाश लोग ब्रिटिश सत्ता के समर्थक थे और वे 'जी हुजूर' कहने मे ही अपना गर्व समझते थे। किन्तु कुछ ऐसे शिक्षित थे जिनकी महत्त्वाकाक्षा बहुत उच्चकोटि की थी और गुलामी के कारण उसकी पूर्ति के लिए उन्हे सुअवसर नही मिलता था। उनके हृदय मे असन्तोष की अग्नि धधक रही थी और देश की स्वतन्त्रता के लिए चिन्तित थे। इससे राष्ट्रीयता बलवती हो गई और धीरे-धीरे इसने उग्रता ग्रहण कर ली। सर सैयद अहमद खॉ के नेतृत्व मे मुसलमानों मे भी जाग्रति हुई। वे अब तक अंग्रेजी शिक्षा से दूर रहते थे। सर सैयद ने उन्हे अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया और इस उद्देश्य से अलीगढ़ मे एक कालेज की स्थापना कर दी।

राजनीतिक प्रगति—पुनरुत्थान आन्दोलन के साथ-साथ भारतवासियो मे राजनीतिक चेतना का भी उदय हुआ। जो भारत सदियो से सोया था वह जाग उठा। उसने अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए प्रयास करना शुरू किया। इस पर अगले पृष्ठों में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायगा।

(ख) राजनैतिक प्रगति और अहिंसात्मक सग्राम

१८५७ का आन्दोलन

यह पहले ही कहा जा चुका है कि १७५७ और १८५७ ई० के बीच भारत मे अग्रेजी सत्ता स्थापित हो गई। अग्रेजो ने इसके लिए घृणित से घृणित कुकर्म किये थे। प्राचीन परम्परा पर कुठाराघात किया जा रहा था। देश का आर्थिक शोषण हो रहा था और अनेक देशी राज्य तथा राजवश नष्ट कर डाले गये थे। अग्रेजी शिक्षा, इसाई धर्म और विज्ञान के प्रचार से सर्वसाधारण को भय होने लगा कि उन्हे धर्मच्युत करने की कोशिश हो रही है। यह शका सैनिको मे भी फैल गई जब वे विदेशो मे युद्ध करने के लिये भेजे जाने लगे और चर्बी युक्त कारतूसो को दाँत से काटने के लिए बाध्य हुए। इन्ही सभी कारणों से भारतवासी ब्रिटिश शासन से बराबर असन्तुष्ट रहे और प्रारम्भ से ही वे इसके विरुद्ध विद्रोह भी करने लगे थे। सर्वप्रथम मीरकासिम ने अग्रेजी शासन का विरोध किया। सर्वप्रथम मैसूर के हैदरअली और टीपू सुल्तान ने उसके पद-चिह्नो का अनुसरण किया और वे आजीवन अग्रेजो से लडते रहे। इस तरह १८५७ ई० के पहले भी छिट-फुट आन्दोलन होते रहे किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उन्हे दबा डाला। १८५७ ई० के मध्यम मे अग्रेजी शासन के विरुद्ध एक व्यापक आन्दोलन का विस्फोट हो गया। अग्रेजो ने इसे सिपाही विद्रोह या गदर कहकर इसकी महत्ता को ढँकने का प्रयत्न किया, किन्तु वे अपने प्रयास मे विफल रहे। यह तो सगठित भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम का श्रीगणेश था, प्रथम चरण था। इसम हिन्दू तथा मुसलमान दोनो ने भाग लिया। लक्ष्मी बाई, ताँतिया टोपी, कुँवर सिह, बहादुर शाह, अहमद शाह आदि इसके प्रमुख नेता थे। कुछ लोग तो मुगल सम्राट बहादुर शाह को ही गद्दी पर बैठाने के पक्ष मे थे।

सारे उत्तरी भारत मे आन्दोलन फैल गया और अग्रेजी सरकार की स्थिति सकटपूर्ण हो गई। 'मरता क्या नहा करता' वाली कहावत चरितार्थ हुई। अग्रेजो ने हिसा और दमन का सहारा लिया। भारतवासी पशुओं की भाँति मात के घाट उतार डाले गये और कितने नगर तथा ग्राम उजाड़ दिए गये। उत्तरी भारत के रगमच पर पाशविकता और निर्दयता का नग्न नृत्य हुआ। इससे आन्दोलन तो दब गया अवश्य, किन्तु यह निर्मूल नही हुआ। आन्दोलन की जड़ दृढ हो गई, क्रूर दमन ने भारतीयो के हृदय मे ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध असन्तोष और घृणा को स्थायित्व प्रदान कर दिया। आन्दोलन असफल होने के कुछ अन्य कारण भी थे। भारतवासी लकीर के फकीर बने हुए थे और पुराने ढग से अग्रेजो का सामना करने के लिए चेष्टा कर रहे थे। किन्तु अगरेज आधुनिक ढग से काम कर रहे थे और रेल, तार, डाक के प्रचार से उन्हें विशेष सुविधा प्राप्त थी। आन्दोलन भी दक्षिण भारत मे नही फैला और उत्तरी भारत मे ही सीमित रहा। कुशल

नेतृत्व का भी अभाव था। निजाम तथा सिंधिया, सिक्ख तथा गोरखो ने अंग्रेजों की ही सहायता की थी। इस तरह आन्दोलन असफल रहा। किन्तु अब कम्पनी के शासन का भी अन्त हो गया और शासन सूत्र ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ मे चला गया। ब्रिटिश सरकार ने भारत के मामले मे सहयोग की नीति बरती।

१८५८ ई० के बाद भारतीय इतिहास को ४ भागो मे बाँटा जा सकता है—(क) वैधानिकता का युग १८५८—१६०० ई० (ख) उग्रवादिता का युग १६००—१६१६ ई० (ग) गाँधीवाद का युग १६१६—१६४७ ई० (घ) स्वतन्त्रता का युग १६४७ ई० से।

वैधानिकता का युग

१८५७ ई० का आन्दोलन दबा दिया गया, देश मे शान्ति स्थापित हुई। ब्रिटिश पार्लियामेंट ब्रिटिश सम्राट का ओर से भारतवर्ष का शासन-प्रबन्ध करने लगी। इसके लिए लन्दन मे भारत मत्री और भारत मे वायसराय के पदो का निर्माण हुआ और दोनो की सहायता के लिए एक-एक कोंसिल की व्यवस्था की गई। इस युग के नेता नरम विचार के थे और वे अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत ही भारत की उन्नति चाहते थे। इन नेताओं मे सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादा भाई नौरोजी और गोपाल कृष्ण गोखले के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी युग मे लार्ड डफरिन के राज्यकाल मे १८८५ ई० मे इडियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हुआ। प्रारम्भिक अवस्था मे यह 'जी हुजूर' वालो की सभा थी। इसके सदस्य अंग्रेजों के भक्त थे और शासन सम्बन्धी साधारण सुधारो के पक्षपाती थे। इसमे उच्च मध्यम वर्ग के धनी-मानी तथा शिक्षित लोग थे। कुछ उदारवादी अंग्रेज भी इसके सदस्य थे और ह्यूम नामक अंग्रेज तो इसका संस्थापक ही था। इसमे मुसलमान भी शामिल थे। कांग्रेस प्रस्तावो द्वारा अपनी मांगो को प्रकट करती थी और सरकार उनपर विचार करती थी। इसे आशा थी कि ब्रिटिश सरकार सभी माँगो को पूरा करेगी। किन्तु सरकार कुछ छोटे-मोटे सुधारो को करते हुए नेताओं को भुलावे मे डालती रही तथा १८६२ ई० मे ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारत के लिए इडियन कौंसिल एक्ट नामक दो विधान पास किये किन्तु इनके द्वारा भारतीयो को कोई महत्त्वपूर्ण अधिकार नही मिला। बृटिश सरकार वादा करने मे तो बहुत तेज थी किन्तु उसे पूरा करने में बहुत ही मन्द। इससे नेताओं मे दुख एव निराशा की भावना उत्पन्न होने लगी और य सरकार की समालोचना करने लगे, कांग्रेस मे गरमा-गरम बहस होने लगी। यह स्थिति १६०० ई० तक कायम रही।

उग्रवादिता का युग

१८६६ ई० में लार्ड कर्जन भारत का गवर्नर जेनरल तथा वायसराय होकर आये।

उनके समय में कुछ ऐसी घटनाएं हुईं जिनके द्वारा राष्ट्रीयता उत्तेजित हो उठी। इस घटना में बंगाल के विभाजन का मुख्य स्थान था। बंगाल वालों ने विभाजन के प्रयत्न को अपनी संस्कृति के लिए घातक समझा। अतः बंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और इसने सारे देश में उथल पुथल मचा दी। इसी समय स्वदेशी आन्दोलन ने भी जोर पकड़ा और ब्रिटिश माल के बहिष्कार की नीति घोषित की गई। इसी समय से उग्र पंथियों और क्रान्तिकारियों का उदय हुआ। बारीन्द्र घोष, रासबिहारी बोस, खुदीराम बोस, महेन्द्र प्रताप, सरदार भगतसिंह आदि प्रसिद्ध क्रांतिकारी थे। वे हिंसात्मक तरीकों के समर्थक थे। बम फेंकना, गोली चलाना, डकैती करना, खून बहाना ही इनका प्रमुख कार्य था। दूसरी ओर लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल प्रसिद्ध उग्रपन्थी थे। इस तरह अब कांग्रेस दो विभिन्न दलों में बंट गई—नरम पंथी और उग्र पन्थी। पहले का नेता गोखले और दूसरे का तिलक थे। नरम पन्थियों की प्रधानता थी किन्तु उन्हें जनता की सहानुभूति प्राप्त नहीं थी। गरम दल में साधारण लोग भी थे अतः यह लोकप्रिय दल था। १९०७ ई० में सूरत के अधिवेशन में दोनों दल पृथक् थे। इस विभाजन से कांग्रेस में कुछ काल के लिए कमजोरी उत्पन्न हो गई। इसी साल के अधिवेशन में सर्व प्रथम स्वराज्य शब्द का व्यवहार हुआ।

इसी बीच १९०६ ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई जो देश के हित में घातक सिद्ध हुई। राष्ट्रीयता को दुर्बल बनाने के लिए अँगरेजों ने इसे प्रोत्साहित किया। अब 'मतभेद पैदा कर शासन करो' वाली नीति चरितार्थ होने लगी। ब्रिटिश सरकार ने इसे मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था मान ली और उसके लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था कर दी। इस तरह हिन्दू मुस्लिम समस्या उठ खड़ी हुई जिसने भारतीय राजनीति को विषाक्त बना डाला।

१९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध हुआ। अभी भारतीय राष्ट्रीयता शैशवस्था में थी। इस युद्ध में भारतीयों ने अंगरेजों की धन-जन से खूब सहायता की। लखनऊ कांग्रेस में नरम पंथियों और उग्रपंथियों में समझौता हो गया। अब कांग्रेस सबल हो गई। संकटमय परिस्थिति भी थी अतः ब्रिटिश सरकार ने उदारवादिता दिखलाई और अगस्त १९१७ ई० में भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की अपनी नीति घोषित की।

गांधीवाद का युग

अब देश का नेतृत्व एक प्रतिभाशाली महात्मा के हाथ में आया। इनका नाम मोहनदास कर्मचन्द गाँधी (१८६९–१९४८ ई०) है। ये महात्मा गाँधी के नाम से विशेष प्रख्यात हैं। ये सत्य और अहिंसा के कट्टर समर्थक थे और इन्हीं के आधार पर ये भारत का राजनीतिक,

सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक पुनरुद्धार करना चाहते थे। निस्संदेह उन्हें अपने उद्देश्य में आशातीत सफलता मिली।

चित्र २४—महात्मा गांधी

२०वीं सदी के प्रारम्भ में इन्होंने दक्षिणी अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के अधिकारों

के लिए सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ा था। उसी समय ये प्रसिद्ध व्यक्ति हो गये। भारत लौटने पर उनका महान् स्वागत हुआ और वे यहाँ के प्रधान नेता बने। उन्होंने खद्दर के प्रचार पर जोर दिया। वे अँगरेजों की सदेच्छा में विश्वास करते थे। अत. उन्होंने महायुद्ध में उनका साथ दिया। लेकिन युद्ध के अन्त में उन्हें निराश होना पड़ा। १९१९ ई० में एक विधान बनाया गया जिसके द्वारा केवल प्रान्तों में उत्तरदायी शासन स्थापित किया गया। वह भी उत्तरदायित्व सीमित था। अत. इससे कांग्रेस संतुष्ट नहीं हुई। इसी समय रौलेट ऐक्ट नामक काला कानून पास हुआ जिसके द्वारा कोई भी किसी समय गिरफ्तार किया जा सकता था। गाँधी जी के आदेश से सारे देश में इस कानून के विरुद्ध हड़ताल संगठित हुई। यह ६ अप्रैल, १९१९ ई० का दिन था। इसी मौके पर पंजाब में जलियाँवाला बाग का हत्याकांड हुआ। सभा में एकत्रित एक भीड़ पर जेनरल डायर के नेतृत्व में गोली की वर्षा की गई। इन दुर्घटनाओं ने भारतीय राष्ट्रीयता को उत्तेजित कर दिया। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया गया। ब्रिटिश माल का बहिष्कार हुआ, विदेशी वस्त्र जलाये जाने लगे। स्कूल, कालेज तथा कोर्ट छोड़े जाने लगे, तिरङ्गा झण्डा फहराया जाने लगा। सत्याग्रही जेल-यात्रा के लिए बाध्य हुए, दमन का जोर हुआ। कांग्रेस में जनता का प्रवेश होने लगा। आन्दोलन व्यापक होता गया। जो अब तक मध्य वर्गीय आन्दोलन था वह जन-आन्दोलन के रूप में बदल गया। हिन्दू-मुसलमान सभी कन्धे से कन्धा मिला कर काम कर रहे थे। खिला-फत आन्दोलन के कारण हिन्दू-मुसलमान खासतौर से अँगरेजों के विरुद्ध हो गए थे। इस तरह सफलतापूर्वक आन्दोलन चल रहा था। इसी बीच संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में चौराचौरी नामक स्थान पर हिंसात्मक काण्ड हो गया। पुलिस ने जनता पर गोली चलाई और जनता ने आवेश में थाना पर आक्रमण कर दिया। अत· बीच ही में गाँधी जी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया। उनके इस कार्य से कई नेता बड़े ही क्षुब्ध हुए क्योंकि उनका विश्वास था कि इसी बार भारत स्वतन्त्र हो जाता। किन्तु अहिंसा के पुजारी पाशविक ढंग से स्वराज्य लेना भी नहीं चाहते थे।

अब कांग्रेस में सुस्ती आ गई किन्तु यह स्थायी नहीं रही। १९२८ ई० में वैधानिक प्रगति की जाँच करने के लिए साइमन कमीशन भारत भेजा गया किन्तु यह कमीशन पूर्णरूपेण श्वेत था अतः सर्वत्र इसका काले झण्डे से अपमान किया गया। अब तक भारत इंगलैण्ड से औपनिवेशिक स्वराज्य भी माँगता था, किन्तु उससे इतना देते भी नहीं बनता था। अब भारत भी विशेष रूप से जागरित हो उठा था।

दिसम्बर, १९२९ ई० में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। एक प्रस्ताव के द्वारा पूर्ण स्वाधीनता कांग्रेस का ध्येय घोषित हुआ और

प्रत्येक २६ जनवरी को इसे दुहराया जाने लगा। १६३० ई० मे गाँधी जी के नेतृत्व : सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हुआ। प्रधान कार्यक्रम नमक कानून को तोडना था सहस्रो की सख्या में स्वतन्त्रता के पुजारी जेल गए और उन्होने अनेक यातनाओं क झेला। १६३१ ई० मे गाधी इर्विन समझौता हुआ। कैदी जेलमुक्त हुए। गोलमेज परिषद की तीन बैठकें हुई, नेताओ का सम्मेलन हुआ किन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ।

१६३५ ई० म ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने एक नवीन विधान पास किया। इसने प्रान्तो को सीमित स्वराज दिया। इसका केन्द्रीय हिस्सा बड़ा ही दूषित था। अब इस समय देश मे सर्वत्र यही प्रश्न उठा कि इस विधान के अन्तर्गत पद-ग्रहण करना चाहिए या नही। १६३४ ई० मे ही काग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हो चुका था। समाजवादी पदग्रहण के पक्ष मे नहीं थे। बहुत विचार विमर्श के बाद काग्रेस ने पदग्रहण करना स्वीकार किया। १६३७ ई० मे साधारण चुनाव हुआ और पजाब तथा बगाल को छोड कर शेष प्रान्तो मे काग्रेस मन्त्रिमण्डल स्थापित हुआ। सितम्बर १६३६ ई० मे द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ, प्रान्तीय स्वराज्य की कसौटी का समय आया। अँग्रेजी साम्राज्यवाद भी नाजीवाद या फासीवाद का ही सगा-सम्बन्धी सिद्ध हुआ। ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति से बाध्य होकर मन्त्रियों को पदत्याग करना पडा।

१६४० ई० मे व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। आचार्य विनोवा भावे सर्वप्रथम सत्याग्रही थे। दूसरी ओर भारत की सीमा पर युद्ध का बादल लटका हुआ था। अगस्त १६४२ ई० मे बम्बई में काग्रेस का अधिवेशन होने जा रहा था। अँग्रेजो के लिए 'भारत छोडो' का प्रस्ताव पास हुआ। बस अब क्या था। अगरेज बौखला उठे। सभी नेता जेल मे भर दिए गए। देश में व्यापक आन्दोलन शुरू हो गया। ६ अगस्त का दिन था। यह तोड-फोड का आन्दोलन था। जनता ने नेतृत्व अपने हाथ मे ले लिया। एक सप्ताह के अन्दर अगणित बर्बादियाँ हुई। रेल की पटरियाँ उखाडी गई। स्टेशन लूटे गए, डाकखाने जलाए गए और थानो पर हमले हुए। कुछ स्थानो मे राष्ट्रीय शासन भी स्थापित कर लिया गया। बृटिश सरकार की ओर से दमन-चक्र का भी पूरा जोर रहा। गोरे सैनिको ने अत्याचार के पहाड ढा दिए। कितने माई के लाल फाँसी पर झूल गए, कितने ही ललनाओं की माँगो के सिन्दूर धुल गए और अनेक माताओ की गोद सूनी पड गई। आतक का राज्य कायम हुआ। १६४५ ई० तक, जब कि द्वितीय महायुद्ध का अन्त हुआ, यही स्थिति बनी रही। युद्धकाल मे ही एशिया के दक्षिण-पूर्व मे श्री सुभाष चन्द्र बोस के नेतृत्व म आजाद हिन्द फौज ने भी मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया था। लेकिन इसे पूरी सफलता न मिली। युद्ध समाप्त होने पर फरवरी १६४६ ई० में नाविक विद्रोह हुआ और उनके साथ अन्य लोग भी सहानुभूति प्रदर्शित करने लगे।

१९४६ ई० में ही कांग्रेस सरकार की पुनः स्थापना हुई। ब्रिटेन में भी मजदूर सरकार की स्थापना हुई थी। अब भारत को स्वराज्य देने के सम्बन्ध में कई सम्मेलन हुए और कई योजनाएँ पेश हुई। मुस्लिम लीग मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों को मिलाकर पाकिस्तान बनाना चाहती थी। पहले कांग्रेस तो इसके विरुद्ध थी, किन्तु अन्त में लीग की माँग स्वीकार करनी पड़ी। १५ अगस्त १९४७ ई० को भारत और पाकिस्तान को प्रभुता सौंप कर बृटिश सरकार ने अपनी विदाई ले ली। भारत का यह विभाजन साम्राज्यवादी नीति 'मतभेद उत्पन्न कर शासन करो' की पराकाष्ठा है।

स्वतन्त्रता का युग

अब भारत के गगन में स्वतन्त्रता का सूर्य उदय हुआ; किन्तु इस बीच साम्प्रदायिकता

चित्र २५—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

का भी देश में जोर बढ़ रहा था। पाकिस्तान की माँग इसी का परिणाम थी, जिसके कारण

कितने खून-खतरे हुए। हजारों हिन्दू तथा मुसलमान एक दूसरे के हथियार के शिकार बन कुत्ते की मौत मरे। ३० जनवरी १६४८ ई० को राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी इसके शिकार हुए। उन्होंने साम्प्रदायिकता के विष के प्रचार को रोकने का भरपूर प्रयत्न किया था। इसीलिए उन्हें गोली का शिकार होना पड़ा। देश-विदेश के सभी लोग शोकातुर हो उठे। इस बीच भारतीय विधान-परिषद् स्वतन्त्र विधान तैयार करने में व्यस्त थी। लगभग ३ वर्षों में विधान तैयार हुआ जो २६ जनवरी १६५० ई० को लागू हुआ। इस तरह भारतीय प्रजातन्त्र का जन्म हुआ। डा० राजेन्द्र प्रसाद इसके सर्वप्रथम अध्यक्ष और श्री जवाहरलाल नेहरू इसके सर्वप्रथम प्रधान मंत्री हैं।

चित्र २६—श्री जवाहरलाल नेहरू

भारतीय स्वतन्त्रता की महत्ता

मानव-समाज के इतिहास में भारतीय स्वतन्त्रता का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। संसार में अब तक जितनी क्रांतियाँ हुईं वे सभी हिंसात्मक थीं। भारत की स्वाधीनता अहिंसात्मक तरीके से प्राप्त की गई। इसके साधन और साध्य दोनों ही उच्च और पवित्र थे। इसीलिए इसे स्वतन्त्रता प्राप्त करने में कई वर्ष लगे हैं। लेकिन भारत ने अपने लक्ष्य को पूरा करके ही छोड़ा। एक महात्मा के नेतृत्व में अहिंसा के द्वारा इंगलैण्ड जैसी साम्राज्यवादी शक्ति का सफलतापूर्वक सामना करना, दुनिया के इतिहास में आश्चर्यजनक घटना है। राजनीति में अहिंसा का प्रयोग ही भारत की विश्व को अनुपम देन है। अब इसी भारत की ओर शान्ति-स्थापना के लिए सारा संसार टकटकी लगाए देख रहा है। यह भी निश्चित है कि यही स्वाधीन भारत सत्य तथा शान्ति, सेवा तथा सादगी, प्रेम तथा भ्रातृत्व का दिव्य संदेश मानव-समाज को प्रदान करेगा।

विश्व-इतिहास में महात्मा गांधी का स्थान

विश्व-इतिहास के पृष्ठों में अनेक महापुरुषों के नाम आए हैं किन्तु इन सब में महात्मा गांधी का नाम विशेष स्थान रखता है। इतिहास जिन महापुरुषों की चर्चा करता है उनमें कोई कुशल शासक है तो कोई यशस्वी विजेता, कोई प्रकाण्ड पण्डित है तो कोई धर्मप्रचारक, कोई राष्ट्रीय नेता है तो कोई समाज-सुधारक। गांधी जी इन सभी व्यक्तियों से परे है। शारीरिक दृष्टि से तो गांधी जी और अन्य पुरुषों में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु नैतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से महान् अन्तर पाया जाता है। अन्य महापुरुषों के जैसा वे महान् तो हैं ही, साथ ही वे महात्मा भी है—यही उनकी विशेषता है। उनका हृदय समुद्र के समान विशाल था और मानव मात्र का कल्याण ही उनके जीवन का लक्ष्य रहा है। सर्वोदयवाद[1] गांधीवाद का ही प्रतीक है। सत्य और अहिंसा गांधी जी के साधन थे और इन्हीं के द्वारा उन्होंने मानव-समाज में सबसे बड़ी क्रान्ति की। उनके सिद्धान्त कोई नवीन नहीं हैं किंतु राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में इनके प्रयोग करने में उनकी महत्ता और मौलिकता है। इस तरह उन्होंने एक नयी विचार-धारा मानव-समाज के सामने प्रस्तुत की है, एक नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है। इससे वर्त्तमान सभ्यता का नैतिक स्तर बहुत कुछ ऊँचा हुआ है और अभी आगे ऊपर उठने की आशा की जाती है।

कॉंग्रेस शासन के कार्य

विकट समस्याएँ

कॉंग्रेस शासन के लगभग ५ वर्ष (अगस्त १९४७—५२) हो गये। इस बीच इसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। देश के विभाजन के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई। साम्प्रदायिकता का जोर हुआ जिसने राष्ट्रपिता तक को अपना शिकार बना लिया। पाकिस्तान की ओर से कई उलझनें हुई। सदियों से गुलामी के शिकंजों में पड़े रहने से देश का कोई विकास नहीं हुआ था और पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत पिछड़ा हुआ देश था। कल-कारखाने तथा पूँजी सब का अभाव था। द्वितीय महायुद्ध के भयंकर परिणाम अलग ही काम कर रहे थे। देश में बेकारी, अन्न-वस्त्र के संकट उत्पन्न हो गये। इन संकटों की वृद्धि में कभी-कभी प्रकृति ने भी साथ दिया। इन भीषण समस्याओं तथा उलझनों के होते हुए विफलताएँ होना स्वाभाविक है। विफलताएँ हुई हैं, फिर भी कॉंग्रेस सरकार ने घरेलू तथा वैदेशिक दोनों ही क्षेत्रों में अद्भुत सफलता भी प्राप्त की है।

गृहक्षेत्र में सफलताएँ

गृहक्षेत्र में देश की राजनीतिक एकता की स्थापना बड़े मार्के की घटना है। अंगरेजी

---

[1] विस्तृत वर्णन आगे देखिये।

शासन म ब्रिटिश प्रान्तो के सिवा लगभग ६०० छोटे-बड़े देशी राज्य थ। स्वाधीन भारत मे यह विषमता न रही। सरदार पटेल के पथ प्रदर्शन मे देशी राज्यो का पुनर्सगठन हुआ और उन्हे ६ राज्यो तथा राज्य सघो मे बॉट दिया गया। भारतीय सघ मे २२ राज्य सम्मिलित है जो तीन श्रेणियो मे विभक्त है। सारे देश के लिए एक जनतान्त्रिक विधान का निर्माण हुआ है और हिन्दी भाषा राष्ट्र-भाषा के रूप मे स्वीकार की गई है। १९५२ ई० के प्रारम मे वयस्क मताधिकार क आधार पर विश्व का सब से बडा निर्वाचन हुआ है जिसमे लगभग १८ करोड़ स्त्री-पुरुषो ने भाग लिया था। राष्ट्र-निर्माण की ओर प्र्याप्त ध्यान दिया गया है। बहुत-सी योजनाएँ बनी है और विदेशो से पूँजी ली जा रही है। कोलम्बो योजना, अमेरिकी टेकनिकल सहायता योजना के अनुसार तथा विश्व बैंक से भारत को पूरी आर्थिक सहायता मिल रही है। देश के प्राकृतिक साधनो के विकास के लिए पञ्चवर्षीय योजना बनी है। कई योजनाओ मे हाथ भी लग गया है जैसे बिहार-बगाल की योजना, दामोदर घाटी योजना तथा मयूराक्षी योजना, उडीसा की हिड़ाकुड तथा मिचकुड योजना, मद्रास की तुगभद्रा तथा कृष्णा योजना। उत्तरी बिहार की कोशी योजना भी शीघ्र ही कार्यान्वित होने वाली है। सिन्द्री मे खाद के और चितरजन मे इजिन के कारखाने खुले है। मद्रास तथा बम्बई मे मोटर और सायकिल के तथा मैसूर मे हवाईजहाज के कारखाने स्थापित हुए है। भारत मे जहाज भी बनने लगे हैं और मार्च १९४८ ई० में देश मे निर्मित प्रथम जहाज 'जल ऊषा' का जलावतरण हुआ। विज्ञान की भी उन्नति हुई। शिक्षा के क्षेत्र मे सुधार लाने का प्रयत्न हो रहा है।

पडोसी तथा वैदेशिक नीति

भारतीय जनतत्र को सबसे अधिक सफलता तो वैदेशिक नीति में मिली है। परराष्ट्र विभाग भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के हाथ मे रहा है। वे बड़े ही उदारवादी और व्यापक विचार के व्यक्ति है और सबके साथ मिल-जुल कर रहना चाहते हैं। भारत की सीमा पर उसके आठ पड़ोसी हैं—नेपाल, तिब्बत, भूटान, सिक्कम, चीन, बर्मा, लका और पाकिस्तान। नेपाल के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है और १९५० ई० के मध्य में दोनो देशो मे एक सन्धि हुई। सिक्कम भारत के अधीन एक सरक्षित राज्य के रूप मे है और उसकी सुरक्षा तथा वैदेशिक नीति भारत के हाथ मे है। भूटान ने भी एक सन्धि की है और अपना परराष्ट्र सम्बन्ध भारत के हाथ में सौप दिया है। तिब्बत से भी राजनीतिक तथा सास्कृतिक सम्बन्ध है। बर्मा और लका से भी मैत्री चल रही है। चीन और भारत का तो सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। स्वतत्र भारत ने इस परम्परा को पुनर्जीवित करने का भरपूर प्रयत्न किया है। यह राष्ट्रवादी चीन का मित्र तो था ही, साम्यवादी चीन के साथ भी

इसकी मित्रता बनी हुई है। पाकिस्तान की ओर से अनेक उलझनो के होने पर भी भारत उसके साथ मेल-मिलाप की नीति बरतता रहा है।

भारत की परराष्ट्रनीति तटस्थता की नीति है, किन्तु यह तटस्थता निष्क्रिय नही है, बल्कि गतिशील है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत दुनिया की किसी भी शक्तिमूलक गुट के साथ नहीं है। परन्तु यह विश्व के रगमच पर मूकदर्शक भी नही है। यह प्रत्येक विषय पर उसके महत्त्व की दृष्टि से विचार करता है। यह न्याय तथा शान्ति का समर्थक है। समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व—यही इसकी वैदेशिक नीति का पृष्ठाधार है। भारत ने २० से अधिक देशो के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया है। मैत्री तथा वाणिज्य-व्यापार की सन्धियाँ और भी अधिक देशो के साथ हुई हैं। हाल ही मे जापान के साथ भी एक सन्धि हुई है। इससे भारत के व्यापार मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और विदेशो मे इसका सम्मान बढ़ रहा है। भारत सयुक्त राष्ट्र सगठन का भी एक सम्मानित सदस्य है और इसकी विभिन्न शाखा-प्रशाखाओ म इसके प्रतिनिधि भरे पड़े हैं। सर बी० एन० राव विश्वन्यायालय के विचारपति नियुक्त हुए हैं।

अध्याय ४०

पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीयता—इस्लामी राज्य

भूमिका

पश्चिमी एशिया मे तुर्की, सीरिया, फिलिस्तीन, ट्रान्सजोर्डन, ईराक तथा सऊदी अरब सम्मिलित है। तुर्की को छोडकर अन्य सभी देशो मे अरबो का बहुमत है। ये सभी देश प्रथम महायुद्ध तक तुर्की साम्राज्य के अग थे, किन्तु युद्ध के बाद साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। तुर्कों ने मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व मे तुर्की मे राष्ट्रीय राज्य स्थापित किया। अरबो के देश तुर्की साम्राज्य से तो मुक्त हो गए, लेकिन वे पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार हुए। युद्ध के पहले इन राज्यो को स्वाधीनता देने के लिए वादा किया गया। अरबो ने दिल खोलकर मित्र राष्ट्रों की सहायता की। किन्तु युद्ध के अन्त मे अरबो को निराशा हुई। राष्ट्र सघ के अधीन सीरिया फ्रास के और फिलिस्तीन तथा ईराक इगलैण्ड के सरक्षण मे सौप दिये गए। शासनादेश या मैडेट का सिद्धान्त साम्राज्यवाद का सुन्दर पर्दा था। इन छोटे राज्यो को राजनीतिक विकास के लिए बड़े राज्यो के अधीन सौपा गया, लेकिन वे अपने स्वार्थ के लिए इन राज्यो का शोषण ही करते रहे। परिणाम यह हुआ कि इन छोटे राज्यो मे भी जागृति हुई, शासनादेश और अरब राष्ट्रीयता के सिद्धान्तो मे सघर्ष होने लगा और अन्त मे ये अरब राज्य भी स्वाधीनता प्राप्त करने मे सफल हुए।

(क) तुर्की

एशिया के अन्य देशो की भाँति तुर्की भी पाश्चात्य साम्राज्यवाद की चक्की मे पीसा जा रहा था। शासन भी दुर्बल था। द्वितीय सुलतान अब्दुल हमीद भोग-विलास मे व्यस्त रहता था और निरकुश शासन का समर्थक था। अतः देश की आन्तरिक दशा बडी ही बुरी थी। अधीनस्थ राज्य स्वतन्त्र होने के लिए प्रयत्नशील थे। केवल अन्तर्राष्ट्रीय प्रति-द्वन्द्विता के ही कारण साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने से बचा था। अतः वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भ मे पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त तरुण तुर्को का एक दल स्थापित हुआ। यह दल तुर्की में सुधार और वैधानिक कार्य की स्थापना चाहता था। इसके लिए जो आन्दोलन हुआ वह 'तरुण तुर्क आन्दोलन' कहलाता है। यह आन्दोलन सफल हुआ, रक्तहीन क्रान्ति हुई और देश मे वैधानिक शासन स्थापित हुआ। एक पार्लियामेट का निर्माण हुआ और वास्तविक सत्ता तरुण तुर्क दल के हाथों में आ गई। लेकिन युवक तुर्क अन्य जातियों को स्वतन्त्र करना नही चाहते थे और उन पर पूर्ववत् अत्याचार होता रहा।

१९१४ ई० मे प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात हुआ। तुर्की का रूस से मनमुटाव था। अत उसने युद्ध मे जर्मनी का पक्ष लिया। युद्ध समाप्त होने पर जर्मनी के साथ तुर्की की भी पराजय हुई। वह पहले ही से दुर्बल था। महायुद्ध के पूर्व उसे बालकन राज्यों तथा इटली से लडना पडा था। अत. जर्मनी स भी पहले उसने मित्रराष्ट्रो से सन्धि कर ली। उसके सारे यूरोपीय प्रान्त उसके हाथ से निकल गये और उसके राज्य मे अव्यवस्था छा गई। मुहम्मद छठाँ तुर्की का सुलतान था जो १९१८ ई० मे सिंहासनारूढ हुआ था। वह नाम मात्र का शासक था। उसमे न दृढता थी, न देश-प्रेम। वह विदेशियो के हाथ का खिलौना बन रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि यूरोप को मरीज का अन्तिम सस्कार करना पड़ेगा। लेकिन ऐसा होने को नही था। इसी समय तुर्की के राष्ट्रवाद का उत्थान हुआ, उसमे एक नयी जान आ गई और इसका श्रेय मुस्तफा कमाल पाशा को है।

मुस्तफा कमाल पाशा (१८८०-१९३८) आधुनिक तुर्की का जन्मदाता है। वर्त्तमान युग के राष्ट्र-निर्माताओ मे उसका भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूस के लिए लेनिन का जो स्थान है वही तुर्की के लिए मुस्तफा कमाल पाशा का है। मुस्तफा बड़ी ही तीव्र बुद्धि का व्यक्ति था। उसका विद्यार्थी जीवन बडा ही होनहार था और उसी समय उसे कमाल की उपाधि मिली थी, क्योकि वह किसी-किसी विषय मे कमाल कर दिखाता था। उसी के प्रयास से १९०८ ई० मे तुर्की मे सफल क्रान्ति हुई और वैधानिक शासन स्थापित हुआ। लेकिन इतने ही से तुर्की की प्रगति होने को नही थी। महायुद्ध के पश्चात् विजेता राष्ट्रो ने इसे विभाजित करने की चेष्टा की। युद्ध-काल मे ही इसके कुछ भाग इटली को दे दिये गये थे और युद्ध के अन्त मे वहाँ यूनानियो को भेजा गया। यूनानियो ने तुर्कों के साथ क्रूरतापूर्वक व्यवहार किया। मुस्तफा ने राष्ट्रवादिया को सगठित किया और १९१९ ई० मे सेवास नगर मे उनका सम्मेलन हुआ। इसमें एक राष्ट्रीय पत्र प्रकाशित हुआ जिसमे ५ बातों पर जोर दिया गया था—आत्म-निर्णय, कुस्तुन्तुनिया की रक्षा, मुहानो की मुक्ति, अल्पसख्यको के अधिकार और विदेशी अधिकारो का अन्त। मित्र-राष्ट्रों को यह बात पसन्द न आयी। क्योकि यह उनके स्वार्थ पर कुठाराघात था। उन्होंने हिंसात्मक तरीके से राष्ट्रवादियो का सामना करना चाहा किन्तु इससे तो तुर्कों की राष्ट्रीय भावना और भी जाग्रत हो उठी। कुस्तुन्तुनिया मे ससद् की बैठक हो रही
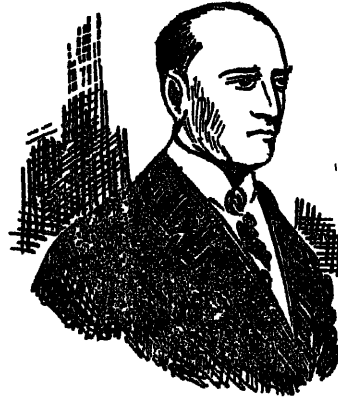
चित्र २७—मुस्तफा कमाल

थी और इसने राष्ट्रीय पत्र की शर्तों को स्वीकार कर लिया था। इसी समय एक अँगरेजी सेना कुस्तुन्तुनिया पहुँची और उसने वहाँ सैनिक-शासन घोषित कर दिया। ससद् के कई सदस्यो को पकड़कर माल्टा द्वीप मे निर्वासित कर दिया गया।

इसके कुछ ही महीने बाद सेवट की सन्धि की शर्तें प्रकाशित हुई। यह मित्रराष्ट्रो का काला कारनामा था। इसमे तुर्की के अस्तित्व को ही मिटा देने का कुचक्र रचा गया था। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत प्रोत्साहन मिला। कुस्तुन्तुनिया के शासक ने सेवट की सन्धि को स्वीकार कर लिया। इससे राष्ट्रवादी बड़े ही क्रुद्ध हुए और उन्होने अकारा में, जहाँ तुर्की की राजधानी स्थापित हुई, अपनी पृथक् सरकार कायम कर ली और सुलतान के पद को उठा दिया। उन्होंने तुर्की मे भेजे गये यूनानियो को पराजित किया। अब सेवट की सन्धि रद्द कर दी गयी और लोजेन की एक नयी सन्धि हुई। इस सन्धि के द्वारा तुर्की की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई। २६ अक्टूबर १९२३ ई० को तुर्की मे जनतन्त्र की घोषणा हुई। मुस्तफा कमाल पाशा इसके प्रथम राष्ट्रपति और इस्मत पाशा प्रथम प्रधान मन्त्री हुए। दूसरे साल परम्परागत खलीफा के पद को भी उठा दिया गया। इस पर मुस्लिम देशो मे बड़ी हलचल पैदा हुई किन्तु मुस्तफा इससे तनिक भी विचलित नही हुआ।

इस तरह तुर्की ने पाश्चात्य राष्ट्रो के चगुल से अपने को मुक्त किया। इसकी सफलता के कई कारण थे। राष्ट्रवादियों का अदम्य उत्साह और अनुपम त्याग, मुस्तफा कमाल का कुशल नेतृत्व, उसकी सगठन-शक्ति, उसकी प्रतिभा तथा सोवियत रूस की सहायता विशेष उल्लेखनीय है। महायुद्ध के अन्त मे इगलैण्ड और फ्रास मे भी मतभेद हो गया था। फ्रास जर्मनी को दुर्बल रखना चाहता था किन्तु इगलैण्ड इसका समर्थक नही था। अत: यूनानी तुर्की सघर्ष मे जब इगलैण्ड ने यूनानियो का पक्ष लिया तो फ्रास ने तुर्कों का समर्थन किया।

अब तुर्की का जनतन्त्र राज्य सुधार के मार्ग पर अग्रसर हुआ। इसका सब ढाँचा जनतन्त्र का अवश्य ही था किन्तु वास्तविकता कुछ और थी। मुस्तफा कमाल पाशा तुर्की का अधिनायक था और अपने विरोधियो के साथ कोई सहानुभूति नही रखता था। आवश्यकता पड़ने पर वह सैन्य-बल का भी प्रयोग करने मे नही हिचकता था। रूस के पीटर महान के समान उसने तुर्की को पाश्चात्य सभ्यता के रग मे रँगना चाहा। लेकिन पीटर की उपेक्षा मुस्तफा अपने काम मे अधिक सफल हुआ। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि क्षेत्रो मे सुधार का ताँता बँध गया और मध्यकालीन तुर्की आधुनिक राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। तुर्कों ने उसकी सेवाओं को स्वीकार किया और उसे अतातुर्क (तुर्कों का पिता) की पदवी से विभूषित कर अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

तुर्की समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। पश्चिमी वेष-भूषा तथा रस्म-रिवाजों

को प्रोत्साहित किया गया। तुर्की टोपी (फेज) के बदले हैट पहनने का नियम बना। यहाँ तक कि सलाम करने की पुरानी प्रथा को हटाकर हाथ मिलाने की प्रथा चलाई गयी। दाढी रखने पर प्रतिरोध लगाया गया। स्त्रियों की दुनिया तो बिल्कुल ही बदल गयी। उन्होने भी स्वाधीनता सग्राम मे भाग लिया था। अब उनका स्थान भी पुरुषों के समान कर दिया गया। पर्दे तथा बुर्के के दिन लद चुके, बाल-विवाह, बहु-विवाह का अन्त हो गया, सरकारी कर्मचारियों मे विवाह की रजिस्ट्री की जाने लगी। स्त्रियों मे शिक्षा का प्रचार हुआ, उन्हें तलाक करने तथा मत देने का अधिकार मिला और वे राज्य के किसी पद के लिए उम्मीदवार होने लगीं। वे पुरुषो की तरह वकील, न्यायाधीश, शिक्षक, डाक्टर आदि सभी पदो को सुशोभित करने लगीं।

भाषा का राष्ट्रीयकरण हुआ। अरबी भाषा के बदले रोमन लिपि का प्रचार हुआ। शार्टहैंड तथा टाइप राइटरो के काम मे स्त्रियाँ अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई और इन कामो के लिए बहुत बडी सख्याओ मे उनकी नियुक्ति होने लगी। भाषा मे परिवर्तन होने से व्यक्तियो तथा स्थानो के नाम मे भी परिवर्तन होने लगा जैसे कुस्तुन्तुनिया इस्ताम्बुल और अगोरा अकारा कहे जाने लगे। शिक्षा-प्रचार के लिए साक्षरता आन्दोलन चला और जहाँ-तहाँ वयस्क-स्कूल खोले गये।

तुर्की एक धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाया गया। खलीफा के पद को तो उठा ही दिया गया, राज्य के अन्दर धर्म का कोई स्थान न रहा और वह एक व्यक्तिगत चीज बन गया। मठो (खान काहो) और धर्माश्रमों के धन-जायदाद पर राज्य का अधिकार हो गया और फकीरों (दर्वेशो) को काम कर अपना भरण-पोषण करने के लिए बाध्य किया गया। धार्मिक विद्यालय तोड दिये गये और स्थित विद्यालयो मे धार्मिक शिक्षा अवैध घोषित कर दी गई। शरियत तथा हदीस की कानूनी महत्ता जाती रही और स्वीटजरलैण्ड, इटली तथा जर्मनी के आधार पर क्रमश: दीवानी, फौजदारी तथा व्यापारिक कानून प्रचलित किये गये। शुक्रवार के बदले रविवार को साप्ताहिक छुट्टी मिलने लगी। इस्लाम के प्रतिकूल मूर्ति, चित्र, सगीत कलाओं को प्रोत्साहित किया गया।

देश की आर्थिक उन्नति के लिए पच-वर्षीय योजना का निर्माण हुआ और इसके लिए रूस से आर्थिक सहायता ली गई। कृषि-कालेज स्थापित हुए और वैज्ञानिक ढग से कृषि होने लगी। उद्योग-धन्धो की उन्नति हुई, बिजली से काम लिया जाने लगा, यातायात के साधन उन्नत हुए। कल-कारखाने खोले जाने लगे ; परन्तु इस क्षेत्र मे विशेष सफलता नही मिली। भूमि-समस्या हल न हो सकी, बहुत से कृषको के पास अपनी जमीन नही थी।

तुर्की स्वतन्त्र वैदेशिक नीति का अनुसरण करने लगा। उसने पाश्चात्य पड़ोसी देशो

के साथ मित्रता स्थापित की और पड़ोसी राज्या के साथ सन्धि कर सीमा सम्बन्धी झगड़ो का अन्त किया। उसने इटली तथा फ्रास के साथ सन्धि की। १६३२ ई० मे वह राष्ट्र सघ का सदस्य बना। १६३४ ई० म इसके नेतृत्व मे यूनान, रुमानिया तथा यूगोस्लाविया के साथ बालकन पैक्ट हुआ। विषम अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण १६३६ ई० म यूरोपीय राष्ट्रा ने दर्रे दानियाल पर तुर्का का आधिपत्य स्वीकार किया और अपनी सुरक्षा के हेतु तुर्की वहाँ सेना रखने लगा। १६३७ ई० मे ईराक, ईरान तथा अफगानिस्तान के साथ समझौता हुआ। आवश्यकता पडने पर पारस्परिक सहायता करना इस समझौते का उद्देश्य था। इस तरह मुस्तफा कमाल ने पूर्व तथा पश्चिम दोनो ओर से अपने देश की सीमा सुरक्षित कर ली।

इस प्रकार तुर्की को एक प्रगतिशील सम्पन्न राष्ट्र बनाकर १६३८ ई० म कमाल पाशा परलोक सिधार गये। अब इस्मत इनोनु (१६३८—४३) राष्ट्रपति हुए। तुर्की की उन्नति जारी रही। १६३६ ई० मे इगलैण्ड तथा फ्रास के साथ भूमध्य सागरीय क्षेत्र मे मिलकर काम करने के लिए एक सन्धि हुई। द्वितीय महायुद्ध के समय तुर्की ने तटस्थता की नीति अपनाई थी। किन्तु १६४४ ई० मे वह सयुक्त राष्ट्रो की ओर से युद्ध मे सम्मिलित हो गया। इस युद्ध के पश्चात् तुर्की पर अमेरिका का प्रभाव कायम हो गया है। अब तक तुर्की की आर्थिक उन्नति पूरी नहीं हुई थी और इसे पूँजी का बराबर अभाव रहा है। अत इसके औद्योगिक विकास के लिए अमेरिका इसे आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा है।

(ख) सीरिया

फ्रासीसी शासनादेश, दमन और विद्रोह

प्रथम महायुद्ध के बाद सीरिया मे एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुआ था और अमी-अमी फैजल को वहाँ का राजा नियुक्त किया गया। लेकिन शासनादेश मिलने पर फ्रास ने इस राष्ट्रीय शासन का अन्त कर अपना आधिपत्य बलपूर्वक स्थापित किया। परन्तु अरब वासियो को यह परिवर्तन नही सुहाया और उन्होंने विदेशी शासन के विरुद्ध भयकर आन्दोलन छेड़ दिया। यह राष्ट्रीय आन्दोलन १६ वर्षों (१६२०—३६) तक चलता रहा। इस काल मे फ्रासीसी सैनिकों ने अत्याचार का पहाड ढाने में कोई कोर-कसर उठा न रखा। राष्ट्रीय भावनाओ को दबाने के लिए सीरिया का ५ राज्यों मे बाँट दिया गया। फूट उत्पन्न कर शासन करने की नीति अपनाई गई। धार्मिक सम्प्रदायों के भेद-भाव को प्रोत्साहित किया गया। व्यक्तिगत तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता छीन ली गई, प्रेस पर प्रतिबन्ध लगा और सारे देश में जासूसो का जाल बिछ गया। नेताओं को जेल भेजा जाने लगा। नगरों पर गोलेबारी होने लगे, मकानों मे आग लगाई जाने लगी।

इन सभी कार्यो का परिणाम प्रतिकूल ही हुआ। व्यक्ति तो मरे, धन-सम्पत्ति का नाश तो हुआ किन्तु इनसे राष्ट्रीयता की अग्नि प्रज्ज्वलित होती गई और आन्दोलन सबल होता गया। १९२५ ई० मे सर्वत्र विद्रोह हो गया। इस विद्रोह मे इसाई, मुसलमान सबा ने भाग लिया। इससे विदेशी भी थर्रा उठे।

सविधान मभा की बैठक

फ्रासीसियों को झुकना पडा। उनकी अनुमति से जून १९२८ ई० में एक विधान सभा बुलाई गई। इसने एक प्रजातत्रीय विधान तैयार किया जिसमे शासनादेश को स्वीकार नहीं किया गया। इस पर फ्रास ने रज हो सभा को भग कर दिया। फ्रासीसी गवर्नर ने फिर दूसरा विधान प्रस्तुत किया जिसे राष्ट्रवादियो ने ठुकरा दिया। इस तरह सग्राम पुन जारी हो गया।

सार्वजनिक हडताल और सन्धि

१९३५ ई० मे सीरियावासियों ने एक सार्वजनिक हडताल की जो दीर्घकाल तक चलती रही। फ्रासीसियों के होश उड गये। उन्हें राष्ट्रवादियो से समझौता करने के लिए बाध्य होना पड़ा। १९३६ ई० मे फ्रास और सीरिया मे सन्धि हो गई। फ्रास ने सीरिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। किन्तु ३ वर्षों के बाद शासनादेश का अन्त करने के लिए प्रतिज्ञा की। सीरिया तथा लेबेनन दो राज्य कायम हुए और दमिश्क तथा बीरुट मे क्रमश उनकी राजधानियाँ स्थापित हुईं। लेकिन दोना राज्यों मे सैनिक तथा आर्थिक दृष्टियो से फ्रास का प्रभाव कायम रहा। इस तरह अभी भी कुछ वर्षो तक यह स्वाधीनता सीमित या नाममात्र की ही रही। १९४० ई० में द्वितीय महायुद्ध मे फ्रास की पराजय के साथ सीरिया स्वतन्त्र हो गया किन्तु अभी भी कुछ फ्रासीसी सैनिक वहाँ अड्डा जमाये रहे। यह प्रश्न सुरक्षा-परिषद में पेश हुआ और १९४६ ई० मे सेनाएँ भी हटा ली गई। अब सीरिया पूर्णतः स्वतन्त्र हो गया।

(ग) फिलिस्तीन तथा ट्रान्सजोर्डन

फिलिस्तीन—एक विकट ममस्या

फिलिस्तीन प्राचीन सभ्यता तथा सस्कृति का केन्द्र रह चुका था। पुरातन काल मे वह यहूदियों का निवास-स्थान था, किन्तु रोमनो ने उसे जीतकर उन्हे वहाँ से निकाल बाहर कर दिया और वे विश्व के विभिन्न देशों मे रहने लगे। लेकिन वे अपनी प्राचीन भूमि और जाति को नहीं भूले। बाद मे बहुसख्यक अरबों ने फिलस्तीन को जीतकर उसे आबाद किया। इस प्रकार फिलस्तीन मे यहूदियो तथा अरबो का स्वार्थ स्थापित था। वहाँ इसाइयों का भी पवित्र स्थान था, क्योंकि यह ईसा की जन्मभूमि थी।

प्रथम महायुद्ध मे यहूदिया ने मित्र राष्ट्रो का साथ दिया और इसके बदले इगलैण्ड ने

बाल्फर घोषणा के द्वारा फिलिस्तीन मे उन्हे राष्ट्रीय घर देने का वादा किया। अरबो की सहायता के बदले स्वतन्त्रता देने की प्रतिज्ञा की गई। महायुद्ध के अन्त होने पर फिलिस्तीन अंग्रेजो के शासनादेश मे सौपा गया। अब यहूदियो को वहाँ आने के लिए सुअवसर प्राप्त हुआ और वे विभिन्न देशो से आकर बसने लगे। अरबो ने अंग्रेजो की नीति का घोर विरोध किया। यहूदी प्रत्येक क्षेत्र मे उनके प्रतियोगी निकले और उनकी बढती हुई सख्या से अरबो की स्थिति सकटपूर्ण हो गई। अत. उन्होने विद्रोह करना शुरू कर दिया। १६३६ ई० तक कई विद्रोह हुए और बहुत से यहूदी मौत के घाट उतरे। अरबो ने हर तरह से उनका बहिष्कार किया। परन्तु साम्राज्यवादी इगलैण्ड से कहाँ तक पार पा सकते थे। विद्रोह क्रूरतापूर्वक दबा डाले गये।

पील कमीशन का सुझाव

लेकिन १६३३ ई० बाद स्थिति पुनः सगीन होने लगी। जर्मनी मे नाजी शासन स्थापित हुआ और यहूदियो का खोज-खोज कर शिकार किया जाने लगा। अब वे फिर अधिक सख्या म फिलिस्तीन आने लगे। उनकी सख्या ३० प्रतिशत से बढ़ने लगी।

अरबो ने भी उत्पात मचाना शुरू किया। १६३६ ई० मे भयानक सर्वव्यापी आन्दोलन हुआ। यहूदी और अग्रेज दोनो ही अरबो के आक्रमण के शिकार हुए। किन्तु अन्त मे आन्दोलन क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया। १६३७ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए पील कमीशन नियुक्त किया। कमीशन ने फिलिस्तीन को तीन भागो मे विभक्त करने का प्रस्ताव पेश किया—यहूदी, अरब तथा ब्रिटिश। किन्तु अरबो तथा यहूदियो ने इस योजना का घोर विरोध किया। १६३६ ई० मे दूसरी योजना उपस्थित हुई। तब तक दूसरे विश्व-युद्ध का श्रीगणेश हो गया और वह योजना स्थगित हो गई।

संयुक्त राष्ट्र सघ का सुझाव

युद्धकाल मे अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमन ने भी अपना मत प्रकट कर दिया कि जर्मनी के यहूदियो को फिलिस्तीन मे ही बसाया जाय। किन्तु अरबवासी जीते जी अपने गले मे चक्की क्याकर बाँधते। उन्होने ट्रूमन की नीति का भी विरोध किया। अत मे १६४७ ई० मे इगलैण्ड ने इस प्रश्न का सयुक्त राष्ट्रसघ के सामने रखा। सयुक्त राष्ट्रसघ ने इसे तीन भागो मे बाँट दिया—अरबो का भाग, यहूदियो का भाग और सयुक्त राष्ट्रसघ के अधीन जेरुसलम। यहूदियो ने विभाजन के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, क्योकि उन्हे तो लाभ ही था। लेकिन अरबो के लिए उनके देश का विभाजन सह्य नही था। वे तो अन्त तक इसका विरोध ही करते रहे।

इसरायल का जन्म

१६४८ ई० म इगलैण्ड ने फिलिस्तीन से अपनी सत्ता हटा ली। यहूदियो ने शीघ्र ही इसरायल के स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना घोषित कर दी। डा० वेजमेन इसके राष्ट्रपति और डविड बेन गुरियना प्रधान मत्री हुए। तेल-एविव मे राजधानी स्थापित हुई। अब अरबो और यहूदियो मे लडाई छिड गई और दोनो ओर से रक्तपात किया जाने लगा। सयुक्त राष्ट्रसघ की ओर से काउट बर्नडोट शान्ति स्थापित करने के लिए भेजा गया, किन्तु उसकी हत्या कर दी गई। तत्पश्चात् बच नामक व्यक्ति को समझौता करने का भार सौपा गया और वह इस उद्देश्य मे सफल भी हुआ। अब विश्व के कई देशो ने इसरायल को मान्यता प्रदान कर दी है।

फिलिस्तीन से सटे हुए सीरिया तथा अरब मरुभूमि के बीच ट्रान्स जोर्डन का राज्य है जो स्वतन्त्र है।

(घ) ईराक

विद्रोह और सन्धि

ईराक का प्राचीन नाम मेसोपोटामिया है। यह भी प्राचीनकाल मे उच्चकोटि की सभ्यता तथा सस्कृति का केन्द्र था। ईराक वाले ने भी अग्रेजी शासनादेश का विरोध किया। अग्रेजो ने उन्हे सन्तुष्ट करने के लिए एक नया शासन कायम किया। उनके ही बीच से एक मत्रिमडल स्थापित हुआ किन्तु वे अग्रेजी सरक्षता के अधीन मे काम करने के लिए तैयार नही थे। अत शीघ्र ही मत्रिमडल तोड डाला गया और अग्रेजो ने हेजाज के शासक हुसन के लडके फजल को वहाँ का राजा नियुक्त कर दिया। उसने १२ वर्षों (१६२१—३३ ई०) तक राज्य किया और उसके राज्यकाल मे ईराक की उन्नति हुई। परन्तु ईराक के लोग उसके राज्य से सतुष्ट नहीं थे। क्योकि वह अग्रेजो का पक्षपाती था और उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिली थी। अत. विद्रोह होते रहे। ब्रिटिश सरकार की ओर से दमन चक्र भी चलता रहा और आकाश से बम वर्षाये जाते रहे। १६३०—३१ ई० मे इगलैण्ड तथा ईराक मे सन्धि हुई और १६३२ ई० मे ईराक स्वतन्त्र हो राष्ट्रसघ का सदस्य बन गया। दूसरे ही साल फैजल का भी स्वर्गवास हो गया और उसका लड़का गाजी गद्दी पर बैठा। ६ वर्ष बाद गाजी की भी मृत्यु हो गई और फैजल द्वितीय ईराक का राजा बना।

ब्रिटिश स्वार्थ

इस प्रकार १६३२ ई० मे ईराक स्वतन्त्र हो गया किन्तु ब्रिटेन का कुछ स्वार्थ कायम रहा। ईराक मे मिट्टी-तेल की खान है, जिस पर बृटिश कम्पनी का अधिकार है। दूसरे, ईराक हवाई रास्ते का एक मुख्य स्टेशन है। अत. सैनिक दृष्टि से यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण

है। अतएव अंग्रेजो का प्रभाव वहाँ अभी भी जारी है। किन्तु अब वे प्रभुता-सम्पन्न स्वामी के रूप मे नही हैं।

(ङ) सऊदी अरब तथा येमेन

सऊदी अरब की स्थापना

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अरब देश की स्थिति मे भी महान् परिवर्त्तन हुआ। युद्धकाल में ही हुसेन ने अरब राज्य की स्थापना घोषित की जिसका वह स्वय राजा भी हुआ। इगलैण्ड, फ्रास तथा रूस ने उसे अरबो का राजा मान लिया। इस बीच नेज्द मे वहाबी नाम के मुस्लिम सम्प्रदाय की उन्नति हो रही थी। इब्न सऊद उनका नेता था। १६१३ ई० तक उसने पूर्वी अरब का अधिकाश भाग जीत लिया था और २ वर्ष बाद ग्रेट ब्रिटेन के साथ एक सन्धि भी कर ली थी। वह हुसेन का प्रतियोगी बन गया। धीरे-धीरे पश्चिमी अरब भी उसके हाथ मे आ गया और १६२५ ई० तक मक्का तथा मदीना उसके अधिकार मे आ गये। १६२६ ई० मे उसे हेजाज का राजा घोषित किया गया। दूसरे साल से वह हेजाज तथा नेज्द का राजा कहलाने लगा। इसी साल ग्रेट ब्रिटेन ने इन राज्यों की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। १६३२ ई० मे हेजाज तथा नेज्द का राज्य मिलाकर सउदी अरब के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस तरह इब्न सऊद के नेतृत्व मे अरब का एकीकरण हुआ और यह उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ। सउदी अरब ने ईराक, ईरान, तुर्की तथा ट्रान्स जोर्डन से मित्रता की सन्धि की। मिश्र ने भी अरब की स्वतन्त्रता स्वीकार की।

येमेन

अरब ने येमेन पर धावा बोल दिया था किन्तु यह इगलैण्ड के हस्तक्षेप से अरब का अग न बन सका। यह इसके पश्चिम मे एक स्वतन्त्र राज्य है जहाँ एक इमाम शासन करता है।

(च) मिश्र

मिश्र के स्वातन्त्र्य सग्राम का वर्णन करना भी यही पर उपयुक्त होगा। यद्यपि यह अफ्रीका के उत्तर मे स्थित है, पश्चिमी एशिया से इसका घना सम्पर्क रहा है और यह भी एक इस्लामी राज्य है। मिश्र भी प्राचीन सभ्यता तथा सस्कृति का एक मुख्य केन्द्र था किन्तु कालान्तर मे इसका भी पतन हो गया। १८७६ ई० मे इगलैण्ड तथा फ्रास ने मिश्र पर सम्मिलित अधिकार स्थापित किया। किन्तु मिश्रियों को यह अच्छा नही लगा। उन्होंने अरबी पाशा नाम के एक सैनिक अफसर के नेतृत्व मे विद्रोह कर दिया। १८८२ ई० मे यह घटना हुई। इगलैण्ड ने अकेले विद्रोह को दबाया। फ्रास ने साथ नही दिया। अतः अब मिश्र पर इगलैण्ड का ही अधिकार कायम रहा और फ्रास हट गया।

इस तरह १८८२ ई० से मिश्र इगलैण्ड के अधिकार मे रहा। अगरेजी शासन से

मिश्रियों को बहुत लाभ हो रहे थे। फिर भी विदेशी शासन होने के कारण वे इसस असन्तुष्ट ही थे। उन्होंने भी राष्ट्रीयता की लहर अनुभव की और वे दासता की बेडी से मुक्ति पाने के लिए व्यग्र हो उठे। वद नाम की एक राष्ट्रीय पार्टी स्थापित हुई। आन्दोलन शुरू हुआ। महायुद्ध के पहले एक व्यवस्थापिक सभा स्वीकृत हुई। किन्तु मिश्रवासी इसमें फँसने वाले नहीं थे। जब १६१४ ई० मे महायुद्ध शुरू हुआ तो मिश्र के गवर्नर ने तुर्की का पक्ष लिया जो जर्मनी की ओर से युद्ध मे सम्मिलित था। अतः इगलैण्ड मे मिश्र को सरक्षित राज्य घोषित कर दिया गया। युद्ध के अन्त होने पर मिश्र मे न तो आत्मनिर्णय का सिद्धान्त ही लागू किया गया और न शान्ति-सम्मेलन मे प्रतिनिधि ही भेजने का उसे अधिकार मिला। मिश्रियो को यह बात बुरी तरह अखरने लगी। उन्होंने जगलुल पाशा के पथ-प्रदर्शन मे विद्रोह छेड दिया। विद्रोह दबा दिया गया और जगलुल को जिब्राल्टर मे निर्वासित कर दिया गया। किन्तु स्थिति की जॉच करने के लिए मिलनर कमीशन नियुक्त हुआ। इस कमीशन की सिफारिश के आधार पर १६२२ ई० के प्रारम्भ मे मिश्र की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई। सुल्तान ने राज-पदवी धारण की और उत्तरदायी शासन स्थापित हुआ।

मिश्र को स्वतन्त्रता तो दी गई, परन्तु यह सीमित स्वतन्त्रता थी। चार मुख्य विषय अगरेजो के हाथ मे सुरक्षित रखे गए—स्वेजनहर की सुरक्षा, मिश्र की रक्षा, विदेशी तथा अल्पसख्यको के अधिकारो की रक्षा और सूडान पर नियन्त्रण। अत स्वाधीनता के इस टुकड़े से मिश्री खुश नही हुए किन्तु टुकड़े के मिल जाने से उनका मन बढ गया और वे पूरी स्वतन्त्रता के लिए सचेष्ट हो उठे। ब्रिटिश सरकार से बातें शुरू हुई। १६३५ ई० तक कई बार वातें चलाई गई। किन्तु ब्रिटिश सरकार कानो मे उँगली डाले बैठी रही और सभी प्रयत्न विफल हुए। १६३५ ई० मे इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया और भूमध्यसागरीय क्षेत्र की स्थिति सकटाकीर्ण हो गई। अब मिश्रियो को सन्तुष्ट करना आवश्यक समझा गया। दूसरे साल राजा फुआद की मृत्यु हो गई और फारूक सिंहासनारूढ हुआ। इसी समय इगलैण्ड तथा मिश्र मे एक नवीन सन्धि भी हुई। मिश्र को सैनिक तथा विदेशी मामलो मे स्वतन्त्रता दे दी गई। लेकिन अभी उन्हे पूर्ण स्वराज्य नही मिला। राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहा।

द्वितीय महायुद्ध मे मिश्र तटस्थ रहा और बाकी विदेशी सेना को हटाने के लिये उतावला था। १६४६ ई० मे एक ब्रिटिश प्रतिनिधि-मडल मिश्र भेजा गया। उसकी सिफारिश के आधार पर मिश्र से सभी सेना हटा ली गई। लेकिन मिश्री सूडान पर भी अपना नियत्रण चाहते थे और अगरेजो ने इसे जब स्वीकार नहीं किया तो इसे सयुक्तराष्ट्र सघ के सम्मुख उपस्थित किया गया।

अध्याय ४१

राष्ट्रीयता की धूम—दक्षिणी-पूर्वी एशिया

भूमिका

सारे एशिया मे राष्ट्रीयता की लहर व्याप्त थी। दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे भी इसकी अपूर्व धूम मची। इस भाग के राज्य तो छोटे-छोटे थे किन्तु राज्य छोटे या बड़े हो, इनके निवासी तो थे मनुष्य, उन्हे भी दिल था और सुख तथा स्वतन्त्रता की लालसा थी। उनका भी जागरण हुआ। उन्होंने भी स्वेच्छाचारी शासको और शोषक साम्राज्यवादियो के विरुद्ध लोहा लिया और अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की। अब इन्हीं वीरो की कहानी कही जायगी।

(क) हिंदेशिया

हिंदेशिया (इडोनेशिया) मे जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा मदुरा के द्वीप सम्मिलित हैं। ७ करोड़ यहाँ की जनसख्या है। रबड तथा गन्ना यहाँ के मुख्य पैदावार हैं और मिट्टी के तेल की खानें भी मिलती हैं। १४वीं शताब्दी तक यहाँ भारतीय सस्कृति फैली हुई थी और १५वीं शताब्दी मे इस्लाम धर्म प्रचलित हुआ। इस भूभाग पर डचो (हॉलैण्ड) का अधिकार था। उन्होने यहाँ के निवासियो का शोषण करने मे कोई कोर-कसर उठा नहीं रखा। लगभग साढे तीन सौ वर्षों के शासन के बाद भी शिक्षा-प्रचार के लिए कोई प्रयत्न नहीं हुआ। विद्यालय तथा चिकित्सालय जैसे उपयोगी सस्थाओं का नितान्त अभाव था। डच गवर्नर जेनरल शासन का सर्वप्रधान था। उसे सहायता देने के लिए एक कौंसिल होती थी जिसमे ६० सदस्य होते थे। इनमे २२ तो सरकारी सदस्य ही थे। स्वायत्त शासन जैसी चीज का कही नाम भी नही था। मताधिकार तो नहीं के बराबर था। डच सरकार की तूती बोल रही थी और यह भूखड हॉलैण्ड का बाजार बना था। इस तरह हिन्देशिया वासी अन्याय तथा अत्याचार को धैर्यपूर्वक सहते रहे। लेकिन धीरे-धीरे उनके धैर्य का अन्त होने लगा।

१९०९ ई० में वहाँ एक राष्ट्रीय दल की स्थापना हुई। यह दल विदेशी शासन के विरुद्ध सघर्ष करता रहा। १९१७ ई० मे बोलशेविक क्रान्ति से प्रभावित हो हिन्देशिया वालो ने अपनी स्वतन्त्रता की मॉग पेश की किन्तु १९३९ ई० तक उन्हे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सुअवसर प्राप्त नही हुआ। १९४० ई० में जब नाजियो ने हॉलैण्ड पर आक्रमण किया तो हिन्देशिया को डच अधिपत्य से मुक्त कर दिया गया। लेकिन शीघ्र ही जापान

ने उस पर अधिकार कायम कर लिया। लगभग ४ वर्षो तक यह जापान के कब्जे मे रहा। परन्तु १९४५ ई० मे जब जापान की पराजय हो गई तो हिन्देशिया ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली और डाक्टर सोकार्नो के नेतृत्व मे जनतन्त्र स्थापित किया। इगलैण्ड और हॉलैण्ड इस स्थिति को देखकर व्यग्र हो उठे और पुरानी व्यवस्था की स्थापना के लिए चेष्टा करने लगे। डच शासन बलात् पुन. स्थापित किया गया। राष्ट्रवादियो ने हिंसात्मक ढग से विरोध भी करना शुरू किया। डचो ने दमन और दण्ड की नीति अपनायी। परन्तु दमन और दण्ड के दिन तो लद चुके थे। प्रश्न सुरक्षा-परिषद् के सामने उपस्थित हुआ। भारत और आस्ट्रेलिया ने हिन्देशिया का पक्ष लिया। वस्तुत. हिन्देशिया को भारत से बहुत प्रेरणा मिलती रही है। १९४९ ई० के प्रारभ मे दिल्ली मे एशियायी प्रदेशो की एक सभा भी बुलायी गई। सुरक्षा परिषद् ने हिन्देशिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। १९५० ई० मे हिन्देशिया का जनतन्त्र स्थापित हो गया। डाक्टर सोकार्नो इसके प्रथम अध्यक्ष और डाक्टर मुहम्मद हाट्टा उपाध्यक्ष है। जोगजकार्ता इसकी राजधानी है।

(ख) हिन्द्चीन

हिन्देशिया के निकट ही हिन्द चीन है। यहॉ भी १२वीं शताब्दी तक भारतीय सभ्यता का प्रचार था। कम्बोज का राज्य इस सभ्यता का प्रधान केन्द्र था। १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे फ्रास ने इस भूभाग मे अपना आधिपत्य स्थापित किया। उस समय से यहॉ के निवासियो का शोषण होता रहा। प्रथम महायुद्ध के समय राष्ट्रपति विल्सन के आत्म-निर्णय के सिद्धान्त से हिन्द्चीन के लोगो मे भी आशा-किरण का उदय हुआ। परन्तु महायुद्ध समाप्त होने पर उनकी आशा-किरण मन्द पड गई। उन्होने फ्रास के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया लेकिन इसे कुचल डाला गया।

हिन्द चीन मे समाजवादी विचार-धारा की प्रधानता रही है। अत. इसके साथ रूस की सहानुभूति रही है। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५ ई०) के समय फ्रास को जर्मनी के सम्मुख झुकना पडा। इधर जापान ने हिन्द्चीन पर अधिकार कर लिया किन्तु उसके पतन के साथ ही यहॉ के निवासियो ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। इस देश को पुनः फ्रास के अधीन करने का सारा प्रयत्न विफल हुआ। १९४५ ई० मे हिन्द्चीन वालो ने वेतनाम नामक गणराज्य की स्थापना की। डाक्टर होचीमिन्ह इसके प्रथम अध्यक्ष हुए। तीन वर्ष पश्चात् फ्रास को भी इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

(ग) बर्मा

३१ मार्च १९३७ ई० तक बर्मा भारत का ही एक अग था। अत. यह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत था। १ अप्रैल १९३७ ई० को गवर्मेण्ट ऑफ बर्मा ऐक्ट के द्वारा यह भारत से पृथक् कर दिया गया। लेकिन अगरेजो का प्रभाव बना रहा। १९४७ ई० मे बर्मा

स्वतन्त्र हुआ और दूसरे साल के प्रारभ मे वहाँ गणराज्य की स्थापना हुई। वर्मा मे ब्रिटिश सत्ता का अन्त हो गया और वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से भी अलग हो गया। परन्तु स्वतन्त्र बर्मा मे भीषण गृहयुद्ध और भयकर रक्तपात शुरू हुआ था। किनतू के प्रधान मन्त्रित्व मे धीरे-धीरे शान्ति स्थापित होने लगी है।

(घ) लका

बर्मा की भाँति लका भी भारतवर्ष का ही एक अङ्ग रहा है। यह भारत के दक्षिण मे हिन्द महासागर मे स्थित एक छोटा द्वीप है। प्राचीन काल से ही भारत तथा लका मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यह भी अनुमान किया जाता है कि अतीत मे आजकल की भाँति दोना जल के द्वारा विभाजित नही थे बल्कि एक दूसरे से मिले हुए थे। लका के अधिकाश लोग बौद्धधर्मावलम्बी है। १८वीं शताब्दी मे अगरेजो ने इसे अधिकृत कर लिया और और १८०२ ई० मे उन्होने इसे भारत से भी पृथक् कर डाला। प्रथम महायुद्ध के समय तक इस पर उनका प्रभुत्व अक्षुण्ण बना रहा।

उक्त महायुद्ध के बाद लका वाला ने भी भारत से प्रभावित होकर शासन-सुधार के लिए आन्दोलन किया। १६२२ ई० मे व्यवस्थापक सभा मे निर्वाचित सदस्यो की सख्या बढ़ा दी गई। किन्तु अभी गवर्नर के अधिकारो मे कोई कमी नही हुई। आन्दोलन जारी रहा। १६३१ ई० मे शासन मे पुनः परिवर्त्तन हुआ। गवर्नर की सहायता के लिए एक स्टेट कौंसिल या राजपरिषद का निर्माण हुआ। इसमें ५० निर्वाचित सदस्य, ८ मनोनीत और ३ राज्याधिकारी बैठते थे। शासन-प्रबन्ध ८ मन्त्रियो, जो राज परिषद के सदस्य थे और ३ राज्याधिकारियो मे विभाजित था। गवर्नर की प्रधानता अभी भी बनी रही। इससे लका के निवासी सन्तुष्ट नही हुए। राजपरिषद् ने स्वराज्य की माँग की। १६४३ ई० मे उन्हें अपना विधान बनाने के लिए अधिकार दे दिया गया लेकिन साथ ही ब्रिटिश सरकार ने उन्हे सलाह देने के लिए एक सोलबरी कमीशन भी नियुक्त कर दिया। लका वाले इससे असन्तुष्ट हुए। दूसरे साल राजपरिषद् ने एक स्वाधीन लका बिल पास किया किन्तु सम्राट की स्वीकृति के लिए उपनिवेश मत्री ने इसे पेश ही नहीं किया। इससे लकावासी बहुत रुष्ट हुए। १६४५ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने उसकी स्वाधीनता स्वीकार कर ली और इसी आधार पर लका को एक विधान प्रस्तुत किया गया। राज परिषद् ने उस विधान को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार लका जैसे छोटे द्वीप मे भी राष्ट्रीयता की धारा प्रवाहित हुई और वह स्वाधीन हो गया। प्रथम प्रधान मत्री राष्ट्रमडल का सदस्य है और डोमीनियन की भाँति सम्राट के प्रति राजभक्ति रखता है।

(ङ) फिलीपाइन द्वीप-समूह

फिलीपाइन द्वीप-समूह प्रशान्त महासागर मे स्थित है। इसके अन्तर्गत सैकड़ो छोटे-

बड़े द्वीप हैं। यह पहले स्पेन के अधिकार मे था। १८९८ ई० मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने स्पेन को युद्ध मे पराजित कर दिया और इन द्वीपा पर अधिकार कर लिया। इन द्वीपो के निवासी भी स्वतन्त्रता के प्रेमी थे। इन्हे अमेरिका के अधीन मे रहना पसन्द नहीं था। लेकिन प्रशान्त महासागर मे जापान के उत्कर्ष के कारण अमेरिका इस भूभाग पर अपना आधिपत्य जमाये रखना भी आवश्यक समझता था। इस तरह दोना भूभागों के निवासिया के बीच सघर्ष चलता रहा। प्रथम विश्व-युद्ध के समय ही फिलीपाइन वासियों को स्वराज्य का कुछ अश प्रदान किया गया और भविष्य मे स्वतन्त्रता भी स्वीकार कर लेने की प्रतिज्ञा की गई। महायुद्ध के समाप्त होते ही १९१९ ई० मे प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए अमेरिकी सरकार से अनुरोध हुआ। अमेरिकी सरकार किसी न किसी बहाने टालमटोल करती रही। १९२४ ई० मे क्वेजन के नेतृत्व मे एक प्रतिनिधिमण्डल वाशिंगटन पहुँचा और उसी समय फिलीपाइन की व्यवस्थापिका सभा ने पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव पास किया। १९३४ ई० मे अमेरिका फिलीपाइन द्वीप-समूह को स्वाधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य हुआ। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने द्वीपवासिया के प्रति सहानुभूति दिखलायी। विधान-निर्माण के लिए एक परिषद् बुलायी गई। एक नया विधान बनाया गया जिसके अनुसार १९३५ ई० मे फिलीपाइन द्वीप-समूह मे एक जनतन्त्र (कॉमनवेल्थ) राज्य स्थापित हुआ। क्वेजन इसके प्रथम राष्ट्रपति हुए जो ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होते थे। एक ही भवन मे स्थित धारा-सभा का भी निर्माण हुआ लेकिन अभी पूरी स्वाधीनता नही प्राप्त हुई। फिलीपाइन की वैदेशिक नीति तथा न्याय-विभाग पर अमेरिका का ही अधिकार रहा। अतः कुछ लोग स्वराज्य की प्रगति से सन्तुष्ट नहीं हुए और १९४६ ई० मे उन्होने पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग पेश की। अमेरिका को यह माँग स्वीकार करनी पड़ी। लेकिन अभी भी फिलीपाइन मे अमेरिको का विशेष प्रभाव है। उन्होने कुछ प्रमुख बन्दरगाहो को प्रयोग के लिए अपने अधिकार मे रखा है।

(च) मलाया प्रायद्वीप

मलाया प्रायद्वीप के निवासियो मे भी जागरण के चिन्ह दृष्टिगोचर हुए। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इस पर अगरेजो का अधिकार था। इस युद्ध के शुरू में जापान ने इसे अपने अधिकार मे कर लिया किन्तु उसके पतन के पश्चात् यह फिर इगलैण्ड के अधिकार मे आ गया। लेकिन इस समय तक इस प्रायद्वीप के लोगो में भी राष्ट्रीयता की भावना का उदय हो गया था और वे अपनी स्वाधीनता के लिए उत्सुक थे। वहाँ सबल राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य के पैर बुरी तरह लड़खड़ाने लगे। १९४५ ई० में अंग्रेजों ने कुछ सुधार प्रचलित किया किन्तु उससे स्वाधीनता प्रेमियो को सन्तोष नही हुआ। आन्दोलन उग्र रूप मे जारी रहा। साम्राज्यवादी सरकार ने भी रौद्र रूप धारण किया

का अपहरण नहीं हुआ। परन्तु स्वतन्त्र होते हुए नेपाल निरकुशता का शिकार रहा है। यहाँ राजतन्त्र प्रणाली प्रचलित रही है। वश-क्रमानुगत राजा गद्दी पर आरूढ रहा है और वह विष्णु के वश का माना जाता है, किन्तु शासन मे उसका स्थान नगण्य रहा है। उसकी स्थिति विचित्र रही है। उसका पद न तो फ्रास के प्रेसिडेंट जैसा रहा है, न इगलैण्ड के राजा के जैसा। उसे यदि राजमहल का कैदी कहे तो कोई अत्युक्ति नही। राज्य का शासन-सूत्र एक परिवार के हाथ के सीमित रहा है जो राणा परिवार के नाम से प्रसिद्ध है। १६वीं शताब्दी के मध्य से राज्य के प्रधान मन्त्रित्व पर इसी परिवार का एकाधिकार रहा है। राज्य तथा शासन मे इसी परिवार की तूती बोलती रही है। राजा मूर्त्ति स्वरूप गद्दी पर आसीन रहा है और बेचारी प्रजा सदा से सुखी रही है। नेपाल मे इसी राणा परिवार का स्वेच्छाचारी और अन्यायी शासन स्थापित रहा है और १६५० ई० तक इसकी स्थिति मध्य-कालीन राज्य की सी रही है।

लेकिन नेपाल भी एशिया के ही अन्दर स्थित है। जब सम्पूर्ण एशिया में क्राति की लहर व्याप्त हुई और सारा महादेश राष्ट्रीयता की नाद से गूँज उठा तो नेपाल कैसे सुषुप्तावस्था मे पड़ा रहता। यहाँ भी क्राति और प्रगति के सन्देश पहुँचे और देश की पुरानी परम्परा मे परिवर्त्तन अनिवार्य हो गया। सर्व प्रथम राजा त्रिभुवन की आँखें खुली। वे राणा परिवार के हाथ का खिलौना बन कर नहीं रहना चाहते थे और अपनी मुक्ति के लिए लालायित थे। ६ नवम्बर १६५० का दिन था। राजा सपरिवार महल छोड़कर चल पड़े और उन्होंने भारतीय राजदूतावास मे शरण प्राप्त की।

तीन वर्ष का सिर्फ एक बच्चा राजमहल मे रह गया। कुछ दिनों के बाद राजपरिवार दिल्ली चला आया। आप भारतीय सरकार के माननीय अतिथि रहे और इनका शाही स्वागत हुआ। राजा त्रिभुवन ने भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू से राजनीतिक शिक्षा ग्रहण की और कुछ महीनो के बाद सकुशल सपरिवार अपने देश को लौटे। अब वे अपने देश के वैधानिक शासक स्वीकृत किये गये। इस समय तक वहाँ नेपाली काग्रेस नाम की एक राजनीतिक सस्था भी स्थापित हो चुकी थी। विधान तैयार करने के लिए एक विधान परिषद् बुलाने का निश्चय हुआ। इस बीच अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई। आरम्भ मे यह सयुक्त मन्त्रिमडल था जिसने नेपाली काग्रेस तथा राणापरिवार के प्रतिनिधि लिये गये थे। किन्तु दोनो दलों की विरोधी नीति होने के कारण यह व्यवस्था सफल न हो सकी। नवम्बर १६५१ ई० में राणा परिवार के प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल से हट जाने के लिए बाध्य हुए और श्री विसेश्वर प्रसाद के नेतृत्व मे नेपाली काग्रेस मन्त्रिमडल का सगठन हुआ। इस तरह नेपाल मे वैधानिक राजतन्त्र स्थापित हुआ और प्रजातन्त्र तथा प्रगति के युग का प्रादुर्भाव हुआ लेकिन कोइराला भ्राताओ के आपसी झगड़े और आन्तरिक कलह के कारण देश में पूर्ण शान्ति स्थापित नही है।

अध्याय ४२

पूँजीवाद का गढ़—अमेरिका

गृहनीति

आधुनिक युग मे अमेरिका पूँजीवाद का सबसे बडा गढ है। स्वतत्रता प्राप्त के पश्चात् इसके ८२ वर्षों के इतिहास (१७८३—१८६५ ई०) पर विहगम दृष्टिपात किया जा चुका है। १८६५ ई० मे पच वर्षीय गृह-युद्ध का अत हुआ किन्तु शीघ्र ही शाति स्थापित नही
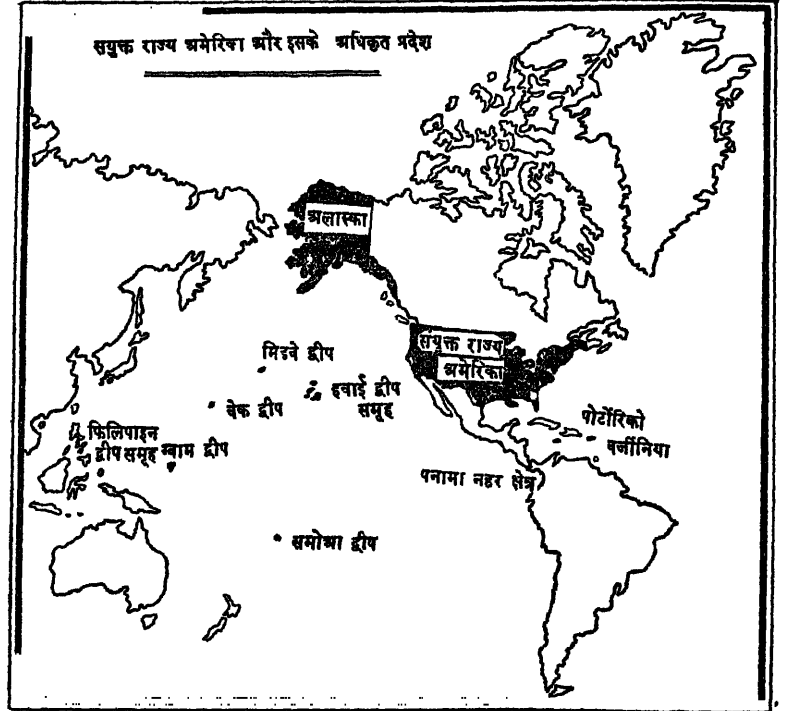
चित्र ८८

हुई। उत्तरी राज्यों ने पुनर्निर्माण की नीति अपनायी। विधान में सशोधन हुआ। नीग्रो गुलामों को नागरिकता के अधिकार प्रदान किये गये। दक्षिणी राज्यों ने उसे कार्यान्वित करना

नहीं चाहा किन्तु उत्तर के दबाव से अत मे वे सशोधन के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य हुए। नीग्रो लोगो को नागरिक अधिकार मिले और उनका प्रभाव बढा। अब अमेरिका की भौतिक उन्नति दिन-दूनी रात-चौगुनी होने लगी। यूनियन के क्षेत्र का विकास हुआ। १६वीं सदी के अन्तिम दशाब्दी मे यूनियन मे ६ राज्यों की ओर वृद्धि हुई। जो भी ५ वर्ष तक किसी भू-भाग पर रहने और काम करने के लिए तैयार होता था उसे मुफ्त भूमि दी जाती थी। यातायात के साधना मे उन्नति हुई और सारे देश मे रेल का जाल-सा बिछ गया। प्रशान्त रेलवे के निर्माण से देश के विकास मे बड़ा सहयोग मिला।

अमेरिका का औद्योगिक विकास भी बडी ही प्रगति से हुआ और आधी शताब्दी के अन्दर वह विश्व का अग्रगण्य देश बन गया। व्यवसाय मे वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रयोग होने लगा। अच्छे से अच्छे मालो का पर्याप्त मात्रा मे उत्पादन होने लगा और विश्व के बाजार पर उसका आधिपत्य स्थापित होने लगा। बड़े-बड़े नगर बस गये। आयात-निर्यात् मे वृद्धि हुई। इससे वाणिज्य-व्यवसाय, उद्योग-धन्धो का अधिक से अधिक विकास हुआ और देश धन धान्य से पूर्ण हो गया। उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ हो गयी और वहाँ के लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठ गया। कुछ दिनो मे वह विश्व मे सबसे बड़ा महाजन देश बन गया। प्रथम महायुद्ध के समय बड़े कहलाने वाले साम्राज्य भी उसके कर्जदार बने। जर्मनी से क्षति-पूर्ति की रकम वास्तव मे अमेरिका को ही मिलती थी। इगलैंड और फ्रास जर्मनी से उस रकम को लेकर अपना ऋण चुकाने के लिए उसे अमेरिका को दे देते थे। जर्मनी भी क्षति-पूर्ति की रकम देने के लिए अमेरिका से कर्ज लेता था।

औद्योगिक विकास के साथ-साथ इसकी अनेक बुराइयाँ भी उपस्थित हुईं। पूँजीपतियों की तूती बोलने लगी और उसका सगठन होने लगा। पूँजीपति-मजदूर समस्या उठ खड़ी हुई। व्यवसाय संघ स्थापित हुए और मजदूरों का भी सगठन हुआ। कुछ अन्य समस्याएँ भी उपस्थित हुई थीं। पश्चिमी दिशा की ओर विस्तार के कारण रेड इडियनों से सघर्ष करना पड़ा। उन्होने श्वेतागो का विरोध किया किन्तु अत मे झुक जाना पड़ा और वे कहीं के न रहे। लाल समस्या के अतिरिक्त पीली समस्या का भी सामना करना पड़ा। अमेरिका के आदि निवासी तो बेघर-बार के हो रहे थे, किन्तु चीनी और जापानी यहाँ आकर घर-बार बसाना चाहते थे। अधिक सख्या मे उनके आने से मजदूरी सस्ती हो जाती थी अत. अमेरिकी मजदूर उनके प्रवेश का विरोध करने लगे। अतः कानून के द्वारा उनके प्रवेश पर रोक लगा दी गई और जो पीत वर्ण वाले अभी तक वे घर-बार के भटक रहे थे उन्हें अमेरिका छोड़ देने की आज्ञा हुई। सरकार के सामने श्वेत समस्या भी थी। पीत वर्ण वाले पश्चिम किनारे की ओर आते थे तो यूरोप से श्वेत वर्ण वाले पूर्वी किनारे पर भीड़ लगाते

थे। १९वीं सदी के अंत मे दक्षिणी-पूर्वी यूरोप के निवासी आने लगे थे। वे सभ्यता और संस्कृति मे साधारण श्रेणी के थे। उनके भी आने से अमेरिका वासियो पर अच्छा प्रभाव नहीं पड रहा था। अत. प्रवेश पर भी प्रतिबन्ध लगा और प्रत्येक देश से आने वाले लोगो की एक संख्या निश्चित कर दी गई। महायुद्ध के उपरान्त कई मुख्य सुधार हुए। शराब को बन्द कर देने के लिए नियम बना किन्तु यह नियम सफल नहीं हुआ। इससे लोगो मे बहुत असन्तोष बढ गया। अत एक दशाब्दी के बाद इस पर से प्रतिबन्ध हटा दिया गया। १९१९ ई० मे विधान मे संशोधन कर स्त्रियो को मताधिकार प्रदान किया गया।

१९२१ ई० मे विल्सन और डेमोक्रेट पार्टी के शासन का अन्त हुआ। रिपब्लिकन पार्टी का उत्थान हुआ और इसी पार्टी के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। १९२१ से १९३३ ई० तक उनकी प्रधानता बनी रही। इस काल मे हार्डिंग, कुलीज और हुवर तीन राष्ट्रपति हुए। वैदेशिक क्षेत्र मे अलगाव की नीति बरती गई। आर्थिक क्षेत्र मे कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ और राष्ट्रीयता की नीति कायम रही जिसका अर्थ था आयात की चीजो पर अधिक कर। इसका फल अच्छा नहीं हुआ।

अन्य राष्ट्रो ने अपने देश मे भी अमेरिकी वस्तुओ पर कर लगाया और मालो के रूप मे अमेरिका को ऋण चुकाना स्थगित कर दिया। इससे अमेरिका के वैदेशिक व्यापार मे क्षति पहुँची। १९२९ और १९३२ ई० के बीच सारे विश्व मे ही आर्थिक संकट पैदा हुआ। १९३३ ई० मे जर्मनी में नाजी सरकार की स्थापना हुई जिसने क्षति-पूर्ति और विदेशी कर्ज को रद्द कर डाला। अब प्रथम महायुद्ध के ऋणी राष्ट्रो ने अमेरिका को भी कर्ज देना बंदकर दिया। इस तरह १९३२ ई० मे अमेरिका की आर्थिक स्थिति अव्यवस्थित हो गई। वस्तुओ तथा गल्ला का ढेर लगा हुआ था, कल-कारखाने शिथिल या बन्द हो रहे थे; बेकारो की संख्या बढ़ती जाती थी, बैंक का दिवाला हो रहा था। सर्वत्र हाहाकार-सा मचा हुआ था। ऐसी ही संकटपूर्ण स्थिति मे डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार फ्रैंकलिन रूजवेल्ट राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। ४ मार्च १९३३ ई० से १२ अप्रैल १९४५ ई० तक वे अमेरिका के भाग्य-विधाता बने रहे। वे चार बार राष्ट्रपति चुने गये। उनके पहले ३१ राष्ट्रपति हो चुके थे किन्तु किसी को भी तीसरी बार निर्वाचित होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। अमेरिका के इतिहास मे रूजवेल्ट का चार बार राष्ट्रपति निर्वाचित होना सर्वप्रथम उदाहरण था और उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा और लोकप्रियता का द्योतक है। उन्होने देश की घरेलू, वैदेशिक दोनो क्षेत्रो मे महान् परिवर्त्तन किया। उसने अपनी नीति को 'न्यूडील' के नाम से सम्बोधित किया। यह नीति न तो बिल्कुल नयी और न बिल्कुल पुरानी थी बल्कि दोनों का सामंजस्य था। परन्तु अमेरिका के लिए यह नीति बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई। इसके तीन अंग थे—पुनर्निर्माण, सहायता और सुधार, किन्तु तीनो

के बीच कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। सभी एक दूसरे से सम्बन्धित थे। सरकार की ओर से कई प्रकार के सार्वजनिक कार्य शुरू हुए और दूसरे लोगों को भी ऋण दिया जाने लगा। दीन-दुखियों को कई प्रकार से सहायता दी जाने लगी और कृषि, श्रम तथा शासन आदि विभिन्न क्षेत्रों में सुधार कार्यान्वित हुए। इस प्रकार बुराइयों को दूर कर सर्वसाधारण के दुख का अन्त किया गया और अमेरिका प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हुआ।

अप्रैल १६४५ ई० में रूजवेल्ट के मरने के बाद उपराष्ट्रपति ट्रूमन राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुए। ये भी डेमोक्रेटिक पार्टी के ही थे। अत. अभी भी रूजवेल्ट की नीति में कोई मौलिक परिवर्त्तन नहीं हुआ था। नवम्बर १६५२ ई० में रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार जेनरल आइसनहोवर राष्ट्रपति निर्वाचित हुए हैं।

वैदेशिक नीति

१७८३—१८७५ ई०

१६वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक अमेरिका ने वैदेशिक क्षेत्र में अलगाव की नीति अपनाई थी। इसके कई कारण थे। पहले तो भौगोलिक दृष्टि से पुरानी और नयी दुनिया में बहुत बड़ी दूरी थी और अभी विज्ञान के साधन आज की भाँति उन्नत नहीं थे। दूसरे, सयुक्त राष्ट्र में ही हर प्रकार के विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र था। तीसरे, अमेरिकी लोकतन्त्र अभी शैशवावस्था में था और उसके हृष्ट-पुष्ट होने के लिए शान्ति तथा सुरक्षा की आवश्यकता थी। उसके राजनीतिज्ञ नवसिख थे, पेशेवर और अनुभवी नहीं। उसकी स्थल और जल-सेना दोनों ही अपर्याप्त थीं। अभी अनेक गृह-समस्याएँ थीं जिनका पहले समाधान होना अनिवार्य था। चौथे, सयुक्त राष्ट्र स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का समर्थक था। इसके सस्थापकों के पूर्वज बृटिश शासन की स्वेच्छाचारिता के विरोधी रह चुके थे। यूरोप के निरकुश राज्यों से भी भागकर बहुत से लोग अमेरिका में शरण लेते थे। अत अभी लोगों के हृदय में स्वतन्त्रता और जनतन्त्र की भावना विशेष रूप से काम कर रही थी। पाँचवें, वैदेशिक मामले में प्रेसिडेंट का हाथ बँधा हुआ था। किसी प्रकार की सन्धि या युद्ध करने के लिए अमेरिकी सीनेट की स्वीकृति आवश्यक थी। छठे, १८२३ ई० में मुनरो सिद्धान्त की घोषणा ने पुरानी दुनिया के राज्यों में हस्तक्षेप करने पर निश्चित प्रतिबन्ध लगा दिया। सयुक्त राज्य का सर्वप्रथम प्रेसिडेन्ट जार्ज वाशिंगटन था जिसने दो बार (१७८६-६७ ई०) प्रेसिडेंट के पद को सुशोभित किया। वह शान्ति का अग्रदूत था और उसने अलगाव की नीति की परम्परा स्थापित की। उस समय सयुक्त राज्य में दो राजनीतिक पार्टियाँ काम कर रही थीं—फेडरलिस्ट और रिपब्लिकन। १७६३ ई० में इंगलैण्ड और फ्रांस के बीच युद्ध का भी श्रीगणेश हो चुका था। रिपब्लिकन पार्टी चाहती

थी कि अमेरिका फ्रास की ओर से युद्ध मे शामिल हो। फ्रास का दूत जेनेट भी इस दिशा मे प्रयत्नशील था। अमेरिकिया के स्वतन्त्रता-सग्राम मे फ्रासीसियो ने उन्हे महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया था जिसे शीघ्र ही भुलाया नहीं जा सकता था। १७७८ ई० मे दोनो मे सन्धि भी हुई थी। इगलैण्ड चाहता था कि अमेरिका उसकी ही सहायता करे, परन्तु वाशिगटन ने किसी का पक्ष नहीं लिया और तटस्थता की नीति घोषित की। इससे अमेरिकी व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। इगलैण्ड को इससे ईर्ष्या होती थी और उसने अमेरिकी जहाजों पर छापा भी मारना शुरू कर दिया। वाशिगटन ने सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस जे को सन्धि करने के लिए इगलैण्ड भेजा और दोनों मे सन्धि हो गई।

इस सन्धि की फ्रास पर प्रतिक्रिया हुई और वह बड़ा ही रुष्ट हुआ। अत: उसने अपने कर्ज को चुकाने और १७७८ ई० की सन्धि की शर्तो को कार्यान्वित करने के लिए अमेरिका पर दबाव देना शुरू किया। अमेरिका वाले भी बिगड़ उठे और फ्रास से युद्ध करना चाहते थे किन्तु लगभग १८०० ई० मे दोनों मे सन्धि हो गई, पहले की सन्धि की शर्तों को रद्द कर दिया गया और पृथकता की परम्परा सम्मानित हुई।

परन्तु एक दशाब्दियो के बाद इगलैण्ड तथा अमेरिका के बीच युद्ध के लिए परिस्थिति ने बाध्य किया। आग्ल-फ्रासीसी युद्ध १८१५ ई० तक चलता रहा। नेपोलियन ने महादेशीय नियम कार्यान्वित किया था। इगलैण्ड और फ्रास दोनों ही शत्रु के मालो के लिए अमेरिकी जहाजो की तलाशी लेने लगे। इस मामले मे इगलैण्ड फ्रास की अपेक्षा अधिक ज्यादती करता था। उसने एक जहाज को तो जला ही डाला था। कुछ अमेरिका वासी कैनेडा को भी अग्रेजों से छीन लेना चाहते थे। अतः १८१२ ई० मे दोनो मे युद्ध शुरू हो गया। १८१४ ई० में ही दोनों में सन्धि हो गई। दूसरे ही साल फ्रास के साथ भी इगलैण्ड के युद्ध का अन्त हो गया।

१८१५ से १८७५ ई० के बीच एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। वह घटना है १८२३ ई० में प्रेसिडेंट मुनरो की घोषणा। इस घोषणा में यह कहा गया कि अमेरिका के महाद्वीपों पर यूरोपीय राज्यों के द्वारा उपनिवेश नहीं बसाये जा सकते, यूरोपीय राज्य प्रणाली का प्रसार नहीं हो सकता, अमेरिका भी यूरोपीय राज्यों के मामले में नही हस्तक्षेप करेगा, न किसी प्रकार का राजनीतिक प्रचार। यह घोषणा बडी ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। इसने राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद दोनों ही को प्रोत्साहित किया। 'अमेरिका अमेरिकावासियों के लिए' सिद्धान्त स्थापित हुआ। इसके द्वार विदेशियो के लिए बन्द हो गये। परन्तु सयुक्त राज्य के लिए बिल्कुल खुल गये।

अब राष्ट्रीय शक्ति का विकास होने लगा और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का भी उदय हुआ लुईसीनिआ और पूर्वी फ्लोरिडा पर अधिकार हुआ। मेक्सिको पर आक्रमण हुआ और

टेक्सा तथा प्रशान्त महासागर के बीच के भू-भाग पर कब्जा कर लिया गया। इस तरह केलीफोर्निया पर सयुक्त राज्य का अधिकार हो गया। जहाँ शीघ्र ही सुवर्ण की खानें प्राप्त हुई। फ्लोरिडा और टेक्सा पर पहले स्पेन का प्रभुत्व था। आरेगन प्रदेश को भी हड़प लेने की कोशिश हुई। वहाँ ब्रिटेन भी प्रतियोगी था। अत. दोनो मे समझौता हुआ और आरेगन प्रदेश के अधिकाश भाग पर सयुक्त राज्य का ही अधिकार रहा। १८६७ ई० मे रूस से अलास्का खरीद लिया गया और १८७१ ई० मे ब्रिटेन से क्षति-पूर्ति की माँग पेश की गई। सयुक्त राष्ट्र का कहना था कि बृटिश सरकार की उदासीनता से ही अल्बामा नामक जहाज ने अमेरिका को बहुत क्षति पहुँचाई थी। ग्लैडस्टोन की सरकार क्षति-पूर्ति कर देने के लिए बाध्य हुई।

१८७५-१९०० ई०

१९वीं शताब्दी के चतुर्थ चरण मे सयुक्त राज्य की अलगाव की नीति जाती रही। साम्राज्यवादी नीति स्पष्ट हो गई और इसका अधिक विकास हुआ। वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते वह विश्व की राजनीति को प्रभावित करने लगा और एक विश्व-शक्ति के रूप मे उसका क्रमशः उदय होने लगा। इस परिवर्त्तन के कई कारण हैं। पहले तो यूरोपीय राज्यो के जैसा सयुक्त राज्य मे भी विज्ञान की उन्नति हुई, औद्योगिक विकास हुआ और यातायात के साधन उन्नत हुए। उसे भी कच्चे माला की आयात और बने मालो की निर्यात करने की आवश्यकता पडी। अतः विदेशी बाजारो पर अधिकार करना अनिवार्य-सा हो गया। दूसरे, यूरोप मे शक्तिनीति (पावर पोलिटिक्स) का विकास होने लगा और सयुक्त राज्य मे इस नीति ने प्रोत्साहन तथा भय दोनो ही उत्पन्न किया। उसके विस्तार के लिए प्रोत्साहन मिला और सुरक्षा के लिए भय पेदा हुआ। तीसरे, डिसरैली, रुडियार्ड, किपलिग आदि जैसे साम्राज्यवादियो के लेखों और भाषणो का भी अमेरिका पर प्रभाव पड़ा। अमेरिका मे समाचार-पत्रो का बहुत प्रचार होने लगा और यहाँ के निवासियो की उनमे विशेप अभिरुचि रही है। कई समाचारपत्र राष्ट्रीय गौरव और महत्ता का प्रचार करने लगे। चौथे, यूनियन सरकार ने भी अपनी प्रौढ़ावस्था मे पदार्पण किया और अब उसकी शक्ति मे पर्याप्त वृद्धि होने लगी। पाँचवें, अमेरिकावासियों मे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास होने लगा। अमेरिका मे विभिन्न जाति और धर्म के लोग बसे थे और धीरे धीरे उनका जातीय मिश्रण हो गया। अतः अमेरिकावासी सदा ही सुधार और परिवर्त्तन के समर्थक रहे हैं। यह उनकी प्रगतिशीलता का द्योतक है। छठे, अमेरिका की भौगालिक स्थिति ऐसी अनुकूल है कि वह पूरब और पश्चिम दोनो दिशाओ में विस्तार और सम्पर्क स्थापित कर सकता है। सातवें, मुनरो सिद्धान्त ने अमेरिका के महाद्वीपो को विदेशियो से मुक्त कर दिया। अतः सयुक्त राज्य ने इससे भी समुचित लाभ उठाया और अपने महाद्वीप मे प्रसार

किया। आठवें, १९वीं सदी के अन्त से जापानी साम्राज्यवाद का विकास होने लगा था और इससे फिलिपाइन द्वीपो को खतरा उपस्थित हुआ जो सयुक्त राज्य के अधिकार मे आ गया था। इन्हीं कारणो से सयुक्त राज्य साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हुआ।

सर्वप्रथम सामुद्रिक शक्ति का विकास किया गया। १९०० ई० तक इगलैण्ड को छोड कर अन्य कोई राष्ट्र उसकी जल-शक्ति की समानता नहीं कर सकता था। लैटिन अमेरिका मे भी व्यापार-वृद्धि के लिए प्रयत्न हुआ। प्रेसिडेंट क्लिवलैण्ड के शासन-काल (१८९३-९७ ई०) मुनरो सिद्धान्त का व्यापक अर्थ लगाया गया और सयुक्त राज्य-अमेरिका ने लैटिन अमेरिका का सरक्षक होने का दावा उपस्थित किया। उसने पश्चिमी गोलार्द्ध में अपना नेतृत्व तथा आधिपत्य घोषित किया। वेनजुएला और ब्रिटिश गायना के बीच सीमा सम्बन्धी मतभेद उत्पन्न हो गया था। जब दोनो मे समझौता नहीं हुआ तो क्लिवलैण्ड की सरकार ने हस्तक्षेप किया। राज्य-मत्री ओलनी ने अमेरिका महाद्वीपा मे सयुक्तराज्य को सर्वोच्च शक्ति घोषित किया और इगलैण्ड की इच्छा के विरुद्ध एक जॉच समिति नियुक्त की गई जिसका निर्णय मानने के लिए वह बाध्य हुआ। अब केस्पियन समुद्र मे सयुक्त-राष्ट्र की प्रधानता निश्चित-सी हो गई। यही अन्तिम समय था जबकि दोनों मे सघर्ष की नौबत उपस्थित हुई थी। तब से दोना देशों मे मित्रता रही है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे दोना ही एक दूसरे के सहयोगी रहे हैं।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में ही प्रसार से सयुक्तराष्ट्र सन्तुष्ट नहीं रहा। उसकी दृष्टि समुद्र पार की ओर गई। प्रशान्त महासागर मे फिलिपाइन आदि द्वीपा पर स्पेन का प्रभुत्व था। पश्चिमी द्वीप समूह मे क्युबा आदि द्वीप भी स्पेन के ही अधिकार मे थे। क्युबा मे निरतर अव्यवस्था फैली रहती थी, जिससे वहाँ के निवासी असतुष्ट रहते थे। स्पेन वाले उनके साथ बडा हो क्रूर व्यवहार करते थे। अमेरिका के पूँजीपतियो ने वहाँ अपनी पूँजी लगायी थी किन्तु कुशासन के कारण उनके व्यापार मे बाधा पडती थी। अत. सयुक्तराज्य क्युबा की स्वतन्त्रता चाहता था। १८९८ ई० मे सयुक्त राज्य का एक जहाज हावेना बन्दरगाह मे नष्ट हो गया। अमेरिकी सरकार ने इसके लिए स्पेन को उत्तरदायी ठहराया और दोनो मे युद्ध शुरू हो गया। स्पेन पराजित हुआ। अमेरिकी सरक्षण मे क्युबा स्वतन्त्र घोषित हुआ। स्पेन पश्चिमी द्वीपसमूह मे पोर्टोरीको को और प्रशान्त महा-सागर मे फिलिपाइन द्वीप-समूह को अमेरिका के हाथ सौप देने के लिए बाध्य हुआ। फिलिपाइन द्वीप के लिए उसे अमेरिका से कुछ रकम भी मिली।

अमेरिकी साम्राज्यवाद के विकास में स्पेनिश युद्ध एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। सर्वप्रथम सयुक्तराज्य ने अपनी सीमा के बाहर उपनिवेश प्राप्त किया। पोर्टोरिको मिलने से कैरेबियन समुद्र में और फिलिपाइन मिलने से प्रशान्त महासागर मे उसका प्रभाव बढा। अब

पश्चिमी द्वीप-समूह और सुदूर पूर्व मे एक शक्ति के रूप मे उसका प्रवेश हुआ। प्रशान्त महासागर मे उसके स्वार्थों मे वृद्धि होने लगी और उसकी रक्षा के लिए वह सचेष्ट रहने लगा। १८९८ ई० मे ही हवाई द्वीप पर अधिकार कर लिया गया। दूसरे साल जर्मनी और ब्रिटेन से सधि कर सामोआ द्वीप पर आधिपत्य स्थापित हुआ। इसी साल हेग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ और सयुक्त राज्य ने भी उसम भाग लिया। फिर अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए उसने चीन मे हस्तक्षेप कर 'मुक्त द्वार' (ओपेन डोर) की नीति का समर्थन किया। इसका यह अर्थ था कि चीन के व्यापार तथा व्यवसाय मे सभी राष्ट्रो को समान अवसर मिले और चीनी साम्राज्य का विभाजन न हो। १९०० ई० मे चीनियों ने विदेशियो के विरुद्ध जब विद्रोह किया तो उसे दबाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना भेजी गई। इसमे सयुक्तराज्य की सेना भी सम्मिलित थी। वह जापान के उत्थान को भी शका की दृष्टि से देखता रहा और उसके प्रति सजग रहा।

१९०१-२१ ई०

१९वीं और २०वीं सदियो के सन्धि-काल मे सयुक्तराज्य का भी विश्व-शक्ति के रूप मे परिवर्त्तन हो रहा था। वर्तमान शताब्दी मे उसकी इस शक्ति मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। १९०१ और १९१४ ई० के बीच ३ प्रेसिडेंट हुए—थ्योडोर रूजवेल्ट (१९०१-८ ई०), विलियम होवार्ड टाफ्ट (१९०९-१३ ई०), और वुडरो विल्सन (१९१३-२१ ई०)। ये तीनो गृह-नीति मे तो उदारवादी थे किन्तु वैदेशिक नीति मे साम्राज्यवाद के प्रवर्त्तक थे यद्यपि उनके उद्देश्यो मे विभिन्नता थी। रूजवेल्ट सैनिक कूट नीति प्रतिष्ठा के, टाफ्ट डालर कूटनीति या आर्थिक साम्राज्यवाद के और विल्सन नैतिक कूट नीति या नैतिक साम्राज्यवाद के समर्थक थे।

ब्रिटिश कनाडा और अमेरिकी अलास्का के बीच सीमा सम्बन्धी झगडा चल रहा था। रूजवेल्ट ने इसका अपने हित के अनुसार निर्णय कर दिया। तत्पश्चात उसने १८५० ई० की सन्धि को रद्द कर ब्रिटेन के साथ एक नया समझौता किया और पनामा नहर पर सयुक्तराज्य का एकाधिकार स्थापित कर लिया। पनामा कोलम्बिया का एक प्रान्त था। अत कोलम्बिआ की सरकार ने सयुक्तराज्य के एकाधिकार का विरोध किया। किन्तु सयुक्त-राज्य ने घोषणा की कि वह पश्चिमी गोलार्द्ध मे पुलिस अफसर के जैसा है और आवश्यकता पड़ने पर सशस्त्र हस्तक्षेप कर सकता है। लैटिन गण-राज्यो ने इस घोषणा का भी घोर विरोध किया। परन्तु सयुक्तराज्य ने सभी विरोधो को दबा दिया। उससे प्रेरणा पाकर पनामा वालो ने कोलम्बिया के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। अब नहर क्षेत्र को पनामा से खरीद कर निर्माण-कार्य तीव्र गति से शुरू हुआ और १९१४ ई० तक यह पूरा भी हो गया। इस नहर के बनने मे अटलांटिक और प्रशान्त महासागर मे

आने का मार्ग सरल हो गया और मध्य अमेरिका मे सयुक्तराज्य की तूती बोलने लगी।

सुदूर पूर्व मे भी सयुक्तराज्य ने हस्तक्षेप किया। चीन मे मुक्त-द्वार की नीति का समर्थन होता रहा किन्तु जापानी साम्राज्यवाद के कारण यह नीति बहुत प्रभावकारी सिद्ध नहीं हो रही थी। १९०४-५ ई० मे रूसी-जापानी युद्ध हुआ। सयुक्तराज्य ने हस्तक्षेप कर दोनो मे सधि करा दी। किन्तु जापान सधि की शर्तो से सतुष्ट नहीं हुआ। विजेता होते हुए भी जापान की कूटनीतिक पराजय हो गई। १९०७ ई० मे जापानी मजदूरों के अमेरिका मे आने पर रोक लगाया गया। दूसरे साल जापान और सयुक्तराज्य मे समझौता हुआ और प्रशान्त महासागर मे तत्कालीन स्थिति को स्वीकार किया गया।

लैटिन अमेरिका और सुदूर पूर्व के अतिरिक्त यूरोपीय राज्यो के मामले मे सयुक्तराज्य ने हस्तक्षेप किया। १९०५ ई० मे मोरक्को पर आर्थिक अधिकार के लिए फ्रास तथा जर्मनी मे तनातनी थी। सयुक्तराज्य के प्रयास से अलजेसिस मे एक कान्फरेस हुई जिसमें उसके भी प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। फ्रास तथा जर्मनी मे समझौता हो गया। जर्मनी की कूटनीति पराजय हुई और फ्रास को विशेष लाभ हुआ।

प्रथम महायुद्ध में अमेरिका का प्रवेश

१९१४ ई० मे प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। सयुक्तराज्य तटस्थ रहा और दोनो पक्षो से अपना व्यापारिक सम्बन्ध बनाए रखा। परन्तु अप्रैल १९१४ ई० मे उसे भी युद्ध मे सम्मिलित होना पड़ा। ग्रेट-ब्रिटेन से उसकी निकटता थी क्योकि दोनो मे सास्कृतिक और राजनीतिक समता थी। दूसरे, रूस मे जार का पतन हो गया जो मित्र राष्ट्रो की ओर से युद्ध मे शामिल था। तीसरे, जर्मनी ने तटस्थ बेल्जियम के अधिकारो की उपेक्षा की। चौथे, वह सामुद्रिक युद्ध मे भी सीमा का उल्लघन कर ब्रिटिश तथा अमेरिकी जहाजों पर अपना हाथ साफ करने लगा जिससे अमेरिका धन-जन दोनो की ही बर्बादी होने लगी। अत. अपने स्वार्थ और सुरक्षा के हेतु सयुक्तराज्य भी युद्ध मे कूद पड़ा।

अमेरिका के प्रवेश से युद्ध की गति-विधि मे महान् परिवर्त्तन हुआ। विलसन के व्यक्तित्व तथा आदर्शवादी विचारो के कारण अमेरिका वासियों तथा अन्य देशों की जनता का भरपूर नैतिक समर्थन प्राप्त हुआ। उसने जनतन्त्र तथा 'आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों की घोषणा की जिससे लोगो मे जर्मनी के विरुद्ध नयी उत्साह की लहर बड़े वेग से उमड़ पड़ी। अमेरिकी सरकार ने भी बड़ी तत्परता दिखलायी। उसने मित्र राष्ट्रों की धन-जन और युद्ध की सामग्रियों से दिल खोलकर सहायता की। उसने कई उद्योग-धन्धो को अपने अधिकार में कर लिया, नागरिकों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाया और टैक्स मे वृद्धि की। उसकी सहायता सफल भी सिद्ध हुई, मित्रराष्ट्र विजयी होकर निकले।

यह सत्य है कि अमेरिका के सहयोग से मित्र-राष्ट्र विजयी हुए किन्तु अमेरिका की भूमि पर कोई युद्ध नही हुआ और उसे कोई बडी क्षति नही उठानी पड़ी। अत. वह जर्मनी के साथ सन्धि की शर्तों को निर्धारित करे ऐसा मित्र राष्ट्र नहीं चाहते थे। विल्सन आदर्शवादी था और विश्व मे शान्ति स्थापित करने के लिए उत्सुक था। किन्तु फ्रास का प्रधान मत्री क्लेमाशु व्यावहारिक था अत. दोनो के आदर्शवाद और यथार्थवाद मे सघर्ष हुआ और विल्सन को बहुत सी बातो मे झुक जाना पडा। फिर भी विल्सन ने पेरिस के शान्ति-सम्मेलन मे सक्रिय भाग लिया और अपने व्यक्तित्व से इसे प्रभावित किया। उसने सम्मेलन के पथ-प्रदर्शन के लिए १४ शर्तें निर्धारित कर दी थी जिसमे निरस्त्रीकरण, मुक्त व्यापार, स्पष्ट कूटनीति, सामुद्रिक निर्बाधिता आदि प्रमुख थी। उसी के प्रयास और प्रेरणा से राष्ट्रसघ का निर्माण हुआ और उसे वर्साई की सन्धि मे सम्मिलित किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य ४ बातो मे विल्सन की विजय रही। मैंडेट प्रणाली प्रचलित की गई जिसके अनुसार जर्मन उपनिवेश राष्ट्रसघ की सरक्षणता मे महान् राज्या के अधीन सौपे गये। दूसरे, फ्रास चाहता था कि राइनलैण्ड पर उसका अधिकार रहे। किन्तु जब सयुक्त राज्य और ब्रिटेन ने जर्मनी से उसकी रक्षा करने का बीडा उठाया तो उसने अपनी माँग छोड दी। तीसरे, गुप्त सन्धि के अनुसार इटली को फ्यूम तथा अफ्रीकी उपनिवेश अपने साम्राज्य मे मिलाने की आज्ञा नही मिली। चौथे, जापान को शैंटग प्रायद्वीप अपने साम्राज्य मे नहीं मिलाने दिया गया।

१६२१—३३ ई०

वर्साई की सन्धि हो चुकी किन्तु इसे अमेरिकी जनता ने स्वीकार नहा किया। वह पृथकता की नीति के पक्ष मे थी। अतः राष्ट्रसघ मे सम्मिलित होने से विल्सन का ही देश वञ्चित रह गया। अब अगले १३ वर्षों तक अलगाव की नीति के समर्थको की प्रधानता रही। इस काल मे रिपब्लिकन पार्टी के हाथ मे शासन-सूत्र था और इस दल के ३ प्रेसिडेंटोने गद्दी को सुशोभित किया था—हार्डिंज, कुलीज और हूमर। अत. १६३३ ई० तक सयुक्त राज्य विश्व की राजनीति मे सक्रिय भाग नही ले सका। फिर भी एक निष्क्रिय पर्यवेक्षक की स्थिति उसकी नही रही। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों मे भाग लेता रहा और विकट समस्याओ के सुलझाने मे हाथ बँटाता रहा क्याकि विश्व-शान्ति-स्थापना मे उसका भी स्वार्थ निहित था। १६२१ ई० में वाशिंगटन मे एक सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें जहाजी शक्ति को सीमित करने के सम्बन्ध में विचार हुआ और कुछ सफलता भी मिली। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रास और जापान—इन चार राज्यो के बीच जहाज सम्बन्धी समझौता हुआ। सयुक्त राज्य और ब्रिटेन ने बड़े जहाजो के सम्बन्ध मे समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया। ६ राष्ट्रों के बीच सुदूर पूर्व के सम्बन्ध मे समझौता हुआ। चीन

में मुक्त द्वार और प्रादेशिक सुरक्षा की नीति दुहराई गई। मचूरिया और शौटग मे जापान का आर्थिक स्वार्थ स्वीकार किया गया किन्तु शौटग से सेना हटा लेने की आज्ञा दी गई। १६३० ई० मे पुनः लदन मे ब्रिटेन, सयुक्त राज्य तथा जापान के बीच समझौता हुआ। १६३२ ई० में जेनेवा मे विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ और उसमे भी सयुक्त राज्य ने भाग लिया। १६२८ ई० में केलाग-ब्रायड पैक्ट हुआ। केलाग सयुक्त राज्य के ही राज्य मत्री थे। इसे पेरिस का पैक्ट भी कहते हैं। राष्ट्रनीति के रूप म युद्ध का परित्याग करना इसका उद्देश्य था। धीरे-धीरे ६२ राज्या ने इसे स्वीकार किया। क्षति-पूर्त्ति की समस्या हल करने के लिए १६२३ ई० मे डान्ज और १६२६ ई० मे यग योजनाएँ बनी और इनके अध्यक्ष अमेरिका के ही निवासी थे। युद्ध-ऋण के सम्बन्ध मे सयुक्त राज्य ने एक कमीशन नियुक्त किया जिसने रूस को छोडकर १५ ऋणी राष्ट्रा से समझोता किया। १६२६—३१ ई० मे जब सारे विश्व मे आर्थिक सकट उत्पन्न हुआ तो प्रेसिडेंड हूमर ने मोरेटोरियम की घोषणा की और एक वर्ष के लिए कर्ज की चुकती को स्थगित कर दिया। १६३२ ई० मे ब्रिटेन तथा फ्रास ने प्रस्ताव किया कि यदि युद्ध-ऋण के सम्बन्ध में सन्तोषजनक समझौता हो जाय तो वे क्षति-पूर्ति की रकम का ६० प्रतिशत त्याग देंगे। सयुक्त राज्य ने उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। १६३३ ई० मे जर्मनी मे नाजी सरकार की स्थापना के साथ ऋण और क्षति-पूर्त्ति की समस्या का स्वत. अत हो गया। हिटलर ने क्षति-पूर्त्ति देना बन्द कर दिया और ऋणी राष्ट्रों ने अमेरिका को ऋण चुकाना स्थगित कर दिया।

१६२२ और १६३२ ई० के बीच सयुक्त राज्य से जर्मनी कर्ज लेकर ब्रिटेन तथा फ्रास को क्षति-पूर्त्ति की रकम देता था और ये दोनों राष्ट्र फिर सयुक्त राज्य को ऋण चुकाते थे, यानी अमेरिका का रुपया अमेरिका मे ही जाता था। किन्तु हिटलर ने जब कर्ज को रद्द कर डाला तो जर्मनी बहुत ही लाभ मे रहा और सयुक्त राज्य घाटे में।

विश्व कोर्ट में भी अमेरिका के प्रेसिडेंट अपने देश का प्रतिनिधित्व चाहते थे किन्तु इसमे उन्हे सफलता नहीं मिली। इस तरह शान्ति-स्थापना की दिशा मे अमेरिका सहयोग देता रहा किन्तु उसका सहयोग विशेष प्रभावकारी नहा सिद्ध हुआ। १६३१ ई० मे जापान ने मचूरिया पर आक्रमण किया और राष्ट्रसघ को अँगूठा दिखा दिया। इसके दो कारण हैं—एक तो अमेरिका राष्ट्रसघ का सदस्य नहीं था और दूसरे रिपब्लिकन सरकार ने आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति अपनाई थी। फिर भी अमेरिका ने मचुको सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की।

१६३३—४५ ई०

हम देख चुके हैं कि १६२६ और १६३२ ई० के बीच सयुक्त राज्य की आर्थिक स्थिति

डॉवाडोल थी तथा १६३३ ई० में डेमोक्रेट पार्टी के हाथ में शासन-सूत्र आया और फ्रैंक-लिन रुजवेल्ट प्रेसिडेंट हुए। १२ वर्षों तक अमेरिका के भाग्य-विधायक बने रहे। वे आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीयता और सक्रिय वैदेशिक नीति के समर्थक थे। उनके सेक्रेटरी कौर्डलहल का भी दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय था। किन्तु १६४० ई० तक कांग्रेस में पृथकता के समर्थकों का ही बोलबाला बना रहा और प्रेसिडेंट तथा सेक्रेटरी वैदेशिक नीति में सक्रियता नहीं ला सके।

प्रारंभ में आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति ही कायम रही। १६३३ ई० में लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ। कौर्डलहल ने इसमें भाग लिया। रुजवेल्ट ने एक संदेश भेजा जिसमें उसने मुद्रा-सुधार की योजना की कटु आलोचना की। यह सम्मेलन की विफलता का एक कारण हुआ। किन्तु तीन वर्ष बाद ब्रिटेन तथा फ्रांस के साथ संयुक्तराज्य ने भी अपनी मुद्रा को दृढ़ करने का उपाय किया।

रुजवेल्ट शासन ने लैटिन अमेरिका के साथ मित्रता की नीति कार्यान्वित की। वे इसे उत्तम पड़ोसी नीति (गुड-नेबर पालिसी) कहा करते थे। उन्होंने मुनरो सिद्धान्त का नया अर्थ किया। इसकी रक्षा का भार केवल संयुक्तराज्य पर ही नहीं बल्कि अमेरिका के प्रत्येक राष्ट्र के ऊपर था। सभी राष्ट्र एक समान घोषित किये गये और अमेरिका में यूरोप के हस्तक्षेप को रोकना सब का कर्त्तव्य था।

१६३५ और १६३८ ई० के बीच अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति डॉवाडोल थी और अव्यवस्था का साम्राज्य फैल रहा था। हिटलर वर्साई की सन्धि की शर्तों का एक-एक कर तोड़ रहा था। मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर इसे हड़प लिया। १६३७ ई० में जापान ने बिना युद्ध घोषित किए चीन पर आक्रमण कर दिया जिसका आगे चलकर द्वितीय महायुद्ध में विलयन हुआ। १६३७—३८ ई० में स्पेन में गृह-युद्ध चल रहा था जिसमें जनतन्त्र का गला घोटा जा रहा था और गला घोटने वालों को फासिस्ट इटली तथा नाजी जर्मनी की ओर से सहायता मिलती थी। १६३८ ई० में हिटलर ने आस्ट्रिया पर अपना हाथ साफ किया और जेकोस्लोवेकिया के सुडेटनलैण्ड की माँग पेश की। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चेम्बर लेन जर्मनी आये और लज्जाजनक म्युनिक पैक्ट हुआ। हिटलर के पैर पर सुडेटनलैण्ड और जेकोस्लोवाकिया की बलि चढ़ाई गई।

ऐसी विषम परिस्थिति में भी अमेरिकावासियों पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। वे किसी भी मूल्य पर शान्ति-स्थापना के ही इच्छुक बने रहे। १६३५ और १६३७ ई० के बीच कांग्रेस ने तटस्थता सम्बन्धी कई कानून पास किये। उनके द्वारा यह घोषणा की गई कि अमेरिका युद्ध में व्यस्त देशों से व्यापारिक सम्बन्ध नहीं रखेगा और उन्हें न तो युद्ध

सामग्री मिलेगी और न देशों के जहाजों मे भी कोई अमेरिकावासी कहीं सफर कर सकता था। युद्ध-सामग्री को छोड़कर यदि किसी अन्य चाज की आवश्यकता होती तो कोई देश उसका मूल्य चुका कर अपने ही जहाज मे ले जा सकता था। इस तरह काग्रेस ने पृथकता की नीति का समर्थन किया। इसके कई कारण थे। प्रथम महायुद्ध के परिणामों से अमेरिका मे निराशा छाई हुई थी। दूसरे, हस्तक्षेप की नीति से अमेरिका वासियों को बहुत क्षति की सम्भावना दीख पडती थी। तीसरे, उन्हे विश्वास था कि उनकी पृथकता की नीति से विश्व मे युद्ध ही नहीं होगा और शान्ति बनी रहेगी। चौथे, एकतन्त्र के खतरों से अभी पूरे परिचित नहीं हो पाये थे।

परन्तु रुजवेल्ट तो पृथकता की नीति से अधीर हो रहे थे। उन्होंने इसका विरोध किया। उन्होने जापान की नीति की कटु आलोचना की और वे चीन को सहायता देते रहे। १६३८ ई० मे उन्होंने शस्त्रीकरण का समर्थन किया और एक जहाजी बिल पास हुआ। दूसरे साल हिटलर ने रूस से सधि की, जेकोस्लोवेकिया को हड़प लिया और पोलैण्ड पर आक्रमण किया। अब द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रारम्भ हो गया। हिटलर विजय पर विजय करता गया। पोलेण्ड, हालैण्ड, बेल्जियम, डेनमार्क, नार्वे सभी पराजित हो गये। १६४० ई० मे फ्रास ने भी हथियार डाल दिया, ब्रिटेन पर भी आक्रमण होने लगा। अब अमेरिका मे भी अपनी सुरक्षा का भय हुआ और जातीय समता होने से ब्रिटेन के प्रति अमेरिका वासियों की सहानुभूति जाग्रत हुई। इसी समय राष्ट्रपति का चुनाव आया और दोनो पक्षों ने ब्रिटेन की सहायता पर जोर दिया। रूजवेल्ट ही तीसरे बार राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। अतः अब तटस्थता के नियम मे शिथिलता लायी गई और मित्रराष्ट्रों को सहायता दी जाने लगी। सितम्बर १६४० ई० मे अनिवार्य भर्ती बिल पास हुआ और सेना मे वृद्धि होने लगी। उसी समय अमेरिका ने ग्रेट ब्रिटेन को ५० पुराने विध्वसक जहाज दिये और इसके बदले मे न्यूफाउन्डलैण्ड से लेकर ब्रिटिश गायना तक ६६ वर्ष के लिए कई जहाजी अड्डों का ठीका ले लिया। लैटिन राज्यों के साथ समझौता हुआ और सयुक्त राज्य ने उनकी रक्षा का बीड़ा उठाया। कैनेडा मे भी मुनरो सिद्धान्त का प्रसार हुआ और एक सम्मिलित रक्षा समिति बनी। १६४१ ई० मे उधार-पट्टा (लैन्डलीज) बिल पास हुआ जिसने तटस्थता की नीति पर आखिरी चोट किया। इसके द्वारा युद्ध मे निरत लोकतन्त्रात्मक देशों को सहायता करने के लिए सयुक्त राज्य ने अपनी नीति घोषित की और अब मित्र-राष्ट्रों को दिल खोल कर सहायता दी जाने लगी। अगस्त १६४१ ई० मे ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल और रूजवेल्ट का अटलाटिक महासागर मे एक युद्ध-पोत पर मिलन हुआ। दोनों ने एक सम्मिलित घोषणा की जो अटलाटिक चार्टर के नाम से विख्यात है। यह मित्रराष्ट्रों के युद्ध के उद्देश्यों का घोषणा-पत्र था। यह विल्सन के १४ सूत्रों का

नवीन तथा सरल रूप था। नये प्रदेशो पर अधिकार नही करना, बिना लोकमत के किसी प्रदेश की सीमा मे परिवर्त्तन नहीं करना, पराजित राष्ट्रो की सत्ता और स्वतत्रता को पुनर्स्थापित करना, सब लोगो को अपनी शासन-प्रणाली चुनने का अधिकार देना, सभी मनुष्यो को समुद्र पर समान सुविधा प्रदान करना, सभी राष्ट्रों के साथ आर्थिक सहयोग रखना, युद्ध तथा अभाव से लोगो को मुक्त करना और अन्तर्राष्ट्रीय झगडो के निर्णय मे बल-प्रयोग का परित्याग करना—ये ही चार्टर के सिद्धान्त थे।

द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका का प्रवेश

परन्तु अभी तक सयुक्त राज्य प्रत्यक्षरूप से युद्ध मे सम्मिलित नही हुआ। लेकिन अब बहुत दिना तक वह युद्ध से अलग भी नही रह सकता था। सुदूरपूर्व और प्रशान्त महासागर मे जापान का अधिकार बढ़ रहा था। इससे हवाई और फिलिपाइन द्वीप के लिए सभी सकट उपस्थित हो रहे थे। ६ दिसम्बर १९४१ ई० को रूजवेल्ट ने जापान सम्राट के पास शाति के लिए अपील भेजी किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं पडा। दूसरे ही दिन हवाई द्वीप के पर्लहार्बर पर जापानियो ने आकाश से बम गिराये। सयुक्त राज्य के अधीन अन्य राज्यो पर भी आक्रमण हुआ। अब तो सयुक्त राज्य की ही सुरक्षा खतरे से खाली नहीं रही और पृथकता की नीति के समर्थको के भी होश ठिकाने आ गये। सयुक्त राज्य ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी और इटली ने भी सयुक्त राज्य के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

अब सयुक्त राज्य भी मित्रराष्ट्रो के साथ कन्धे से कन्धे मिलाकर आक्रमणकारियो से लड़ने लगा। युद्ध-सामग्रियो की तैयारी विस्तृत पेमाने पर और तीव्र गति से होने लगी। समुद्री तथा हवाई जहाजों मे वृद्धि हुई। सेना का भी विस्तार हुआ। कारखानो मे मजदूर भी बढ़ चले। इस तरह युद्ध-सचालन पर सयुक्त राज्य पानी की तरह अपना सिक्का बहाने लगा। सितम्बर १९४३ ई० मे मास्को मे परराष्ट्र मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमे अमेरिका, रूस तथा ब्रिटेन ने भाग लिया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे मिलकर काम करने के लिए तय हुआ और एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना पर जोर दिया गया। १९४३ और १९४५ ई० के बीच मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियो के कई महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुए। तेहरान (ईरान) ब्रेटन वुड्स, (सयुक्त राज्य) डुम्बार्टन ओक्स, (सयुक्त राज्य) और याल्टा (क्रीमिया) के सम्मेलन बहुत ही मुख्य हैं। याल्टा का सम्मेलन फरवरी १९४५ ई० मे हुआ। इस बीच १९४४ ई० मे रूजवेल्ट चौथी बार राष्ट्रपति चुने गये किन्तु याल्टा सम्मेलन के बाद उनका स्वर्गवास हो गया और ट्रूमन राष्ट्रपति हुए। डुम्बार्टन ओक्स सम्मेलन में सयुक्त राज्य, ब्रिटेन, रूस

और चीन के प्रतिनिधियो ने भाग लिया और राष्ट्र-सघ के बदले सयुक्त राष्ट्र-सघ स्थापित करने का विचार किया। याल्टा सम्मेलन मे इसके सगठन पर विचार करने के लिए २५ अप्रैल को सेन्फ्रासिस्को मे एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय हुआ। उसमे यह भी तय हुआ कि जर्मनी के पराजय के बाद उस पर सयुक्त राज्य, ब्रिटेन तथा रूस तीनो का अधिकार होगा और जर्मनी की सेना शस्त्रहीन कर भग कर दी जायगी। याल्टा सम्मेलन के निश्चय के अनुसार सेन्फ्रासिस्का मे २५ अप्रेल को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन शुरू हुआ जो २६ जून तक चलता रहा। इस बीच मई मे जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया। जुलाई मे पोट्सदम (जर्मनी) मे एक सम्मेलन हुआ जिसमे ट्रूमन, चर्चिल और स्टालिन उपस्थित थे। इसमे जर्मनी की व्यवस्था पर विचार हुआ। अभी तक जापान के साथ युद्ध चल ही रहा था। अमेरिका ने अणु बम का प्रयोग किया और उसके हिरो सीमा और नागासाकी नामक नगरो को भस्मीभूत कर डाला। अब जापान ने भी अगस्त मास मे अपना सिर झुका दिया। द्वितीय महायुद्ध की इतिश्री हो गई।

१९४५—५२ ई०

सेन्फ्रासिस्को मे सयुक्त राष्ट्र सगठन का जन्म हुआ। उसकी स्थापना में सयुक्त राज्य से बडी प्रेरणा मिली। ५ सदस्यों की एक सुरक्षा-परिषद कायम हुई जिसमे एक स्थान सयुक्त राज्य को दिया गया है। जिस तरह १८१५ ई० मे ब्रिटेन की प्रधानता स्थापित हुई उसी प्रकार १९४५ ई० मे सयुक्त राज्य अमेरिका की तूती बोल रही थी। दुर्भाग्यवश युद्धोत्तर काल मे अमेरिका और रूस मे तनातनी बढने लगी और विश्व की राजनीति इन्ही दो शक्तियो मे केन्द्रीभूत-सी होने लगी। कई देशो मे कम्युनिस्ट पार्टियाँ कायम होने लगी हैं और रूस उन्हें मदद देने लगा है। पूर्वी यूरोप के प्रायः सभी देशों मे साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो गई और यूगोस्लेविया के अतिरिक्त सर्वत्र रूस की धाक जमी हुई है।

इन देशो मे बृटिश और अमेरिका की पूँजी का भी अन्त कर दिया गया। युद्ध के अन्त होते ही १९४६ ई० से चीन मे भी राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टो के बीच सघर्ष प्रारम्भ हो गया और कम्युनिस्टो की शक्ति मे वृद्धि होती रही। अतः युद्ध के पश्चात् अमेरिका की वैदेशिक नीति का प्रधान उद्देश्य है साम्यवादी प्रवृत्ति को रोकना और अपने पक्ष मे राज्यों का सगठन करना। साम्यवाद का वही प्रचार सफल होता है जहाँ गरीबी, भुखमरी और बेकारी की बीमारियाँ फैल रही हैं। सयुक्त राज्य तो पूँजीवाद का विशाल गढ है। अत उसने बहुत से देशो को आर्थिक सहायता देना शुरू कर दिया।

मार्च १९४७ ई० मे इसी आशय की ट्रूमन ने अपनी सरकार की नीति घोषित की

जो ट्रमन सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। इसके अनुसार यूनान तथा तुर्का को सैन्य तथा आर्थिक सहायता दी जाने लगी। चीन मे चागकाई शेक के अधीन राष्ट्रवादी सरकार को भी भरपूर आर्थिक सहायता दी गई। किन्तु सारी सहायता बेकार सिद्ध हुई क्योंकि कम्युनिस्ट ही सफल हुए और उन्होने अपनी सरकार भी कायम कर ली।

पश्चिमी यूरोप की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयत्न हुआ। इसके लिए अमेरिका के राज्य मत्री जेनरल मार्शल ने जून १९४७ ई० मे एक आर्थिक योजना उपस्थित की जो मार्शल-योजना कहलाती है। इसे यूरोपीय पुनर्निर्माण योजना भी कहते है। इसके अन्तर्गत यूरोप के १५ राष्ट्रों को आर्थिक सहायता प्रदान की गई है और उन्होंने सयुक्त राज्य के नेतृत्व को स्वीकार किया है। जनवरी १९४९ ई० मे फिर एक नयी आर्थिक योजना निकली जो चार सूत्री योजना कहलाती है। इसके अन्तर्गत पिछड़े हुए देशों को पूँजी तथा टेकनीशियन, इजीनियर आदि की सहायता प्रदान की जाती है और इसी के अनुसार दक्षिण-पूर्वा एशिया के देशों को सहायता दी जा रही है।

सयुक्त राज्य ने यूरोप मे राजनीतिक-योजना भी कार्यान्वित की। उसे रूस के साथ युद्ध की भी शका है अतः वह सुरक्षा तथा सैनिक कारवाई के लिए भी मार्ग प्रशस्त कर रहा है। १९४७ ई० मे एक सर्व अमेरिकी-सुरक्षा सधि हुई जिसके द्वारा अमेरिका के एक राज्य पर आक्रमण सभी राज्यो पर आक्रमण समझा गया। इसी आधार पर उत्तरी अटलाटिक पैक्ट का जन्म हुआ है। ४ अप्रैल १९४९ ई० को वाशिगटन मे यह समझौता हुआ। सयुक्त राज्य और कैनेडा के अतिरिक्त यूरोप के १० राष्ट्रो ने इस पर हस्ताक्षर किया। इनमे से किसी भी एक राज्य पर हमला होने से बाकी सब उसकी सहायता करेंगे। यह अमेरिका की वैदेशिक नीति मे महान् परिवर्त्तन सूचित करता है। इसी प्रकार मध्य पूर्व मे एक मोर्चा कायम करने का प्रयत्न हो रहा है। प्रशान्त महासागर के भी देशो तथा द्वीपों मे सगठन का बिगुल बजाया जाता है। सितम्बर १९५१ मे सयुक्त राज्य ने आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के साथ प्रशान्त सधि की। सयुक्त राज्य अपने गुट के सदस्यो को अर्थ के अतिरिक्त अस्त्र-शस्त्र भी देता है। १९५० ई० मे कम्युनिस्ट उत्तरी कोरिया ने गैर-कम्युनिस्ट दक्षिणी-कोरिया पर चढ़ाई कर दी। सयुक्त राष्ट्र सगठन ने सैनिक कार्यवाई आरम्भ कर दी और इसका भार सयुक्त राज्य के हाथ मे सौंप दिया गया। लगभग ३ वर्ष हो गये कोरिया मे अभी तक शाति स्थापित नहीं हुई।

इस प्रकार अमेरिका वर्त्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख केन्द्र है और वह पूँजी तथा अणु दोनो का ही स्वामी है, सयुक्त राष्ट्र सगठन में भी उसी की प्रधानता है। उसी के प्रभाव से अभी तक साम्यवादी चीन को सयुक्त राष्ट्र सगठन मे स्थान नहीं प्राप्त हो

सका है। उसकी आर्थिक योजनाएँ साम्राज्यवाद के ही प्रतीक स्वरूप हैं। जो देश अमेरिका से आर्थिक सहायता लेता है वह अमेरिका से ही कल-पुर्जे आदि सामानो को खरीदता है। अमेरिकी विशेषज्ञ बहुत अधिक वेतन पर भेजे जाते हैं और वे अपनी बचत को अमेरिकी बैंक मे ही जमा करते हैं। इस तरह अमेरिकी पूँजी का अधिकाश भाग फिर अमेरिका मे ही चला जाता है और इसके उद्योग-धन्धो का विकास जारी है। राजनीतिक क्षेत्र मे भी सहायता लेने वाला देश उसकी नीति का समर्थन करने के लिए भी बहुत कुछ बाध्य सा हो जाता है।

अध्याय ४३

एकता एवं विश्वशान्ति के प्रयत्न—अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास

(१) राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र संगठन एवं राष्ट्र मण्डल

भूमिका

मनुष्य स्वभावत. स्वार्थी होता है और सृष्टि के प्रारम्भ से ही उसमे पारस्परिक मतभेद तथा सघर्ष होता रहा है और मानव-जीवन मे इनकी सदा प्रधानता रही है। धीरे-धीरे वे निम्नस्तर से ऊपर उठने लगे और शान्ति, सगठन तथा सहयोग के महत्त्व को समझने लगे। सर्वप्रथम धार्मिक क्षेत्र मे शान्ति, प्रेम और एकता के नाद गुञ्जित हुए और एक धर्म के अनुयायियों मे ये भावनाएँ विकसित होने लगीं, यद्यपि स्थायी रूप से वे कायम न रह सकी। इस तरह भारत ने धर्म-विजय की नीति अपनायी और एशिया के अधिकाश भागो मे बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। इसाई तथा इस्लाम धर्मों का जन्मभूमि की सीमाओं के पार पृथ्वी के अधिकाश भूखण्डो पर प्रसार हुआ और इनके प्रधान पोप तथा खलीफा का इसाई और इस्लामी दुनिया में बोल बाला रहा। राजनीतिक क्षेत्र मे भी दुनिया के अधिक से अधिक भागो को जीत कर एक विशाल साम्राज्य मे सगठित करने का प्रयत्न हुआ। यूनानियों, रोमनो और मगोलो के साम्राज्य इस बात के प्रमाण हैं। परन्तु इस तरह की साम्राज्य-स्थापना शक्तिशाली और महत्त्वाकाक्षी सैनिको तथा शासको के प्रयत्न का परिणाम थी और साम्राज्य के निवासियो का दमन तथा शोषण किया जाता रहा। अनेक राजनीतिक दार्शनिकों ने विश्व-एकता के सिद्धान्त का समर्थन किया। १४ वी सदी में पिरुडुबोई ने फ्रास के राजा के अधीन इसाई दुनिया को सगठित करने का स्वप्न देखा। सुली ने अपनी महान् योजना मे यूरोप का नव-निर्माण किया। इस तरह प्राचीन काल से ही स्वार्थ-शोषण तथा सघर्ष की क्रिया प्रतिक्रिया चलती रही है। आधुनिक युग मे ये प्रवृत्तियाँ अधिक बलवती हो गई हैं जिन पर नीचे विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक युग की एक महान् देन है। इसका कारण है विज्ञान की प्रगति और युद्ध की भयकरता। विज्ञान ने काल और दूरी सक्षिप्त कर समस्त विश्व को एक सूत्र में आबद्ध और राष्ट्रीय तथा भौगोलिक सीमाओं को तुच्छ सिद्ध कर

दिया है। इसने व्यवसाय और यातायात के साधनो को उन्नत किया है। विज्ञान से ससार के हित और अहित दोनो ही हुए हैं। इसने भोग-विलास के अनेक साधनों को उत्पन्न किया है, साथ ही अनेक घातक पदार्थों का भी प्रादुर्भाव हुआ है। किन्तु विज्ञान से अहित होने मे उसका या वैज्ञानिको का कोई दोष नही है, दोष तो है विज्ञान का दुरुपयोग करने वाले मनुष्यों का। यदि चाकू से कोई अपनी अगुली काट ले तो इसमे चाकू का क्या दोष ? पारस्परिक स्वार्थ और वेमनस्य के कारण आधुनिक युग मे भी युद्ध होते रहे हैं और मनुष्य ने विज्ञान के घातक पदार्थों का भी व्यवहार किया है। सामान्यत. युद्ध से अशान्ति उत्पन्न होती है और ऐसे वातावरण में सुख तो चाह और स्वप्न की ही वस्तु बन जाता है। आधुनिक युद्ध तो दिन पर दिन अधिक से अधिक भयकर और सभ्यता तथा सस्कृति के लिए घातक सिद्ध होते जाते है। आधुनिक काल में तीन युद्ध बड़े प्रसिद्ध हैं जिनका विवरण पढकर मानवता कॉप उठती है। ये हैं—नेपोलियनिक युद्ध (१७६६-१८१५ ई०), प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८ ई०) और द्वितीय महायुद्ध (१६३६—४५ ई०)। लेकिन सुख-शाति तो सभी चाहते हैं। अत. प्रत्येक युद्ध के बाद विश्व की एकता और शान्ति के लिए सक्रिय प्रयत्न हुए हैं ताकि युद्ध के दावानल का पुन. विस्फोट न हो।

पवित्र सघ और चतुष्पाद सघ

१७६३ ई० मे ही फ्रास और यूरोप मे युद्ध शुरू हो गया था और तभी से नेपोलियन इसका सचालन करने लगा। युद्ध शुरू होने के २ ही वर्ष बाद कान्त नाम के जर्मन दार्शनिक ने युद्ध को रोकने और स्थायी शान्ति स्थापित करने के उपाय पर प्रकाश डाला था। परन्तु यूरोप के राजनीतिज्ञो ने उसकी योजना पर कोई ध्यान नही दिया।

१८१५ ई० मे नेपोलियनिक युद्ध का अन्त हुआ। इस युद्ध मे इगलैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस विजेता राष्ट्र थे। वियना मे इनके प्रतिनिधि मिले और यूरोप के पुन. निर्माण की व्यवस्था की गई। तत्पश्चात् रूस के जार अलेक्जेंडर प्रथम को इच्छानुसार पवित्र सघ का निर्माण हुआ। रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया इसके सदस्य थे। उन्होने इसाई धर्म के सिद्धान्त पर चलने की प्रतिज्ञा की। परन्तु पारस्परिक स्वार्थ के कारण यह सघ विफल रहा। इगलैण्ड भी इसे मूर्खतापूर्ण घोषणा कहकर इससे अलग ही रह गया। परन्तु कुछ समय बाद पेरिस मे एक सन्धि हुई जिसे उपर्युक्त चारो राष्ट्रो ने स्वीकार किया और इस तरह चतुष्पाद सघ का जन्म हुआ। इसका उद्देश्य था वियना की सन्धि की रक्षा करना और राष्ट्रो का पारस्परिक सुख-शान्ति के लिए समय-समय पर विचार-विनिमय करना। यह भी एक शताब्दी के भीतर ही सदस्य राष्ट्रों के मतभेद, स्वार्थ तथा सघर्ष के चट्टानों से टकरा कर चूर-चूर हो गया। आस्ट्रिया का प्रतिनिधि मेटरनिक निरकुशता का पोषक था तो ग्रेट ब्रिटेन का प्रतिनिधि कैसलरे इसका विरोधी और लोकतन्त्र का समर्थक था। कैनिंग

नामक अगरेज के शब्दो मे यह 'यूरोप को जजीरा मे बाँधने के लिए' एक सघ था। दूसरे, यह यूरोप के शक्तिशाली राज्या का एक सकीर्ण गुट था जिसमे न तो जनता का प्रतिनिधित्व था और न लोक-कल्याण ही उसका आदर्श था। तीसरे, इसका कोई निश्चित विद्वान् नहीं था। अत. चतुष्पाद सघ भी विफल रहा। परन्तु अतीत की तुलना मे पवित्र और चतुष्पाद सघ अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर अग्रिम कदम थे।

१८५६ ई० मे पेरिस मे एक सम्मेलन हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष को दूर करने के लिए कुछ नियम बने। १८६७ ई० मे एक शान्ति सघ स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य था यूरोप मे सयुक्तराज्य का निर्माण और शान्ति, न्याय तथा स्वाधीनता की व्यवस्था करना। रूसी सरकार के प्रस्ताव पर १८९९ ई० मे हेग मे एक सम्मेलन हुआ। इसमे २६ राज्यो के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन ने एक स्थायी पचायत कोर्ट की स्थापना की जिसका काम था पचायत द्वारा झगडे का निपटारा करना। १९०७ ई० मे फिर दूसरा सम्मेलन हुआ जिसमे ४४ राज्यों के प्रतिनिधि आये। यह तय हुआ कि दोनो विरोधी दल अपने झगडे को एक तीसरे निष्पक्ष व्यक्ति के हाथ मे निर्णय के लिए सौप देंगे। इस तरह युद्ध रोकने के लिए प्रयत्न होता रहा, फिर भी १९१४ ई० मे युद्ध का विस्फोट हो ही गया।

(क) राष्ट्रसघ

जन्म एव उद्देश्य

चार वर्षो के उपरान्त १९१८ ई० मे प्रथम विश्वव्यापी महायुद्ध का अन्त हुआ। महायुद्ध की व्यापकता और भयकरता से मानव हृदय सतत था और शान्ति के लिए मानवता व्यग्र थी। पेरिस मे शान्ति-सम्मेलन शुरू हुआ। ३२ राष्ट्रों के प्रतिनिधि इसमे सम्मिलित हुए थे। सभी लोगों की दृष्टि एक व्यक्ति पर लगी हुई थी। वह व्यक्ति था सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का राष्ट्रपति विल्सन। विल्सन आदर्शवादी थे और शान्ति तथा मानवता के प्रेमी। युद्ध की विभीषिका को देखकर उनका हृदय पसीज गया था और वे इसे रोकने का उपाय ढूँढ़ निकालने के लिए कार्यशील थे। उन्होने एक चतुर्दश सूत्री योजना भी तैयार कर रखी थी। राष्ट्रसघ की स्थापना भी इसी योजना के अन्तर्गत थी। उन्हीं के प्रयास और प्रेरणा से २८ अप्रैल १९१९ ई० को राष्ट्रसघ का जन्म हुआ और इसे भी वर्साई की सधि का एक अग बना दिया गया। इसका प्रधान उद्देश्य था पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा झगड़े को रोकना और विश्व में शान्ति स्थापित रखना। सदस्य राष्ट्रों के अधिकारों और कर्त्तव्यो की स्पष्ट रूप से व्याख्या कर दी गई थी। इसके अन्तर्गत कई नियम बने जिन्हें केबिनेट कहते हैं। इनमे से अधिकाश नियमों का सम्बन्ध युद्ध को रोकने से था। १६वें नियम के अनुसार सघ के आदेश की उपेक्षा कर युद्ध करने वाला

सघ के सभी सदस्यो का शत्रु घोषित किया जायगा और उसके विरुद्ध आर्थिक या सैनिक कार्यवाही की जायगी। आक्रमणकारी देश के बहिष्कार और नाकेबन्दी करने का नियम बना।

सगठन

राष्ट्रसघ न तो एक स्टेट ही था और न सुपरस्टेट। इसकी कोई भौगोलिक सीमा नही थी, अपनी सेना नहीं थी और न अपने नागरिक थे। यह सभी राज्यो के ऊपर की भी प्रभुता-सम्पन्न सस्था नहीं थी। इसकी स्थिति एक क्लब या वादविवाद समिति की जैसी थी जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार-विमर्श किया जा सकता था। इसके निर्णय को स्वीकार करने के लिए कोई राष्ट्र बाध्य नही था। स्वीकार या अस्वीकार करना बिल्कुल उसकी इच्छा पर निर्भर था। १६२० ई० मे ४२ राज्य राष्ट्रसघ के सदस्य थे। बाद मे यह सख्या बढकर ६० तक पहुँच गई। कोई भी स्वतन्त्र राज्य राष्ट्रसघ का सदस्य हो सकता था। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत के कई राज्य भी सघ के सदस्य हो गए। भारतवर्ष भी सघ का सदस्य बन गया था। सघ छोड़ने के लिए दो वर्ष की सूचना आवश्यक थी।

जिस प्रकार प्रत्येक देश में कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका सभा, न्यायालय और सचिवालय होते हैं वैसे ही राष्ट्रसघ मे भी इन सस्थाओं की व्यवस्था की गई।

(१) एसेम्बली—यह राष्ट्रसघ की प्रतिनिधि सभा थी। इसमे प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को ३ प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था किन्तु वे एक ही मत देने के अधिकारी थे। इस तरह छोटे या बड़े राष्ट्र मे कोई भेद नहीं रखा गया। राजनीतिक निर्णय के लिए सर्वसम्मति आवश्यक थी। जिस राज्य का झगड़ा एसेम्बली के सामने आता था उस राज्य के प्रतिनिधि को मत देने का अधिकार नहीं था। कार्य-सचालन के लिए एक सभापति और एक उपसभापति होते थे। एसेम्बली नए देश को सदस्य होने की स्वीकृति देती थी और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजों तथा कौंसिल के अस्थायी सदस्यो को चुनती थी। इसका अधिवेशन जेनेवा मे होता था। यह कई कमेटियों मे विभक्त थी। नाम के लिए इसके अधिकार तो बहुत थे किन्तु इसकी स्थिति परामर्श-दातृ सस्था की थी।

(२) कौंसिल—यह राष्ट्रसघ की कार्यकारिणी थी और इसकी शक्ति असीमित थी। प्रतिवर्ष कम से कम चार बैठकें होती थीं और हर बैठक मे सभापति का चुनाव होता था। निर्णय के लिए स्थायी सदस्यो मे एकमत आवश्यक था। यह एसेम्बली के लिए बजट तथा कार्यक्रम तैयार करती थी। इसमें तीन प्रकार के सदस्य थे—(क) फ्रास, इगलैण्ड, इटली और जापान जैसे शक्तिशाली राष्ट्रो के सदस्य स्थायी थे। (ख) कुछ राज्यो के सदस्य अस्थायी थे। इनकी सख्या ६ थी और इनकी अवधि ३ वर्ष की थी किन्तु इनमें से एक तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करने के लिए बाध्य थे। (ग) किसी राज्य

के किसी विषय पर जब विचार होता था तो उस समय उस राज्य के किसी प्रतिनिधि को बुला लिया जाता था और कार्य समाप्त होते ही उसे भी फुर्सत मिल जाती थी। धीरे-धीरे स्थायी सदस्यो की सख्या मे कमी और अस्थायी सदस्या की सख्या मे वृद्धि होती गई। १६२६ ई० मे जर्मनी और १६३४ ई० मे रूस राष्ट्रसघ के सदस्य हुए और साथ ही वे कौंसिल के भी स्थायी सदस्य बने। किन्तु १६३४ ई० तक जर्मनी तथा जापान ने राष्ट्रसघ की सदस्यता का परित्याग भी कर दिया था। १६३६ ई० मे केवल ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रास ही स्थायी सदस्य रह गए थे और कौंसिल मे इन्ही का बोलवाला भी था।

(३) सचिवालय—जेनेवा मे राष्ट्रसघ का एक सचिवालय भी स्थापित हुआ। इसका प्रधान एक सचिव होता था जिसे एसेम्बली की स्वीकृति से कौंसिल नियुक्त करती थी। इसके अतिरिक्त इसमे अन्य सैकडो कर्मचारी थे।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी व्यवस्था की गई। इसमे १५ जज होते थे जो ६ वर्ष तक अपने पद पर आसीन रहते थे। ये अपना एक सभापति और उपसभापति स्वय निर्वाचित करते थे। इस न्यायालय का काम था—सामने आये हुए झगडो का निर्णय करना और कौंसिल तथा असेम्बली को कानूनी मामले मे सम्मति देना। इसके निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विकास मे बड़े ही सहायक सिद्ध हुए है।

राष्ट्रसघ का कार्य राजनीतिक चहारदीवारी तक ही सीमित नहीं था। इसका कार्यक्षेत्र व्यापक था। अतः इससे सम्बन्धित कुछ अन्य सस्थाएँ भी थी जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन, अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सघ आदि।

राष्ट्रसघ के कार्य

राष्ट्रसघ की स्थापना का उद्देश्य बडा ही पवित्र तथा महान् था। इसने अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को और भी आगे बढाया है। इसने कई अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो को उत्पन्न तथा प्रोत्साहित किया है जैसे अन्तर्राष्ट्रीय स्त्री-सघ, अन्तर्राष्ट्रीय गिरजा-सघ आदि। सदस्य राष्ट्रो के बीच इसने कई मौके पर शान्तिपूर्ण ढग से झगड़े का निर्णय किया है और प्रथम दशाब्दी के अन्दर छोटे-छोटे राष्ट्रों के बीच युद्धो को होने से रोका है। (क) १६२० ई० मे हालैण्ड द्वीप के लिए स्वेडन तथा फिनलैण्ड मे झगड़ा शुरू हुआ। सघ ने इसे फिनलैण्ड को देकर झगडे का निर्णय कर दिया। (ख) १६१६ ई० में साइ-लेशिया को लेकर जर्मनी तथा पोलैण्ड और इगलैण्ड तथा फ्रास के बीच मतभेद था। सघ की देख रेख में जनमत लिया गया। बहुमत जर्मनी के साथ मिल जाने के पक्ष में था। इगलैण्ड भी इसी का समर्थक था। किन्तु फ्रास जर्मनी को कमजोर रखना चाहता था। अतः वह चाहता था कि साइलेशिया पोलैण्ड को ही मिले। १६२२ ई० मे सघ ने साइ-

लेशिया का दो भागों में बाँट दिया। एक तिहाई पोलैण्ड का और दो तिहाई जर्मनी को मिला। जर्मनी तथा पोलैण्ड ने निर्णय को स्वीकार कर लिया। (ग) १९१९ ई० में विलना लिथुआनिया के अधिकार में था किन्तु पोलैण्ड ने इस पर अपना आधिपत्य जमाना चाहा। लिथुआनिया ने इस प्रश्न को सघ मे उपस्थित किया। फ्रांस पोलैण्ड का समर्थक था। १९२२ ई० मे पोलैण्ड के ही पक्ष मे सघ का भी निर्णय हुआ। किन्तु सघ के ही समर्थन से मेमेल पर लिथुआनिया का अधिकार कायम रहा। (घ) १९२५ ई० मे यूनान ने बल्गेरिया पर आक्रमण कर दिया। बल्गेरिया के द्वारा अपील की जाने पर सघ ने यूनान को सेना हटा लेने और क्षति-पूर्ति करने के लिए आदेश दिया। यूनान ने आदेश का पालन किया।

राष्ट्रसघ ने मैंडेट प्रणाली के द्वारा पिछड़े देशो की उन्नति की और गुप्त कूटनीति मे कुछ शिथिलता लाई है। इसने सामाजिक क्षेत्रो मे आशातीत सफलता प्राप्त की है। बच्चो और स्त्रियो की दशा में सुधार हुआ है। स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक नियम बने है जिन्हे राज्यो ने स्वीकार भी किया।

सघ का असफलता और इसके कारण

परन्तु राष्ट्रसघ अपने प्रधान उद्देश्य में बुरी तरह असफल रहा है। ससार में न तो युद्ध बन्द हुआ, न सैन्य प्रसार रुका, न गुप्त कूटनीति रुकी और न शान्ति कायम हुई। अपने जीवन की दूसरी दशाब्दी मे यह शक्तिहीन होता गया और बड़े राज्य इसकी उपेक्षा करते गए। १९२५ ई० मे ही तुर्की ने इसके निर्णय की उपेक्षा की। मोसल को लेकर तुर्की और ईराक के बीच मतभेद था। सघ ने उसे ईराक को दे दिया। तुर्की इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। इगलैण्ड ने तुर्की को प्रभावित कर इस बात पर राजी कराया। ऐसे ही यूनान और इटली के बीच झगड़ा हुआ था। इटली के कोर्फू द्वीप पर बम गिरा दिया गया। यूनान ने सघ मे अपील की। इटली ने इसका विरोध किया और घोषणा की कि यह प्रश्न सघ के अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। १९२६ ई० मे अमेरिका के दो राज्यो—मेक्सिको तथा निकारागुवा—मे झगड़ा हुआ। सघ ने हस्तक्षेप नहीं किया किन्तु सयुक्तराज्य ने झगड़े को शान्त कर दिया।

फासिस्ट शक्तियो के सामने तो राष्ट्रसघ ने अपने को बहुत ही शक्तिहीन सिद्ध किया। १९३१ ई० में जापान ने मचूरिया पर आक्रमण किया और इसे जीत कर मचुको के नाम से वहाँ एक कठपुतली शासन कायम किया। चीन ने सघ मे अपील की। सघ ने लिटन कमीशन नियुक्त किया। कमीशन ने जापान को अपनी रिपोर्ट मे आक्रमणकारी घोषित किया। सघ ने रिपोर्ट स्वीकार किया और इससे अधिक कुछ न हो सका। जापान की इस सहज सफलता से जर्मनी और इटली को विशेष प्रोत्साहन मिला। १९३२ ई० मे निरस्त्री-

कारण सम्मेलन से जर्मनी ने अपने प्रतिनिधियों को हटा लिया। एक वर्ष बाद जर्मनी तथा जापान दोनों ने राष्ट्रसघ को ही छोड़ दिया।

१९३५—३६ ई० मे इटली के अधिनायक मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया। अबीसीनिया राष्ट्रसघ का सदस्य था। उसने सघ मे अपील की। इटली को आक्रमणकारी घोषित कर उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लागू किया गया। किन्तु यह सफल नहीं हुआ। दो महीने के बाद सघ ने प्रतिबन्ध वापस ले लिया। सघ की असमर्थता विश्व के सामने प्रत्यक्ष हो गई। १९३८ ई० मे ग्रेट ब्रिटेन ने अबीसीनिया पर इटली के आधिपत्य को मान भी लिया। मुसोलिनी की सफलता से जर्मनी के तानाशाह हिटलर का और भी मन बढ गया। वह वर्साय सन्धि की शर्तों को एक-एक कर तोड़ने लगा। उसने अनिवार्य सैनिक सेना प्रचलित की और राइनलैण्ड मे अपनी सेना भेज दी। सघ नपुसक की भाँति देखता रहा। जुलाई १९३६—३८ ई० मे स्पेन मे गृहयुद्ध हुआ। जनतन्त्र के विरुद्ध फ्रैंको के नेतृत्व मे राजतन्त्र के समर्थकों ने विद्रोह किया। मुसोलिनी तथा हिटलर की ओर से विद्रोह को पर्याप्त सहायता मिली। किन्तु ब्रिटेन तथा फ्रास ने अहस्तक्षेप की नीति बरती और जनतन्त्र का गला घोटा गया।

इस बीच १९३७ ई० मे जापान ने चीन पर विना किसी घोषणा के ही आक्रमण कर दिया। १९३८ ई० मे ही हिटलर ने आस्ट्रिया और जेकोस्लोवाकिया पर अधिकार कर लिया। जब उसने ३ सितम्बर १९३९ ई० को पोलैण्ड पर हाथ साफ करना चाहा तब द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट हो गया। प्रथम महायुद्ध ने सघ को जन्म दिया और द्वितीय महायुद्ध ने उसका अन्त कर डाला।

राष्ट्रसघ की असफलता के कई कारण थे। पहले तो यह राष्ट्र या जनता की प्रतिनिधि सस्था नहीं थी, सत्तापूर्ण सरकारों का गुट था। दूसरे, इसके सदस्य-राष्ट्र सभी स्वतन्त्र नहीं थे बल्कि यह स्वतन्त्र तथा परतन्त्र राष्ट्रों का मिश्रण था। इसमे कई उपनिवेश भी सम्मिलित थे। तीसरे, इसका अस्तित्व वर्साय सन्धि से अलग नहीं था। अतः पराजित राष्ट्रों की इसके साथ सहानुभूति नहीं थी। राष्ट्रसघ मे विजेता राष्ट्रो का बोलबाला था जो वर्साय की सन्धि को स्थायित्व प्रदान करना चाहते थे जिस भाँति नेपोलियनिक युद्ध के विजेता वियना सन्धि को स्थायी रूप देने के लिए कार्यशील रहे थे। चौथे, कौंसिल मे निर्णय के लिए सर्वमत होना अनिवार्य था। पाँचवें, सघ को आर्थिक राष्ट्रीयता या सैन्यीकरण पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नहीं था। छठे, इसके पास कोई अपनी सैन्य शक्ति नहीं थी जिसके द्वारा वह अपने निर्णय को कार्यान्वित कर सके। सातवें, १९३४ ई० तक रूस इससे अलग रहा और अमेरिका तो कभी इसका सदस्य ही नहीं हुआ। इन दो शक्तिशाली राष्ट्रो के सहयोग के अभाव मे संघ का प्रारम्भ से ही दुर्बल

होना स्वाभाविक था। आठवें, लोकतन्त्र के समर्थक ग्रेटब्रिटेन तथा फ्रास ने भी पूरा सहयोग नही दिया और इन राज्या की ढुलमुल नीति से सघ निष्क्रिय होता गया। नवें, एकतन्त्रवाद के उत्थान स सघ को गहरा धक्का लगा। जर्मनी का नात्सीवाद, इटली का फासिस्टवाद और जापान का सैनिकवाद सघ की स्थिति के लिए सहारक सिद्ध हुए। दसवें, अन्तर्राष्ट्रीय भावना अभी शैशवावस्था मे रही है और महान् राष्ट्रो मे अभी सत्यता और ईमानदारी का अभाव रहा है।

राष्ट्रसघ की महत्ता

फिर भी राष्ट्रसघ बिल्कुल ही व्यर्थ नहीं सिद्ध हुआ। हम इसकी सफलताओ का भी अवलोकन कर चुके हैं। (१) इसने अन्तर्राष्ट्रीयता को और आगे बढाया है। (२) अतीत मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ही होते थे, स्थायी सस्था का सर्वथा अभाव था। राष्ट्रसघ का एक स्थायी सस्था के रूप मे निर्माण हुआ और एक सचिवालय की स्थापना हुई। (३) अतीत की सस्थाएँ सकीर्ण होती थी क्याकि उनका क्षेत्र यूराप महादेश या इसाई सम्प्रदाय तक ही सीमित था। किन्तु राष्ट्रसघ व्यापक सघ था जिसमे कोई भी देश इसका सदस्य हो सकता था। (४) सघ को कई अशों मे महान् राजनीतिज्ञो का सहयोग प्राप्त था और वे इसकी सफलता चाहते थे।

(ख) सयुक्त राष्ट्र सगठन

उत्पत्ति

प्रथम महायुद्ध के उत्पादन से राष्ट्रसघ की मिट्टी पलीद हो गई, सितम्बर १९३९ ई० मे द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया और अगस्त १९४५ ई० तक जारी रहा। यह प्रथम महायुद्ध से भी अधिक व्यापक तथा सहारक था। अत· इस बार १९१९ ई० की अपेक्षा मानव समुदाय मे शान्ति की भूख भी अधिक थी। मनुष्य सोचने लगा कि यदि युद्ध को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ तो सभ्यता एव सस्कृति का ही विनाश हो जायगा। अतः युद्ध के अन्त मे सयुक्त राष्ट्र सगठन का निर्माण किया गया। राष्ट्रसघ के निर्माण मे अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने प्रमुख भाग लिया और सयुक्त राष्ट्र के सगठन मे राष्ट्रपति रूजवेल्ट को विशेष श्रेय प्राप्त है। सर्वप्रथम जनवरी १९४१ ई० मे उन्होने मनुष्य की चार प्रकार की स्वतन्त्रता की घोषणा की—बोलने की, अभिव्यक्ति की, भय से और निर्धनता से। उसी साल अगस्त में श्री रूजवेल्ट और श्री चर्चिल अटलाटिक महासागर मे आगस्टा नाम के युद्ध-पोत पर मिले और उनकी ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित हुआ जो एटलाटिक चार्टर के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे आठ बातें हैं—प्रादेशिक लाभ के लिए उनके राष्ट्र में चाह का अभाव, बिना लोकमत के भौगोलिक सीमा मे कोई परिवर्त्तन नहीं, अपनी सरकार के स्वरूप का निर्णय करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र के अधिकार की स्वीकृति, व्यापारिक

क्षेत्र मे समानाधिकार, अबाध सामुद्रिक यात्रा, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों मे सहयोग का विकास, नात्सी दमन के पश्चात् स्थायी शान्ति की स्थापना और निरस्त्रीकरण तथा पशुबल का क्रमशः त्याग। यह घोषणा विल्सन की चतुर्दश सूत्री योजना का सरल और सक्षिप्त रूप है। इस घोषणा से मानव-समाज को बहुत प्रोत्साहन मिला और विजित तथा दलित राष्ट्रों में एक नई जान आ गई। १९४२ ई० के पहले ही दिन को २६ राष्ट्रो के प्रतिनिधि वाशिंगटन मे मिले और चार्टर के सिद्धान्तो को स्वीकार किया। न्याय, स्वतन्त्रता तथा जीवन के हेतु दुश्मनो को सामूहिक शक्ति के द्वारा पराजित करने पर जोर दिया। अक्तूबर १९४३ ई० मे अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, रूस और चीन के परराष्ट्र सचिव मास्को मे मिले और उन्होने एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की स्थापना पर जोर दिया। जुलाई १९४४ ई० मे ब्रेटनवुड्स मे ४४ राष्ट्रो के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन हुआ। इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय मॉनेटरी फन्ड और एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक स्थापित करने की सिफारिश की। उसके बाद सितम्बर मे ग्रेटब्रिटेन, रूस, अमेरिका और चीन के प्रतिनिधि डुम्बार्टन ओक्स में मिले और एक अन्तर्राष्ट्रीय सघ के निर्माण की योजना तैयार की। फरवरी १९४५ ई० मे क्रीमिया सम्मेलन मे यह निश्चय हुआ कि डुम्बार्टन ओक्स की योजना पर विचार करने के लिए २५ अप्रैल को सेन्फ्रासिस्को मे सभी राष्ट्रो का सम्मेलन बुलाया जाय। तदनुसार उक्त अवधि पर सेन्फ्रासिस्को सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इसमे ५१ राष्ट्रो का प्रतिनिधित्व था। २ महीने तक इसका अधिवेशन चलता रहा। एक अधिकार-पत्र तथा एक सविधान तैयार हुआ और २६ जून को सयुक्तराष्ट्र सगठन (यूनाइटेड नेशन्स ऑर्गेनाइजेशन) का जन्म हुआ। २४ अक्तूबर को इसका सविधान कार्यान्वित किया गया।

उद्देश्य और व्यवस्था

चार्टर मे सयुक्त राष्ट्र सगठन की स्थापना का उद्देश्य बतलाया गया। यह एक नई दुनिया के निर्माण का प्रयत्न है। इसमे कई बातें दी गई हैं जो आदर्शवाद से ओत-प्रोत हैं। इन सभी बातो का साराश है—युद्ध को रोकना, शान्ति, सहिष्णुता, समानता, सुरक्षा तथा न्याय का राज्य कायम करना और सामाजिक, सास्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्रो मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करना।

सयुक्त राष्ट्र सगठन के निम्नलिखित अग हैं—१ साधारण सभा (जेनरल एसेम्बली)—सभी सदस्य राष्ट्र इसके सदस्य हैं। ये सभी राष्ट्र स्वतन्त्र हैं और उनके अधिकार समान हैं। या तो आवश्यकतानुसार इसकी बैठकें कई बार हो सकती हैं किन्तु साल में एक बार सितम्बर महीने में बैठक करना अनिवार्य है। प्रत्येक राष्ट्र को पाँच प्रतिनिधि तक भेजने का अधिकार है, परन्तु वह एक ही मत दे सकता है। उपस्थित सदस्यो के दो-तिहाई मत से कोई निर्णय हो सकता है, किन्तु इसका निर्णय मानने के लिए कोई

राष्ट्र बाध्य नहीं है। यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा सम्बन्धी किसी विषय पर विचार कर सकती है और कुछ नियुक्तियाँ भी इसके हाथ मे हैं। इसके अन्तर्गत ७ कमेटियाँ काम करती हैं जिनके कार्य अलग बँटे हुए हैं। एसेम्बली की ही देख-रेख में सामाजिक तथा आर्थिक परिषद् और संरक्षण समिति कार्य करती हैं।

२. सुरक्षा-परिषद् (सेक्योरिटी कौंसिल)—इसमें दो प्रकार के सदस्य हैं—ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, अमेरिका और चीन इसके ५ स्थायी सदस्य हैं और ६ अस्थायी सदस्य हैं जो एसेम्बली द्वारा दो वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं। इसके अस्थायी सदस्यों में भारत भी निर्वाचित हुआ है। विश्व की शान्ति-स्थापना के प्रयत्नों को कार्यान्वित करना इसी परिषद् का काम है। मतभेद होने पर निर्णय के लिए ७ मत आवश्यक हैं जिनमें पाँच स्थायी सदस्यों का मत होना अनिवार्य है। इस प्रकार ५ महान् राष्ट्रों में से कोई एक भी गत्यावरोध उत्पन्न कर सकता है। यही स्थायी सदस्य का निषेधाधिकार (वीटो पावर) है। किसी ७ सदस्यों के अनुरोध पर परिषद् के सामने विचारार्थ कोई विषय उपस्थित हो सकता है। आज्ञा उल्लंघनकारी राष्ट्र के विरुद्ध परिषद् सैनिक कार्यवाही भी कर सकती है और इस सम्बन्ध में इसे सलाह देने के लिए एक मिलीटरी स्टाफ कमेटी की भी व्यवस्था की गई है। अतः परिषद् अधिक शक्तिशाली संस्था है।

३. सचिवालय—संयुक्तराष्ट्र संगठन का एक सचिवालय है जो न्यूयार्क में स्थित है। इसका एक प्रधान सचिव होता है जो परिषद् की सिफारिश पर साधारण सभा द्वारा निर्वाचित होता है। फरवरी १९४६ ई० से ही नार्वे निवासी श्री त्रिग्वेली प्रधान सचिव के पद पर आरूढ़ हैं। कार्यों के आधार पर यह आठ विभागों में विभक्त है। इसमें विभिन्न संस्थाओं का रेकर्ड रहता है और इसी के द्वारा उनके बीच सम्बन्ध भी स्थापित रहता है।

४. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—इसमें १५ जज होते हैं जो साधारण सभा द्वारा ९ वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं। इनका काम है अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा करना और संगठन के विभिन्न अंगों को कानूनी सम्मति देना। हेग में इसकी व्यवस्था की गई है। संयुक्त राष्ट्र संगठन का कोई भी सदस्य इसमें निर्णय के लिए मामला पेश कर सकता है।

५. सामाजिक एवं आर्थिक समिति—सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों को दूर करना इसका काम है। इसके १८ सदस्य होते हैं जो साधारण सभा द्वारा ३ वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र एक-एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकारी है।

६. संरक्षण समिति (ट्रस्टीशिप कौंसिल)—इसका काम है परतन्त्र तथा पिछड़े प्रदेशों में आवश्यक सुधार कर उसे स्वायत्त शासन के योग्य बनाना। ऐसे प्रदेशों को

किसी राष्ट्र के अधीन थाती के रूप मे सौंप दिया जाता है। इसके ५ सदस्य तो सुरक्षा परिषद के ही स्थायी सदस्य हैं। कुछ अन्य सदस्यों को एसेम्बली ५ वर्ष के लिए चुनती है। थाती लेने वाले राष्ट्र भी इस समिति के सदस्य होते है।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त कई विशिष्ट समितियाँ हैं जैसे खाद्य तथा कृषि समिति, संयुक्तराष्ट्र शिक्षा विज्ञान तथा संस्कृति समिति, संयुक्तराष्ट्र सहायता और पुनर्वास समिति, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कोष आदि।

संयुक्त राष्ट्र संगठन के घोषणा-पत्र मे साधारण सभा द्वारा कोई संशोधन किया जा सकता है। पास होने के लिए इसके दो तिहाई सदस्यों और सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों द्वारा स्वीकृति आवश्यक है। इस प्रकार कौंसिल के एक भी स्थायी सदस्य के विरोध करने पर कोई संशोधन नहीं हो सकता।

संगठन के गुण-दोष

गुण

यह विश्व-शान्ति-स्थापना का एक मात्र विश्वव्यापी संगठन है और संतप्त तथा अशान्त संसार की आशा इसी पर केन्द्रित है। कुछ बातों मे यह राष्ट्रसंघ की अपेक्षा उन्नत संस्था है। पहले तो राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक सुसंगठित और व्यापक है। विश्व-राज्य की स्थापना का यह आधार सिद्ध हो सकता है। दूसरे, इसे संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस जैसे विशाल राष्ट्रों की सदस्यता प्राप्त है। तीसरे, आवश्यकता पड़ने पर सदस्य राष्ट्रों से सेना मिलने का इसे आश्वासन प्राप्त है और सुरक्षा परिषद् की सहायता के लिए एक सैन्य समिति की व्यवस्था कर दी गई है। चौथे, राष्ट्रसंघ की सभा मे सर्वमत आवश्यक था किन्तु संयुक्तराष्ट्र संगठन की सभा में उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई मत ही आवश्यक हैं। पाँचवे, राष्ट्र संघ वर्साय की सन्धि का ही एक अंग बना दिया गया था किन्तु इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्र संगठन का निर्माण युद्ध के अन्त के पहले ही हो गया था। अतः इसका अस्तित्व पराजित राष्ट्रों की संधि से पृथक् तथा स्वतन्त्र है। छठे, संयुक्त राष्ट्र संगठन के चार्टर के अन्तर्गत क्षेत्रीय सम्मेलन करने की व्यवस्था है किन्तु राष्ट्र संघ मे ऐसी व्यवस्था का अभाव था।

दोष

संयुक्त राष्ट्र संगठन मे कई दोष भी हैं। राष्ट्रसंघ की प्रायः सभी त्रुटियाँ इसमे भी मौजूद हैं। इसका कारण यह है कि यह राष्ट्रसंघ का ही परिवर्तित रूप है। परिवर्तन भी ऊपरी है, मौलिक नहीं। शक्तिशाली राज्यों के महान् राजनीतिज्ञो ने १९४५ ई० मे १९१९ ई० की ही पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न किया है, जिसका विफल होना अनिवार्य है। पहले तो संयुक्त राष्ट्र संगठन संघ शासन के समान कोई सत्तापूर्ण सरकार नहीं है,

बल्कि यह स्वतन्त्र सत्तापूर्ण राष्ट्रों का ही एक सगठन मात्र है। अतः उसका निर्णय सदस्य राष्ट्र पर बिना उसकी स्वीकृति के लागू नहीं हो सकता। दूसरे, इसमे जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं, बल्कि सरकारो द्वारा मनोनीत सदस्य ही सम्मिलित हैं। तीसरे, इस सगठन मे जर्मनी, इटली और जापान सम्मिलित नहीं हैं। उनके साथ भूल जाने और क्षमा करने की नीति नहीं बरती गई है। उनकी राजनीतिक शक्तिया को दबा देने का प्रयत्न किया गया है ताकि वे विजेताओं का फिर मुकाबला न कर सकें। अत. यह विजितो और विजेताओं के बीच अन्तर प्रदर्शित करता है। इस प्रकार इसमे भी विजेता राष्ट्रो का ही बोलबाला है और यह भी एक पक्षीय सस्था होने का दोषी है। चौथे, कौसिल मे, जो एक सर्वाधिक शक्तिशाली सस्था है, ५ महान् राष्ट्रो को ही स्थायी सदस्यता प्राप्त है और प्रत्येक स्थायी सदस्य को वीटो प्राप्त है और इस तरह एक भी स्थायी सदस्य कार्यवाही मे गतिरोध उत्पन्न कर सकता है। पॉचवें, स्थायी सदस्यो मे चीन को छोड़कर अन्य चार राष्ट्र साम्राज्यवादी हैं। ग्रेट ब्रिटेन भूमध्य तथा हिन्द महासागर मे अपना आधिपत्य चाहता है, तो अमेरिका एटलांटिक तथा प्रशान्त महासागर मे। हागकाग तथा सिगापुर पर ब्रिटेन का अधिकार है तो फिलीपाइन द्वीप-समूह पर अमेरिका का। मिश्र तथा ईरान भी बृटिश साम्राज्यवाद के चगुल से पूर्णतः मुक्त नही है। मलाया का भी शोषण हो रहा है। पूर्वी भूमध्यसागर, पूर्वी यूरोप, उत्तरी कोरिया और मचूरिया रूस के प्रभाव-क्षेत्र मे है। मोरक्को तथा ट्यूनीसिया पर फ्रास का अधिकार है और सीरिया तथा हिन्द चीन को भी वह छोड़ना नहा चाहता है। ये सभी राष्ट्र, खासकर अमेरिका तथा रूस अपने-अपने प्रादेशिक, आर्थिक तथा सैद्धान्तिक साम्राज्यवाद का प्रसार भी करने के लिए बड़े-बड़े मनसूबे बॉध रखे हैं। साम्राज्यवाद मे शोषण निहित है और शोषण तथा शान्ति दोना परस्पर विरोधी हैं।

सयुक्त राष्ट्र सगठन कार्यरूप में (१६४५—५० ई०)

उपर्युक्त ५ दोषो के रहते हुए सयुक्त राष्ट्र सगठन का भविष्य राष्ट्रसघ की अपेक्षा कोई अधिक उज्ज्वल नही दिखाई देता है। बाद के इसके ७ वर्ष के जीवन-काल मे इसका अन्धकारमय भविष्य और भी अधिक स्पष्ट हो गया है। महान् शक्तियों के बीच स्वार्थ तथा मतभेद की भावनाएँ बढती ही गई हैं और युद्ध के बीते १० वर्ष भी नही हुए कि तृतीय युद्ध की आशका होने लगी और विश्व मे अशान्ति फैलने लगी। महान् राष्ट्रों में छीना-झपटी और एक दूसरे पर कीचड उछालने की होड लगी। इस तरह 'उष्ण युद्ध' तो बन्द हो चुका था किन्तु 'शीत युद्ध' जारी रहा।

इन ७ वर्षो मे अमेरिका और रूस की तनातनी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक प्रमुख विशेषता है। दोनो के बीच सौतेला सम्बन्ध है। दोनो में गहरा सैद्धान्तिक सम्बन्ध

है। अत. दोनों शायद ही किसी मत पर एकमत हो सके हैं। सयुक्त राष्ट्र संगठन के प्राय सभी सदस्य अमेरिका या रूस के प्रभाव मे हैं। अमेरिका ही के पक्ष मे अधिक सदस्य हैं। राष्ट्र सगठन मे अमेरिका ही सर्वाधिक शक्तिशाली देश है। इस तरह राष्ट्र सगठन का रगमच अमेरिका तथा रूस के बीच प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा बनता आ रहा है और इसमे अमेरिका का ही प्रभुत्व रहता है।

अमेरिका के ही प्रभाव से अब तक राष्ट्र सगठन मे साम्यवादी चीनी जनतन्त्र को स्थान नहीं मिला है और सुरक्षा परिषद् मे चाग काई शेक के पराजित राष्ट्रवादी सरकार का ही प्रतिनिधित्व है। भारत, बर्मा, पाकिस्तान, ब्रिटेन तथा रूस ने साम्यवादी चीनी जनतन्त्र को मान्यता भी प्रदान कर दी है किन्तु अमेरिका अभी तक इस पर नाक-भौं सिकोड़ रहा है और चाग की भ्रष्ट स्वार्थी सरकार को सजीव करने का विफल प्रयत्न कर रहा है। रूस नये चीन के प्रतिनिधित्व की बराबर माँग करता रहा है और वह माँग उचित भी है। लेकिन इस माँग की सर्वथा उपेक्षा होती रही है। उल्टे राष्ट्र सगठन ने साम्यवादी चीन को कोरिया मे आक्रमणकारी घोषित किया है और यह भी औचित्यपूर्ण नही है। कोरिया के युद्ध मे उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया गया और उसके विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने के लिये सयुक्त राज्य अमेरिका पर भार सौंप दिया गया। इस तरह सयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान मे १९५० ई० के मध्य से ही कोरिया मे युद्ध चल रहा है। सयुक्त राष्ट्र का यह कार्य भी अनुचित तथा अवैध है। सविधान के अनुसार स्थायी सदस्यो का एकमत होना आवश्यक था। किन्तु कोरिया सम्बन्धी घोषणा रूस की राय के विरुद्ध किया गया। इस तरह सयुक्त राष्ट्र ने अपने नियम का स्वय उल्लघन किया। विश्व ने इस अनौचित्य का अनुभव किया और सयुक्त राष्ट्र के प्रथम सामूहिक कार्यवाही मे अधिकाश राष्ट्रो ने सहयोग नहा दिया। अमेरिका ने दक्षिणी कोरिया से उत्तरी कोरिया को खदेड़ कर ही दम न लिया बल्कि ३८वें अक्षाश रेखा को पार कर उत्तरी कोरिया पर भी आक्रमण किया। इतना ही नहीं, उसने चीन की उपेक्षा कर फारमूसा पर भी अपना आधिपत्य जमाया। किन्तु सयुक्त राष्ट्र इन घटनाओ के प्रति उदासीन रहा है। हिन्देशिया के साथ भी अमेरिका ने उचित व्यवहार नहीं किया। हिन्देशिया वालो ने हालैण्ड के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन किया। यह प्रश्न कौंसिल के सामने उपस्थित हुआ। अमेरिका ने स्वातन्त्र्य सग्राम के साथ सहानुभूति दिखलायी किन्तु वह हालैण्ड को भी खूब ऋण देता था जिसके सहारे डच लोग आन्दोलन को दबाने का भी प्रयत्न करते रहे।

पराजित राष्ट्रों के साथ भी न्यायपूर्ण व्यवहार नहीं किया गया है। जर्मनी तथा आस्ट्रिया के विभाजन के लिए अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रास तथा रूस में इस तरह छीना-

झपटी हुई है जैसे भाइयो मे बपौती सम्पत्ति के बँटवारे के लिए होती है। इन्होंने इन दोनो देशो का अग-भग कर एक-एक टुकड़े पर अपना अधिकार कायम कर ही सतोष प्राप्त किया है। जापान अमेरिकी सेना के कब्जे मे रहा है और हाल ही मे अमेरिका ने इसके साथ पृथक् सन्धि कर अपना प्रभाव दृढ कर लिया है। १८७१ ई० मे फ्रास की ओर १६१६ ई० मे जर्मनी की शक्ति छिन्न-भिन्न कर दी गई थी और इन्हे दुर्बल तथा एकागी रखने का भरपूर प्रयत्न हुआ। क्या, यह प्रयत्न सफल हुआ? यदि नहीं तो ऐसे प्रयत्नो की पुनरावृत्ति क्यों की जाती है। इससे राजनीतिज्ञों के दिमाग का दिवालियापन ही झलकता है।

काश्मीर को लेकर भारत तथा पाकिस्तान के बीच गहरी खाई है। दोनों ही सयुक्त राष्ट्र के सदस्य हैं। काश्मीर का प्रश्न भी सयुक्त राष्ट्र मे पेश हुआ। ३ वर्ष से अधिक हो गये, कई बार सयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञ आये और उन्होने भारत, पाकिस्तान तथा काश्मीर का दौरा किया किन्तु अब तक कुछ निर्णय नही हुआ। भारत सरकार की कुशल तथा निष्पक्ष नीति के कारण यहाँ महान् राष्ट्रो की दाल शीघ्र नहीं गल रही है।

दक्षिणी अफ्रीका अलग ही अपना राग अलाप रहा है। इसने जाति-धर्म-रग के आधार पर अपनी नीति कायम की है और प्रवासियों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जाता है। यह नीति सयुक्त राष्ट्र के चार्टर के विरुद्ध है और नात्सी सरकार की यहूदी नीति का स्मरण कराती है। मानव-समाज का अधिकाश भाग मलान सरकार की साम्प्रदायिक नीति के विरुद्ध है। फिर भी इसने तीन बार सयुक्त राष्ट्र के आदेशो की उपेक्षा की है और अभी भी इस सम्बन्ध मे इसके अधिकार को चुनौती दे रही है। सयुक्त राष्ट्र हाथ पर हाथ धरे बैठा है, यह कागजी घोड़े की पैंतरेबाजी मे सलग्न है। अश्वेत वर्ग में घोर असन्तोष फैल रहा है। जुलाई १६५२ ई० से भारतवासियो ने मलान सरकार के जातीय कानूनों के विरुद्ध सत्याग्रह सग्राम छेड़ दिया है। भारत को उनके साथ सहानुभूति है।

अमेरिका की नीति सयुक्तराष्ट्र सगठन के मार्ग मे बहुत बड़ा बाधक है। हम ऊपर देख चुके हैं कि किस तरह कोरिया के सम्बन्ध में स्थायी सदस्यो के मतैक्य वाले सिद्धान्त की उपेक्षा की गई। रूस अपने वीटो के अधिकार का समय-समय पर उपयोग करता रहा है। इससे अमेरिका की स्वेच्छाचारिता मे बाधा पड़ने लगी है। अतः उसने बहुमत के द्वारा निर्णय करने की प्रथा चलानी चाही, किन्तु इसके लिए चार्टर मे सशोधन के निर्माण का स्वाग रचा जो सयुक्तराष्ट्र सगठन का ही प्रतीक होता, किन्तु प्रयत्न विफल रहा। उसकी यह भी महत्त्वाकाक्षा थी कि सुरक्षापरिषद मे वही सर्वेसर्वा रहे और अन्य सदस्य कठपुतली बन जायें। यह भी पूरा नहीं हुआ। अब चार्टर की उपेक्षा करके भी अपनी प्रभुता कायम

रखने और बढाने का प्रयत्न करने लगा। मार्च १६४६ ई० मे एक उत्तरी अटलान्टिक सन्धि हुई जिसे १५ राष्ट्रों ने स्वीकार किया है। चार्टर में प्रादेशिक या क्षेत्रीय सम्मेलन या सन्धि करने का नियम है, किन्तु एटलान्टिक सन्धि-पत्र पर ऐसे देश भी हस्ताक्षर किये हैं जो अटलान्टिक क्षेत्र मे नही कहे जा सकते। यह सन्धि सयुक्तराष्ट्र की उपयोगिता मे अविश्वास का द्योतक है। ऐसे ही मध्यपूर्व मे अमेरिका तथा ब्रिटेन की प्रधानता मे एक सुदृढ मोर्चा कायम करने का प्रयत्न हो रहा है।

यह भी स्मरणीय है कि एक ओर शान्ति की बात होती है तो दूसरी ओर सभी महान् राज्यो मे सैन्य प्रसार की नीति पूर्ववत् जारी है। परमाणु शक्ति के क्षेत्र मे तरह-तरह के आविष्कार का प्रयत्न हो रहा है। अमेरिका तो उसका स्वामी ही है, ब्रिटेन भी अणुबम के बनाने और प्रयोग करने मे कार्यशील है। रूस तो अणुबम के प्रयोग का निषेध और सेना में ⅓ कटौती चाहता है किन्तु अमेरिका तथा ब्रिटेन रूस के साथ सहमत नही हैं। सयुक्तराष्ट्र का यह भी एक प्रधान लक्ष्य था कि निरस्त्रीकरण को प्रोत्साहित किया जाय। परन्तु महान् राष्ट्रो के रुख को देख कर वह किंकर्तव्यविमूढ़ बन गया है।

ब्रिटेन और अमेरिका के बीच भी यद्यपि तनातनी नहीं है फिर भी कुछ बातो मे मतभेद है और कहीं-कहीं दोनों के स्वार्थ भी टकरा जाते हैं। कम्युनिस्ट चीन को स्वीकार करने मे दोनो एकमत नही हैं। ब्रिटेन की उससे सहानुभूति है तो अमेरिका की नहीं। दूसरे, ब्रिटेन स्वतन्त्र ढग से अणुबम का प्रयोग करने में सलग्न है। तीसरे, आर्थिक क्षेत्र मे ब्रिटेन राष्ट्रमडल के सदस्यो के बीच आर्थिक सम्पर्क स्थापित रखना चाहता है तो अमेरिका यूरोप के देशो के साथ। यदि यूरोपीय देशो की औद्योगिक स्थिति सुदृढ हो जाय तो वे ब्रिटेन के प्रतियोगी बन सकेंगे और अमेरिका अधिक लाभ मे रहेगा। चौथे, प्रशान्त गुट के निर्माण मे अमेरिका ब्रिटेन के बहिष्कार पर जोर देता है और आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड उसे भी इसमे सम्मिलित करने के लिए उत्सुक हैं। पाँचवें, निकटपूर्व मे अमेरिका ब्रिटेन के प्रभाव का अन्त कर देना चाहता है। उसी ने फिलस्तीन के बँटवारे का प्रस्ताव किया और जब इजरायल का राज्य कायम हुआ तो सयुक्तराष्ट्र सगठन ने शीघ्र ही मान्यता प्रदान कर दी। अमेरिका की इस नीति से अरब लीग के सदस्य रुष्ट हो गये हैं।

इन बातो से यह स्पष्ट हो जाता है कि सयुक्तराष्ट्र सगठन लोकतान्त्रिक सस्था नही है। यह ससार के महान् राजनीतिज्ञो के परिवर्तित हृदय का उत्पादन नही बल्कि उनकी कूटनीतिक चाल है। दुनिया को धोखा देने के लिए यह एक माया-जाल रचा गया है। जब तक मनुष्य के विचारों में मूल-भूत परिवर्त्तन नही होगा, दिल में प्रेम और दिमाग मे विवेक का प्रादुर्भाव नहीं होगा तब तक नये समाज का विकास नही हो सकता। परन्तु साम्राज्य-

वादी राजनीतिज्ञ बड़ी भूल मे हैं। अब वे एक ऐसे घर के अन्दर हैं जिसकी नींव हिल-डोल गई है और जो एक ही धक्के के लगने से किसी समय गिर सकता है। अब दुनिया करवट ले रही है, युग-परिवर्त्तन रहा है। साम्राज्यवादी शोषक सकीर्ण और स्वार्थी, क्रूर और विवेकशून्य होने के कारण इनकी गति को नहीं परख रहे हैं। भविष्य में वे स्वय ही उनके प्रवाह मे प्रवाहित हो जायेंगे। नये मानव का उदय होगा, एक नयी दुनिया, एक नये युग का निर्माण होकर ही रहेगा।

सयुक्तराष्ट्र सघ की महत्ता

उपर्युक्त आलोचना से यह न समझ लेना चाहिए कि सयुक्तराष्ट्र सघ बिलकुल बेकार सस्था है। इसने एक ऐसे रगमच का निर्माण किया है जिस पर विश्व के सभी राष्ट्र मिलकर विचार-विनिमय करते हैं। वहाँ ऐसी-ऐसी बातें होती हैं जो उसके अभाव में राष्ट्रों के बीच मे युद्ध तक उत्पन्न कर सकती थी। इसने गुप्त कूटनीति का अन्त-सा कर दिया है। इसके अतिरिक्त अपने पूर्वज राष्ट्रसघ की भाँति इसने भी गैर राजनीतिक क्षेत्रों में अनेक कार्य किये है और अद्भुत सफलता प्राप्त की है। सामाजिक तथा सास्कृतिक क्षेत्रो मे बहुत से सुधार हो रहे हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा श्रम-सम्बन्धी कई योजनाएँ प्रस्तुत तथा कार्यान्वित हुई हैं।

(ग) राष्ट्रमण्डल

भूमिका

विश्व की राजनीति मे राष्ट्रमडल का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व मे एकता और शान्ति-स्थापना के मार्ग मे यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था है जिसका निर्माण बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। राष्ट्रसघ तथा सयुक्तराष्ट्र सगठन की तरह राष्ट्रमडल का निर्माण किसी निश्चित तिथि को किसी सम्मेलन मे बैठकर नही किया गया। यह न तो किसी महायुद्ध के बाद पैदा हुआ और न महायुद्ध के वातावरण मे ही। यह प्रधानतः परिस्थितियों का उत्पादन है और इसका श्रेय ब्रिटिश जाति को है। अगरेज वैधानिक होते हैं और वे सुधार तथा विकास में विश्वास करते है। यूरोप के अन्य देशो के लोगों के जैसा वे खूनी क्रान्ति का समर्थन नहीं करते। उनका यह जातीय गुण भी राष्ट्रमडल के निर्माण मे सहायक सिद्ध हुआ।

व्यवस्था

राष्ट्रमडल का कोई लिखित सविधान नहीं है। यह स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक सगठन है। सामूहिक रूप से वे एक इकाई हैं, पृथक् रूप से सत्तापूर्ण राष्ट्र हैं। राष्ट्रमडल का सदस्य रहना या न रहना किसी की इच्छा पर निर्भर करता है। फिर भी राष्ट्रमडल एक सुसगठित सस्था है। यह भावना परम्परा और स्वार्थ के स्तम्भों पर टिकी हुई है। इसका

नाममात्र का प्रधान ग्रेट ब्रिटेन का सम्राट है। वह एक मूर्त्ति-स्वरूप है, वस्तुत. राष्ट्रमडल मे उसका कोई अधिकार नहीं है। सदस्य राष्ट्र जब भी चाहे, उसे अपना प्रधान मानने से अस्वीकार कर सकता है। समय-समय पर राष्ट्रमडल के सदस्यो का सम्मेलन होता है जिसमे सदस्य राष्ट्र के प्रधानमत्री या उनके प्रतिनिधि भाग लेते हैं।

विकास

राष्ट्रमडल का मूल ब्रिटिश-साम्राज्य मे है। हम पहले ही प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य के विनाश और द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य के सगठन की कहानी पढ चुके हैं।[1] १६वी शताब्दी मे द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य का सगठन हुआ। कैनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और दक्षिणी अफ्रीका इस साम्राज्य के मुख्य अग थे। अगरेजो ने प्रथम साम्राज्य के विनाश से शिक्षा ग्रहण की। प्रथम साम्राज्य जिसका केन्द्र अमेरिका मे था, शोषण तथा दमन की नीति पर आधारित था। अत. वह ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध विद्रोह कर अलग हो गया। अब ब्रिटिश सरकार ने उपर्युक्त उपनिवेशो के साथ उदारवादिता की नीति अपनाई। उन्हें १६१४ ई० तक स्वराज्य प्रदान कर दिया गया। प्रथम महायुद्ध के बाद वे वैदेशिक क्षेत्र मे भी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करने लगे और इगलैण्ड की ओर से इसे प्रोत्साहित ही किया गया। ये डोमी-नियन के नाम से प्रसिद्ध हुए। १६२१ ई० मे आयरिश फ्री स्टेट नामक एक और डोमी-नियन का निर्माण हुआ। १६२६ ई० की साम्राज्य महासभा ने इनके पद की व्याख्या की और इन्हे स्वतन्त्र घोषित किया। ये ब्रिटिश कौमनवेल्थ के सदस्य कहे गए जो इगलैण्ड के समान अपने घरेलू या वैदेशिक मामलो मे स्वतन्त्र है और इगलैण्ड के राजा के प्रति भक्ति रखते हैं। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भी एक कानून बनाकर इस घोषणा को वैध करार दिया।

१६३१ के बाद आयरलैण्ड मे महान् परिवर्त्तन हुए। दूसरे ही साल आयरिश फ्री स्टेट मे डी वेलेरा के जनतन्त्री दल की विजय हुई। उसने एक-एक करके ग्रेट ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद कर डाला। १६३७ ई० मे वहाँ एक नया विधान बना और फ्री स्टेट का नाम आयर रखा गया। आयर प्रभुता-सम्पन्न, स्वतन्त्र और प्रजातत्र राज्य घोषित हुआ। अब यहाँ प्रेसिडेंट की ही आज्ञा सर्वोपरि थी। द्वितीय महायुद्ध के समय (१६३६-४५ ई०) आयर तटस्थ रहा। इतने पर भी वैदेशिक क्षेत्र मे वह आगे भी ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य समझा जाता रहा।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् १६४७ ई० मे भारत और लका स्वतन्त्र हुए। भारत से मुस्लिम बहुसख्यक वाले भागो को पृथक् कर पाकिस्तान नाम के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण

---

[1] देखिए अध्याय ३०

हुआ। बर्मा को भी स्वाधीनता मिली और वह राष्ट्रसघ से भी शीघ्र ही अलग हो गया। महायुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति मे दुर्बलता आ गई थी और वह एशिया के तीन स्वतन्त्र राज्यो—भारत, पाकिस्तान और लका के सहयोग के लिए उत्सुक था। ये राज्य भी उसके साथ अपना सम्बन्ध बिल्कुल तोड़ देना नही चाहते थे। अत अक्तूबर १९४८ ई० में लदन मे जब ब्रिटिश राष्ट्रमडल के प्रधान मत्रियो का सम्मेलन हुआ तो उसमे एक महत्त्वपूर्ण निर्णय हुआ। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से ब्रिटिश शब्द निकाल दिया गया और अब यह केवल राष्ट्रमडल कहलाने लगा। नाम के साथ इसका रूप भी बदल गया। भारत, पाकिस्तान और लका इस राष्ट्रमडल के सदस्य बने।

१९४९ ई० मे वैदेशिक क्षेत्र मे भी सम्राट के अधिकार को अस्वीकार कर दिया। अब वह एक सार्वभौम सत्तायुक्त राष्ट्र बन गया और राष्ट्रमण्डल का सदस्य नही रहा। इसने एक नई व्यवस्था उत्पन्न कर दी। आयर ने राष्ट्रमण्डल को सहयोग देना स्वीकार किया और यह निश्चय हुआ कि आयर तथा ब्रिटेन एक दूसरे के नागरिको को अपना नागरिक समझते रहेंगे।

१९५० ई० मे भारत ने अपने को पूर्ण सत्तात्मक जनतन्त्र घोषित किया, फिर भी वह राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा। इस प्रकार परिस्थिति के अनुसार ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल बना और वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से राष्ट्रमण्डल मे परिवर्त्तित हुआ। यह इसकी उदार- और सहज परिवर्त्तनशीलता का द्योतक है।

राष्ट्रमण्डल की महत्ता

राष्ट्रमण्डल, जैसा ऊपर हम कह चुके हैं, स्वतन्त्र राष्ट्रों का समूह है। इसके सभी सदस्य राष्ट्र एक दूसरे के बराबर हैं। वे सुधार, विकास, प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्तों मे विश्वास करते हैं। वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। किसी पर किसी का कोई दबाव नहीं है। फिर भी सभी एक दूसरे के साथ सहयोग और सम्पर्क बनाए रखते हैं। इस तरह राष्ट्रमण्डल एक विशाल परिवार की तरह है जो सहकारिता की भावना पर आधारित है। इसके सदस्य एकता के दृढ़ सूत्र मे आबद्ध हैं। युद्ध जैसे सकटकाल में इसकी परीक्षा भी हो चुकी है। ग्रेट-ब्रिटेन इसका सर्वशक्तिशाली सदस्य है फिर भी इसने युद्ध म शामिल होने के लिए किसी सदस्य राष्ट्र पर दबाव नही डाला और सभी सदस्य राष्ट्रों ने उसे स्वेच्छा से दोनों महायुद्धो मे सक्रिय सहयोग भी प्रदान किया। आयर (आयरलैण्ड) द्वितीय महायुद्ध के समय तटस्थ ही रहा फिर भी ग्रेट ब्रिटेन ने उसे सहयोग देने के लिए बाध्य भी नही किया। राष्ट्रमण्डल के सदस्यों मे कभी युद्ध भी नहीं हुआ और न आगे होने की सम्भावना है। इसकी सदस्यता भी व्यापक है। सभी महादेशों का इसमें प्रतिनिधित्व है और पूरब तथा पश्चिम दोनों दिशाओ के राष्ट्र इसमे सम्मिलित हैं। इस

तरह यह पूर्व और पश्चिम को मिलाने वाली एक कड़ी है। राष्ट्रसघ तथा सयुक्त राष्ट्र सगठन की अपेक्षा विश्व के अधिकाश भाग मे एकता तथा शान्ति बनाये रखने मे राष्ट्र-मण्डल अधिक समर्थ तथा सफल है।

राष्ट्रमण्डल की सबसे बडी त्रुटि यही है कि यह ब्रिटिश साम्राज्य के पेट स उत्पन्न हुआ है। ग्रेट ब्रिटेन इसका बडा सदस्य है और इसने अभी साम्राज्यवाद को तिलाजलि नही दी है। उसके अधीन अभी कई आश्रित राज्य हैं। अतः राष्ट्रमण्डल का वातावरण उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से दूषित है। यदि वह साम्राज्यवाद का परित्याग कर दे तो राष्ट्रमण्डल विश्व मे एक बहुत ही उपयोगी सस्था बन जाय और यह विश्व-राज्य के निर्माण मे सहायक सिद्ध हो सकेगा।

———

लाभ पहुँचाने के हेतु उन्होंने रस्किन की पुस्तक का अन्य भाषाओ मे अनुवाद करा दिया। अनुवाद कराने का प्रधान उद्देश्य यही था कि पुस्तक पढकर सभी लाभ उठावें—सबका उदय हो, सबकी भलाई हो। अत' अनुवादित पुस्तक का नाम गाधीजी ने 'सर्वोदय' रखा। गाधीजी के जीवन का भी प्रधान लक्ष्य था—सब की सेवा करना—मानव मात्र की भलाई करना। उनकी दृष्टि मे मानव-समाज ही उनका परिवार था। इतना ही नही, सभी चेतन पदार्थों की रक्षा करना उनका ध्येय था। वे सभी पशु-पक्षियो, जीव-जन्तुओ तक के साथ सहानुभूति रखते थे। अत अपनी विशेषता के कारण अन्य वादो की तरह उनकी भी विचारधारा गाधीवाद के नाम से प्रचलित हो चली। किन्तु गाधीजी को यह नाम प्रिय नहीं था और वे अपने सर्वव्यापक सिद्धान्त के लिए 'सर्वोदय' नाम अधिक पसन्द करते थे। ३० जनवरी, १९४८ ई० का वे शहीद हो गए। उसके बाद उनके अनुयायीगण उनके सिद्धान्तों के लिए सर्वोदय शब्द का ही अधिक प्रयोग करने लगे। उनकी विचारधारा को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए यही शब्द सर्वाधिक उचित और मान्य समझा गया। उसी साल इन्दोर मे एक सर्वोदय सम्मेलन हुआ और वहाँ उसी सम्मेलन मे सर्वोदय समाज की स्थापना घोषित की गई। लेकिन सर्वोदय समाज कोई सगठित सस्था जैसा नही है बल्कि यह एक बिरादरी है जिसमे सभी लोग प्रेमभाव से मिलते और विचार-विनिमय करते हैं। सर्व-सेवा सघ इसका सस्थात्मक रूप है।

सर्वोदयवाद के सिद्धान्त

एक राजनीतिक विचारधारा की दृष्टि से इसकी विस्तृत छान-बीन करना हमारा उद्देश्य नही, बल्कि हम इसके प्रमुख तत्वो पर ही प्रकाश डाल कर सन्तोष करेंगे। अब तक राज-नीति शास्त्रो मे हम कई वाद सुन चुके हैं जैसे प्रजातन्त्रवाद, उपयोगितावाद, आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, पूजीवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, अराजकतावाद, अधिनायकवाद आदि। इन वादो मे कुछ तो अच्छे हैं किन्तु कुछ तो बहुत ही बुरे हे। जिनमे कुछ अच्छाई भी है वे भी मानवमात्र के कल्याण की व्यवस्था नही करते और उन वादो मे भी कुछ लोग दुखी अवश्य रह जाते हैं। प्रजातन्त्रवाद मे, जो एक बहुत ही प्रचलित वाद है, बहुमत का ही बोलबाला है और अल्पमत वालों को इनके सामने सिर झुकाये ही रखना पड़ता है। उपयोगितावाद मे, जो पश्चिम की एक प्रगतिशील विचारधारा है, अधिक से अधिक लोगो की भलाई की बात कही जाती है, सभी लोगा की नहीं। सर्वोदयवाद इन सभी वादो से परे और अपने समय से बहुत आगे है। इसका अर्थ ही है सभी का उदय—सर्वलोक-कल्याण—प्राणिमात्र का हित। इसका सम्बन्ध सारी सृष्टि है जिसमे सभी मनुष्य, पशुपक्षी आदि सब का पूर्ण विकास हो। जहाँ तक मानव का सम्बन्ध है, इसमे प्रत्येक व्यक्ति का अधिक से अधिक कल्याण निहित है। यही इसका लक्ष्य है और प्राप्ति के साधन हैं

सत्य और अहिंसा। इस तरह इसके साध्य तथा साधन दोनो ही उत्तम हैं। यह प्रेम तथा विवेक से परिपूर्ण है। सत्य तथा अहिंसा—इन दोनो शब्दो का अर्थ बड़ा ही व्यापक है। सत्य या सत्याग्रह का अर्थ है आत्मा की पुकार को निर्भय होकर सुनना और अभिव्यक्ति करना। यह दुभाषिया नहीं है। हृदय और मुख दोनो की वाणी एक है, सिद्धान्त और व्यवहार मे कोई अन्तर नही है। या तो अहिंसा का अर्थ है, हिंसा नही करना, किन्तु यह केवल नकारात्मक ही नहीं है, यह सकारात्मक भी है। यह बाह्य आचरण का केवल स्थूल नियम ही नही है, बल्कि एक स्थायी मनोवृत्ति एव भावना है। यह केवल बुराई के बदले बुराई नही करना ही नही सिखलाती, बल्कि बुराई के बदले भलाई करना भी सिखलाती है। अतः यह वीरो का अस्त्र है, दुर्बलो का नहीं। सत्याग्रही स्वय तकलीफ झेलता है, किन्तु दूसरे को तकलीफ नही देता। वह स्वय मर सकता है, दूसरे को मार नहीं सकता। वह सफल सेवक बनने के लिए सतत् सचेष्ट रहता है, स्वामी बनने के लिए नही। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इसमे स्वार्थ, शोषण तथा सघर्ष का अभाव है। इसका अनुयायी अपने हित के साथ अपने पड़ोसी के हित का भी ख्याल रखता है। अहिंसा का प्रयोग जीवन के सभी क्षेत्रो मे हो सकता है। आर्थिक क्षेत्र मे अहिंसा का अर्थ है औद्योगिक विकेन्द्रीकरण, राजनीतिक क्षेत्र मे पचायती विकेन्द्रित राज्य, सामाजिक क्षेत्र मे समानता एव भेदभाव का उन्मूलन और शिक्षा के क्षेत्र मे शारीरिक और बौद्धिक एव आत्मिक सन्तुलन।

मार्क्सवाद वर्ग-सघर्ष को स्वीकार करता है तो सर्वोदयवाद वर्ग-सामन्जस्य को। यह समाज मे हित-विरोध की कल्पना नहीं करता। अतः यह इसके किसी अग को नष्ट करना नहीं चाहता बल्कि इसके विभिन्न अगो मे सहयोग और समन्वय बनाये रखना चाहता है। दूसरे, मार्क्सवाद हिंसा पर आधारित है किन्तु सर्वोदयवाद मे हिंसा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, दोनो मे वैसा ही सम्बन्ध है जैसा प्रकाश और अन्धकार मे। यह विचार-विरोध को दबाने के बदले प्रोत्साहित करता है। यह बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर विशेष जोर देता है। यह आत्मिक विकास, हृदय-परिवर्त्तन चाहता है। यह कीचड़ के लिए कीचड़ नही फेंकता बल्कि कीचड़ को स्वच्छ जल से धोकर विरोधियो को लज्जित कर देता है। सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के तीनो सिद्धान्त—स्वतन्त्रता, समानता एव भ्रातृत्व—सर्वोदयवाद मे निहित हैं। भ्रातृत्व तो सर्वोदयवाद का सर्वप्रमुख अग है। इसे विश्व-बन्धुत्व, सार्वभौम प्रेम, वसुधैव कुटुम्बकम् का पर्यायवाची शब्द कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं। सर्वोदय समाज का द्वार किसी के लिए किसी समय खुला है, यदि उसे इसके सिद्धान्तों में अटूट विश्वास हो।

फ्रांसीसी क्रान्ति ने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त और रूसी क्रान्ति ने समानता के सिद्धान्त

को हिंसात्मक साधनो के द्वारा आगे बढाया है परन्तु भारतीय क्रान्ति ने अहिंसात्मक साधनो के द्वारा तीनो ही सिद्धान्तो को आगे बढाया है। यही महात्मा गाधी और भारत की विश्व को अमूल्य देन है।

सर्वोदयवाद की महत्ता

उपर्युक्त सिद्धान्तो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वोदयवाद केवल एक राजनीतिक विचारधारा ही नही है बल्कि यह एक जीवन-मार्ग है। भारत के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता की तरह यह सिखलाता है कि मनुष्य को किस प्रकार ससार मे रहना चाहिए ताकि वह सुख और शान्तिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके। यह प्रचार की चीज उतनी नही है जितनी अभ्यास की। यह हृदय मे धारण करने की चीज हे, मस्तिष्क मे नहीं। यह सतोगुणी वृत्ति है, रजोगुणी या तमोगुणी नहा।

आज की स्थिति कितनी भीषण और भयकर है! ससार अस्त-व्यस्त है, समाज मे उथल-पुथल है। विज्ञान के सारे साधनो के बावजूद भी मनुष्य को सुख-शान्ति की प्राप्ति नही है। लूट-पाट, छीना-झपटी, खून-खतरा, भय-शका, शक्ति और सत्ता, पाप और पाखण्ड, प्रमाद और पीडा—इन्ही का साम्राज्य है। हिसा का नग्न नृत्य हो रहा है, मनुष्य-मनुष्य का खून बहाता है और दानवता ने मानव-समाज पर कब्जा कर लिया है। बडी-बड़ी शान्ति-योजनाएँ बनती हं, लम्बी-लम्बी घोषणाएँ की जाती हैं, महती सभाएँ होती हैं और बहुत ही सुन्दर चित्ताकर्षक भाषण होते हं। फिर भी शान्ति का कहीं पता नही है। उद्भ्रान्त मानव शान्ति के लिए भूखा है, प्यासा है और भटक रहा है। दुनिया लड़खड़ा रही है। एक कवि ने ठीक ही लिखा है—

> अर्चा सकल बुद्धि ने पायी,
> हृदय मनुज का भूखा है,
> बढी सभ्यता बहुत, किन्तु
> अन्तः सर अब तक सूखा हे।

परन्तु यह विश्व—यह मानव अपन अतिम लक्ष्य की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है यद्यपि मजिल अभी काफी दूर है। सर्वोदयवाद ही मानव-समाज का अन्तिम लक्ष्य है। सारी बुराइयो की यही एकमात्र रामबाण औषधि है। यही मानव-हृदय की भूख को मिटा सकता है और अन्तः-सर मे शीतलता ला सकता है।

सर्वोदयवाद की सम्भावना

कुछ लोग सर्वोदयवाद को आदर्श मात्र ही समझते हैं और उनके विचार से यह व्यावहारिक राजनीति के उपयुक्त नहीं। ऐसा सोचना निराधार और भ्रम है। पहले तो यह तर्क ही लगता है कि जो बात अभी तक सफल नही हुई वह कभी भी सफल नहीं होगी।

मध्ययुग मे जिसने पृथ्वी को गोल और सूर्य की परिक्रमा करने वाली बतलाया उसे इसके लिए प्राणदण्ड दे दिया गया। किन्तु आधुनिक युग मे यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। काल्विन जैसे प्रगतिशील सुधारक ने अपने समय के महान् वैज्ञानिक सर्विटस को जीते जी अग्नि मे झोकवा दिया था, किन्तु वर्त्तमान युग विज्ञान का ही युग है और सत्य की खोज के लिए कोई भी सजा का भागी नहा बनता। उसी प्रकार, जिसने सर्वप्रथम आकाश मे वायुयान उड़ाने का प्रयत्न किया वह लोगो की हँसी का पात्र बना, परन्तु अब तो वायुयानो की आवाज से सारा दिन आकाश गूँजता रहता है। इस तरह के कई उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। अत. सर्वोदयवाद की सफलता मे भी सन्देह नहीं किया जा सकता। दूसरे, सभी विचारा का पहले मस्तिष्क मे ही प्रादुर्भाव होता है और वे आदर्शतुल्य ही रहते है, धीरे-धीरे समय की गति के साथ वे कार्य-क्षेत्र मे उतरते है। तीसरे, अतीत और वर्त्तमान दोनो ही युगो मे सफल सत्याग्रह के भी कई उदाहरण मौजूद हैं। डैनियल, सुकरात, प्रह्लाद और मीराबाई सच्चे सत्याग्रही थे। पहले तथा दूसरे ने अपने शासको के विरुद्ध और तीसरे तथा चौथे ने क्रमशः अपने पिता और पति के विरुद्ध सत्याग्रह किया था। अशोक ने सत्य और अहिंसा का अपने शासनकाल मे प्रयोग किया। आधुनिक युग मे महात्मा गाधी सत्याग्रह के महान् प्रवर्त्तक रहे है और उनके प्रयास से सत्य तथा अहिसा समाजशास्त्र के अग बन गए हैं। उन्होने इन सिद्धान्तो का बड़े पैमाने पर सभी क्षेत्रो मे प्रयोग किया और पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उन्होने सर्वप्रथम दक्षिणी अफ्रीका मे इसका व्यवहार किया, उसके बाद भारत मे। उन्होंने इगलैण्ड जैसे साम्राज्यवादी देश से शान्तिपूर्ण ढग से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली और भारत के साथ उसकी मित्रता भी बनी रही है। दुनिया के इतिहास मे यह अद्वितीय क्रान्ति है। चौथे, लोग हिसा और प्रचार के युग मे रहते-रहते इनके इतने आदी हो गए है कि सत्य एव अहिंसा की बात वे सोच ही नहीं सकते। परन्तु उन्हे जानना चाहिए कि हिंसा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है और अब इसकी अधोगति निश्चित है। एटलाटिक चार्टर की घोषणा मे एक बात यह भी कही गई है कि "विश्व के सभी राष्ट्रों को भौतिक तथा आध्यात्मिक कारणो से पशुबल का प्रयोग त्यागना होगा।" हम ऊपर कह चुके हैं कि मानव-समाज उसी ओर भटकते हुए पहुँचने के लिए बाध्य है। एक समय था जब कि धर्म के नाम पर युद्ध तथा नर-मेध यज्ञ होते थे और सहिष्णुता का नाम लेना गुनाह और हास्यास्पद समझा जाता था। यूरोप के इतिहास मे १६वी और १७वीं सदी में ये सभी बातें होती थीं, किन्तु ३० वर्षीय युद्ध मे धार्मिक असहिष्णुता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। नरमुडो का ढेर लग गया। तत्पश्चात् सहिष्णुता की नीति स्वीकार की गई। उसके बाद राष्ट्रीयता के नाम पर युद्ध और खून-खराबियाँ होने लगीं। ये भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी हैं और २०वी शताब्दी मे राष्ट्रीयता और हिंसा का

महत्त्व घटता जाता है और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा अहिंसा की महत्ता बढ़ती जाती है। जब अन्तर्राष्ट्रीयता का पूर्ण विकास हो जायगा तब सर्वोदयवाद और विश्वराज्य के लिए वातावरण तैयार होगा। इस प्रकार इतिहास की गति सर्वोदयवाद की ओर है। पाँचवें, यदि कोई मनुष्य दिन मे अपनी आँख मूँद ले और कहे कि यह रात है तो यह उसकी कमजोरी है, इसमें सूर्य का कोई दोष नही। इसी प्रकार जब तक मनुष्य में त्रुटियाँ हैं, रोग हे तब तक उनका दोष है, सर्वोदयवाद का कोई दोष नहीं। यदि उन्हे अपनी त्रुटियो और रोगो से मुक्त होना है तो उन्हे सर्वोदयवाद की औषधि का सेवन करना पड़ेगा। बिना इसके सेवन किये मानव-समुदाय के पूर्ण स्वास्थ्य की आशा करना मरीचिका है। इसका समुचित सेवन कर मानव-समाज जब पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त हो जायगा तभी विश्व मे चिरशान्ति स्थापित हो सकेगी। स्वस्थ नया मानव ही नयी दुनिया का सृजन कर सकता है।

अध्याय ४५

उपसंहार—अनुभव का लेखा-जोखा

हम दुनिया का भ्रमण कर चुके, पृथ्वी पर पैदल चले और रेलो के द्वारा सफर किया, नदियों तथा समुद्रो मे नावो और जहाजो का उपयोग किया, फिर आकाश मे वायुयानों के द्वारा उड़े। कुटुम्ब, गिरोह, जाति, ग्राम, नगर, राष्ट्र तथा विश्व-सघ का निर्माण देखा इस तरह मानव-समुदाय के सहस्रो एव करोड़ों वर्ष के इतिहास पर दृष्टिपात किया, कई प्रकार के लोगो तथा सभ्यताओ और सस्कृतियां से सम्पर्क हुआ। इस विस्तृत तथा दीर्घकालीन यात्रा मे अनेकानेक अनुभव हुए जिनका यहाँ लेखा-जोखा कर देना असगत नहीं होगा।

प्रकृति मे कुछ ऐसा नियम है जिसका पालन स्वत. हुआ करता है। •सृष्टि स्थिर नहीं है, परिवर्त्तनशील है। जो देश या राष्ट्र कभी उत्थान के शिखर पर था, वह कभी पतन के गढे मे पाया गया है और जो कभी अवनति की स्थिति मे था वही कभी उन्नति की चोटी पर पहुँच गया। जो नगर कभी सभ्यता और सस्कृति का केन्द्र बन कर मानव-मन को लुभा रहा था वही कालान्तर मे पृथ्वी के गर्भ मे चला गया। कभी का विजेता कभी विजित बना तो विजित विजेता बना। जो कभी स्वामी था वह कभी सेवक बना और दास कभी मालिक बना। जो कभी धन-वैभव के बीच लोट-पोट कर रहा था वही दाने-दाने का मोहताज बना और जो कभी निर्धनता की चोट से कराह रहा था लक्ष्मी कभी उसी की दासी बनी। अत. इतिहास बतलाता है कि मनुष्य किसी दूसरी शक्ति के हाथ का खिलौना है, उसकी कोई कीर्त्ति स्थायी नही है। उसे सुख के शिखर पर पहुँच कर ऐसा मतवाला न बनना चाहिए कि वहाँ से गिरने पर उसका सर्वनाश ही हो जाय।

इस प्रकार प्रत्येक देश या राष्ट्र का किसी न किसी समय उत्थान-पतन हुआ है, किन्तु मानव-समाज प्रगति के पथ पर सतत धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से आगे की ओर बढ़ता रहा है। अत· सभ्यता एव सस्कृति किसी एक देश, राष्ट्र या जाति की देन नहीं है बल्कि यह मानव-समाज के सामूहिक प्रयत्नो का उत्पादन है। सभ्यता एव सस्कृति वह विशाल समुद्र है जिसमें विभिन्न दिशाओं से आकर अनेक नदियाँ सम्मिलित हुई हैं। वर्त्तमान सभ्यता एव सस्कृति युगो से सचित मानव-अनुभवो का अनन्त भण्डार है। प्रत्येक युग की अपनी-अपनी विशेषता रही है। प्राचीन युग मे सस्कृति (कला, साहित्यादि) की प्रधानता थी, मध्ययुग मे धर्म का बोलबाला था और आधुनिकयुग में विज्ञान की तूली बोल रही है। वर्त्तमान अतीत का सृजन और भविष्य का सृजक है। पूर्व ने कृषि का कर्म सिखलाया,

त्याग का महत्त्व बतलाया और अध्यात्मवाद का संदेश सुनाया तो पश्चिम ने व्यवसाय, भोग और भौतिकवाद का पाठ पढ़ाया। इस तरह पृथ्वी एक है, विश्व एक है, मानव-समाज एक है। पर एकता मे अनेकता है और अनेकता मे एकता है। प्रगति का क्रम अटूट है—शृंखलाबद्ध है।

आज की दुनिया पॉच बड़े भागो मे विभक्त है—एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया। भौगोलिक दृष्टि से एशिया तथा यूरोप ने ही सभ्यता और संस्कृति के विकास मे अधिक योग दिया है। इन दोनों महाद्वीपों मे भी एशिया की देन अधिक महत्त्व पूर्ण रही है। प्राचीन युग मे एशिया ही मानव-सभ्यता एव संस्कृति का केन्द्र विन्दु था—प्रकाश-स्तम्भ था। एशिया की ही भूमि पर सभ्यता संस्कृति के प्रकाश-किरण का उदय हुआ और वहीं से अन्य भागो मे इसका प्रसार हुआ। 'एशिया मे ही विश्व के प्रमुख धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ है। हिन्दू तथा बौद्ध धर्म भारत मे, यहूदी तथा इसाई धर्म फिलस्तीन मे, पारसी धर्म फारस मे, कनफ्यूशस तथा लाओत्से के धर्म चीन मे और इस्लाम धर्म अरब मे उत्पन्न हुए हैं। इन सभी धर्मों मे मानवोचित गुणों के विकास पर विशेष जोर दिया गया है। सत्य और सेवा, त्याग और तपस्या, सन्तोष और समता, प्रेम और भक्ति इन धर्मो के मूल तत्त्व हैं और इनका उद्देश्य है मानव-जीवन मे सुख-शान्ति की धारा प्रवाहित करना। ये धर्म मानव-जीवन के लक्ष्य की ओर संकेत थे। 'सभ्यता एव संस्कृति के अन्य क्षेत्रो मे भी प्रगति हुई थी। प्राचीन युग मे इसके चार प्रधान केन्द्र थे—मेसोपोटामिया, भारत, चीन और ईरान। यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि एशिया मे हिमालय जैसे उत्तुंग पहाड़ स्थित हैं फिर भी एशियाई देशों की सभ्यताओं मे मौलिक एकता है—बहुत-सी बातें मिलती-जुलती हैं। उस समय जब कि सभ्यता एव संस्कृति सर्वोच्च शिखर पर थी, भूमध्यसागरीय भू-भाग को छोड़कर यूरोप अभी अंधकार मे भटक कर ठोकरें खा रहा था। मध्यकाल मे भी जब यूरोप का जागरण होने लगा था एशिया उससे पीछे नहीं था। पुराने केन्द्रो के सिवा इस काल में अरब, मंगोलिया और तुर्किस्तान सभ्यता के प्रधान केन्द्र थे। भारत प्रारंभ से ही दार्शनिक चिंतन का अद्भुत स्रोत था। चीन ने मुद्रण तथा दिशासूचक यंत्रो का आविष्कार कर मानव-प्रगति मे क्रान्ति ला दी। अरबो ने एशियाई संस्कृति का यूरोप मे भरपूर प्रचार किया। यूनान तथा रोम की सभ्यताएँ मूलत. एशियाई सभ्यता से प्रभावित हुई थीं। १६वीं सदी तक कई बार एशिया ने यूरोप पर आक्रमण किया और अनेक यूरोपीय जातियो के पूर्वज एशिया के ही रहने वाले थे। प्राचीन काल मे अफ्रीका के उत्तरी भाग में (मिश्र) सभ्यता का उदय हुआ था किन्तु उस पर भी एशिया की मुहर लगी हुई थी। मिश्री सभ्यता पर बेबीलोनिया का गहरा प्रभाव था। मेक्सिको तथा मध्य अमेरिका मे भी माया नामक उच्चकोटि की सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ था परन्तु इस

सभ्यता के निर्माता के भी पूर्वज एशियावासी ही थे। इस तरह विश्व के तीन महान् महाद्वीप—यूरोप, अफ्रीका तथा अमेरिका—एशिया से प्रभावित हुए हैं और इसने इनका सफल नेतृत्व किया है।

इस प्रकार प्राचीन काल मे सभ्यता के बोझ से एशिया का पलडा बहुत भारी था, मध्य युग मे यह कुछ ऊपर उठने लगा था और आधुनिक युग के प्रादुर्भाव के साथ यूरोप का पलडा भारी होने लगा और एशिया का पलडा हल्का होता गया। विज्ञान तथा वाणिज्य-व्यवसाय की दौड मे यूरोप एशिया स आगे निकल गया। यह दौड मध्य युग के उत्तरार्द्ध मे ही शुरू हो चुकी थी। यूरोप ने इसमे पूरी तत्परता से भाग लिया। एशिया ने उसके सामने अपना सिर झुका लिया और वह उसका गला धीरे-धीरे घोटने लगा। यूरोप ने विश्व का नेतृत्व अपने हाथ मे ले लिया और भौतिकता का साम्राज्य स्थापित किया। इसी दृष्टि से यूरोप ने अन्य महाद्वीपो को प्रभावित किया है। आधुनिक काल मे १६वीं शताब्दी तक लगभग सारा एशिया यूरोप के चगुल मे फॅसा रहा। जो यूरोप एशिया का शिष्य था वह अब उसका स्वामी बन गया। अफ्रीका पर भी यूरोपवासियो ने अपना भॅवरजाल फैलाया। आस्ट्रेलिया और अमेरिका को तो अग ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। इन महाद्वीपो के निवासियो के पूर्वज यूरोपवासी ही रहे हे। अतः दोनो की सभ्यता मे कोई अन्तर नही है। आस्ट्रेलिया मे तो अँगरेजो की ही भरमार है और अमेरिका मे भी अधिकाश निवासी उन्हीं के वशज हैं। इस तरह इन दोनो महाद्वीपा पर यूरोप का विशेष प्रभाव रहा है और वहाँ के मूलनिवासियो की स्थिति दिनोदिन गिरती जा रही है। १६वी सदी के अन्त तक इन द्वीपो ने, खास कर आस्ट्रेलिया ने मानव सभ्यता के विकास मे बहुत कम योग दिया है।

परन्तु २०वीं सदी मे विशेषतः प्रथम महायुद्ध के बाद से समय पलटा खा रहा है और स्थिति मे परिवर्त्तन होने लगा है। यूरोप की शक्ति घटने और एशिया की बढ़ने लगी है। वर्त्तमान शताब्दी एशिया की ही शताब्दी कही जा सकती है। इसके आगमन के साथ एशिया मे प्रभात हुआ और यहाँ के लोग जागने लगे। २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध में एशियाई राष्ट्रो ने यूरोप के फौलादी चगुल से अपना गला मुक्त कर मस्तक ऊँचा किया और विश्व पर एक दृष्टि डाली। वे अद्भुत स्फूर्ति के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर हुए। एशिया के दो बड़े देश—भारत और चीन का कायापलट हुआ है और विश्व का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट होने लगा है। इन दोनो देशो की शक्तियाँ असीमित हैं और यदि इनका व्यावसायिक विकास हो जाय तो ये पश्चिमी गोलार्द्ध के दो बड़े देशों—रूस तथा अमेरिका से भी आगे बढ़ जायें। अब एशिया का पलड़ा पुनः भारी होने लगा है और

इसी के द्वारा विश्व के नेतृत्व की पूरी सम्भावना है। यह भी आशा की जाती है कि इसके सफल नेतृत्वमे मानव समाज मे सुख-शान्ति की सतत् समृद्धि होगी।

सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक अनेक सभ्यताएँ विश्व के रगमच पर आई और चली गई। इतिहास बतलाता है कि उन्ही सभ्यताओ का नाश हुआ है जो प्रधानत. भौतिकवादी रही है। अध्यात्म तथा आदर्शवादिता एशियाई सभ्यता की विशेषताएँ रही है। अत. भारत और चीन की सभ्यता आज तक जीवित है और आगे भी जीवित रहेगी। उसी के बल पर यहूदी जाति सदियो तथा युगो से बेघर-बार की और उपेक्षित रहने पर भी आज तक कायम है। ये ही सभ्यताएँ अतीत तथा वर्त्तमान को मिलाने वाली कडियो का काम करती हैं। इसके विपरीत मेसोपोटामिया, मिश्र तथा रोम की भौतिकवादी सभ्यता पृथ्वी के गर्भ मे विलीन हो गई। यूरोप को वर्त्तमान सभ्यता भी असफल सिद्ध हो चुकी है और इसकी भौतिकवादी नींव इस तरह हिल-डुल गई है कि वह किसी समय आँधी के झोके से उखड सकती है। इस भौतिकवादी सभ्यता के फलस्वरूप दो भीषण विश्व-युद्ध हुये हैं जिनकी लपटो से मानवता का पौधा झुलस गया है, मनुष्य का हृदय सतप्त है और पृथ्वी नरक-कुड बन गई है। लम्बी-लम्बी शान्ति योजनाएँ बनती हैं किन्तु वे निरर्थक ही सिद्ध होता हैं।

आधुनिक सभ्यता के चमत्कार पर गर्व किया जाता है परन्तु यह जानना चाहिये कि प्राचीनता मे केवल बुराई ही नही और आधुनिकता मे केवल अच्छाई ही नही है बल्कि दोनो मे अच्छाई-बुराई का सामजस्य है। किसी में अच्छाई अधिक है तो किसी मे बुराई। आधुनिक सभ्यता मे सुविधाएँ अवश्य बढी हैं, व्यक्ति को स्वतन्त्रता मिली है, किन्तु आनन्द नही बढा है, शान्ति नही बढी है। सभ्यता का विकास हुआ है, सस्कृति की क्षति हुई। बाहर तडक-भडक, सजावट है, भीतर मालिन्य है और खोखलापन है। मस्तिष्क बढा है, हृदय सकुचित हुआ है। भौतिकता मे वृद्धि हुई है, आध्यात्मिकता का लोप हुआ है। व्यक्ति का स्वार्थ बढा है, समष्टि की हानि हुई है। अधिकार बढे हैं, कर्त्तव्य की उपेक्षा हुई है। अत. यदि मानवता को जीवित रहना है, पृथ्वी को स्वर्ग बनाना है तो सभ्यता तथा सस्कृति, मस्तिष्क तथा हृदय, भौतिकता तथा आध्यात्मिकता, व्यक्ति तथा समष्टि, अधिकार तथा कर्त्तव्य मे सुन्दर समन्वय स्थापित करना होगा और यह समन्वय सर्वोदयवाद के द्वारा ही सम्भव है।

इतिहास के पृष्ठों मे भले-बुरे, सज्जन-दुर्जन, पापी-पुण्यात्मा सभी प्रकार के व्यक्तिया की चर्चा है किन्तु सत्य एव सत्ता, प्रेम एव भक्ति, त्याग एव तपस्या के हो पुजारी मानव-समाज के सम्मानित प्रियपात्र रहे हैं। उनके ही नाम इतिहास के पृष्ठों मे स्वर्णाक्षरों मे लिखे जाते हैं। वे मर कर भी मानव-समाज में अमर हैं और मानव के हृदय-पट पर

भी उनके नाम अकित हैं। इतिहास के पृष्ठ कभी नष्ट हो सकते हैं किन्तु हृदय का स्मृति पत्र अमिट है।

यद्यपि किसी विचार-धारा का उद्गम स्थान मानव-मस्तिष्क ही है फिर भी वह मनुष्य की अपेक्षा अधिक बलवती होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोई भी विचार-धारा कुचली नही जा सकती। किसी विचार-धारा के प्रवर्त्तक तथा पोषक को प्राणदण्ड दिया जा सकता है परन्तु इससे उस विचार-धारा का अस्तित्व नही मिटता, उल्टे उसके रक्त से सिंचित होकर सिद्वान्त का पौधा तीव्र गति से फूलने-फलने लगता है। इस तरह किसी बडे से बडे साम्राज्य की सगठित शक्ति भी किसी सिद्वान्त को उखाड फेंकने में निष्फल सिद्ध होती है। हिंसा एव बल के द्वारा किसी विचार को निर्मूल करने का प्रयत्न ही मूर्खता है—स्वार्थ, भय एव कमजोरी का परिचायक है। प्राचीन युग मे सहस्रों इसाई कत्ल किए गए किन्तु इसाई मत का प्रचार होकर ही रहा, मध्य युग मे लाखो की सख्या में विरोधी धर्मावलम्बियो की हत्या हुई पर अन्त मे सहिष्णुता की नीति विजयी हुई। कितने वैज्ञानिक फॉसी के तख्ते पर झुला दिये गये परन्तु विज्ञान ने ससार पर अपना अधिपत्य जमा कर ही दम लिया। आधुनिक युग मे स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र के पुजारियों की लाखों की सख्या मे बलिदान हुआ किन्तु आज मानव-जीवन मे यही सिद्धान्त प्रमुख स्थान ग्रहण करते हैं। सबसे ज्वलन्त उदाहरण तो यहूदी जाति का है। यह जाति सभी युगो मे और सर्वत्र उपेक्षा तथा दमन का शिकार रही है। फिर भी यह आज तक जीवित है और इसने सभ्यता तथा सस्कृति के भडार को बढाने मे सहयोग दिया है।

परिशिष्ट १

प्रसिद्ध घटनाएँ, राजवंश और तिथियाँ

	सन् ईस्वी
ट्यूडर वंश का शासन (इंगलैण्ड)	१४८५—१६०३
कप्तान डायन द्वारा उत्तमाशा अन्तरीप का चक्कर काटना	१४८६
बार्थोलोम्यु डायज का उत्तमाशा अन्तरीप में पहुँचना	१४८८
कोलम्बस के द्वारा अमेरिका की खोज	१४९२
न्यू फाउन्डलैण्ड की खोज	१४९७
वास्कोडिगामा का भारतवर्ष पहुँचना	१४९८
कोलम्बस की मृत्यु	१५०६
बेलबोआ के द्वारा पनामा डमरूमध्य का पार किया जाना	१५१३
मैगलन की विश्व-यात्रा	१५१९
चार्ल्स पचम, पवित्र रोमन सम्राट निर्वाचित	१५२०
शानदार सुलेमान का राज्यारोहण	१५२०
बाबर के द्वारा भारत मे मुगल वंश की स्थापना	१५२५
नीदरलैण्ड्स मे स्वातन्त्र्य सग्राम का आरम्भ	१५६८
बार्थोलोम्यु का वध	१५७२
फ्रांसीसी ड्रेक की विश्व-यात्रा	१५७७
स्पेनिश आर्मेडा का इगलैण्ड पर हमला	१५८८
ईस्ट इडिया कम्पनी की स्थापना	१६००
स्टुअर्ट वंश का शासन (इगलैण्ड)	१६०३—१७१४
डचो की स्वाधीनता	१६०९
तीस वर्षीय युद्ध	१६१८—४८
मिंग वंश का पतन (चीन)	१६४४
मन्चू वंश का शासन (चीन)	१६४४—१९११
वेस्टफालिया की सन्धि	१६४८
नैन्टीज के धार्मिक आदेश रद्द	१६८५
ब्रिटिश गौरवमय क्रान्ति	१६८८

स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध	१७०२— १४
भारत मे मुगल साम्राज्य का अन्त	१७०७
सप्तवर्षीय युद्ध	१७५६—६३
अमेरिका का स्वातन्त्र्य सग्राम	१७७५—८३
अमेरिकी स्वाधीनता की घोषणा	१७७६ (४ जुला०)
फ्रास की राज्यक्रान्ति	१६८६—१८१५
लूई १६वे को फॉसी	१७६३
नील नदी का युद्ध	१७६८
नेपोलियन का सम्राट बनना	१८०४
ट्रैफेलगर के युद्ध मे इगलैण्ड द्वारा फ्रास की पराजय	१८०५
पवित्र रोम साम्राज्य का अत	१८०६
रूस पर नेपोलियन का आक्रमण	१८१२
जार्ज स्टीफेन्सन के इञ्जन का व्यवहार	१८१४
वाटरलू के युद्ध मे नेपोलियन की घोर पराजय	१८१५
पेरिस की सन्धि	१८१५
यूनान का स्वातन्त्र्य सग्राम	१८२३
मुनरो सिद्धान्त की घोषणा	१८२३
फ्रास मे दूसरी क्रान्ति	१८३०
डुरहम रिपोर्ट का प्रकाशन	१८३६
आग्ल—चीनी अफीम युद्ध (१)	१८४०—४२
फ्रास मे तीसरी क्रान्ति	१८४८
मध्य यूरोप मे क्रान्तियॉ	१८४८
जापान मे अमेरिका का प्रवेश	१८५३
पेरिस की सन्धि	१८५६
भारत का प्रथम स्वातन्त्र्य सग्राम	१८५७
ऑग्ल—चीनी अफीम युद्ध (२)	१८५८—६०
अमेरिका का गृहयुद्ध	१८६१—६५
स्वेज नहर का निर्माण	१८६६
फ्रासीसी—जर्मन युद्ध	१८७०—७१
फ्रास मे तीसरे गणराज्य की स्थापना	१८७०
टेलीफोन का आविष्कार	१८७६

	सन् ईस्वी
बर्लिन काग्रेस	१८७८
भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का जन्म	१८८५
बिस्मार्क का पतन	१८६०
बाक्सर्स आन्दोलन (चीन)	१६००
आग्ल—फ्रासीसी समझौता	१६०४
जापान के द्वारा रूस की घोर पराजय	१६०५
ईरान की क्रान्ति	१६०६
आग्ल रूसी समझौता	१६०७
त्रिराष्ट्र सन्धि, हेग का दूसरा सम्मेलन	१६०७
चीन की क्रान्ति	१६११
बाल्कन प्रायद्वीप के युद्ध	१६१२—१३
प्रथम महायुद्ध	१६१४—१८
रूस की राज्यक्रान्ति और बाल्शेविक सरकार की स्थापना	१६१७
वर्साई या पेरिस की सन्धि	१६१६
राष्ट्रसघ की स्थापना और जेनेवा मे इसका प्रथम अधिवेशन	१६२०
भारत मे असहयोग आन्दोलन	१६२०—२२
आयरिश फ्री स्टेट का निर्माण	१६२१
फासिस्ट सरकार की स्थापना (इटली)	१६२२
लौजेन की सन्धि, तुर्की गणतत्र की स्थापना	१६२३
लोकार्नो की सन्धि	१६२५
जर्मनी का राष्ट्रसघ का सदस्य बनना	१६२६
विश्व का आर्थिक सकट	१६२६—३१
सत्याग्रह आन्दोलन (भारत)	१६३०
मचूरिया पर जापान की विजय	१६३१
ईराक की स्वाधीनता	१६३२
निरस्त्रीकरण सम्मेलन की विफलता	१६३२
जर्मनी तथा जापान का राष्ट्रसघ से अलग होना	१६३३
तीसरे जर्मन राजतन्त्र की स्थापना	१६३४

रूस का राष्ट्रसघ का सदस्य बनना	१६३४
इटली अबीसीनिया युद्ध	१६३५—३६
मिश्र की स्वाधीनता	१६३६
चीन जापान युद्ध	१६३७—४५
भारतीय प्रान्तो मे कांग्रेसी मन्त्रिमडलो का प्रथम निर्माण	१६३७
म्युनिक मे हिटलर-चेम्बरलेन वार्त्ता	१६३८
द्वितीय महायुद्ध	१६३६—४५
इटली का युद्ध मे सम्मिलित होना	१६४०
जर्मनी के द्वारा रूस पर आक्रमण	१६४१
एटलाटिक चार्टर	१६४१
पर्ल बन्दर पर बमबारी	१६४१
अमेरिका का युद्ध मे सम्मिलित होना	१६४१
भारत मे तोड़-फोड़ का आन्दोलन	१६४२
आजाद हिन्द फौज का निर्माण	१६४२
इटली का मित्रराष्ट्रो से सन्धि	१६४३
ब्रिटेन वुड्स तथा डुम्बार्टन ओक्स सम्मेलन	१६४४
सीरिया की स्वाधीनता	१६४४
सैनफ्रासिस्को सम्मेलन और सयुक्त राष्ट्र सगठन की स्थापना	११४५
हिरोशिमा द्वीप पर सर्वप्रथम अणुबम का प्रहार	१६४५
द्वितीय महायुद्ध का अन्त	११४५
हिन्देशिया की स्वाधीनता	१६४५
बेतनाम के गणराज्य की स्थापना	१६४५
पेरिस का सम्मेलन	१६४६
भारत की स्वतन्त्रता और पाकिस्तान का निर्माण	१६४७
महात्मा गाधी का बलिदान	१६४८
इजरायल का स्वतन्त्र राज्य	१६४८
उत्तरी अटलाटिक सन्धि	१६४६
भारतीय गणराज्य की स्थापना	१६५०

परिशिष्ट २

कुछ प्रमुख शासक और व्यक्ति-विशेष

मेकियावेली, आधुनिक कूटनीति का जन्मदाता	१४६६—१५२७
मार्टिन लूथर, सुधार-आन्दोलन का जन्मदाता	१४८३—१५४६
सत इग्नेटियस लोयला, जेसुइट सस्था-का-जन्मदाता	१४६१—१५५६
राबेले, फ्रासीसी उपन्यासकार	१४६५—१५५३
काल्विन, फ्रासीसी धर्मसुधारक	१५०६—१५६४
सर्वेटीज, स्पेन का गद्यलेखक	१५४७—१६१६
अकबर, भारत का प्रसिद्ध मुगल सम्राट	१५५६—१६०५
महारानी एलिजाबेथ, इगलैण्ड की सम्राज्ञी	१५५८—१६०३
फ्रासिस बेकन, अग्रेज वैज्ञानिक	१५६१—१६२६
विलियम शेक्सपीयर, अग्रेज नाटककार	१५६४—१६१६
विलियम हार्वे, अग्रेज वैज्ञानिक	१६४२—१७२७
पीटर महान्, रूस का शासक	१६८२—१७२५
पन्द्रहवॉ लूइ, फ्रास का भव्य सम्राट	१६४३—१७१५
रूसो, फ्रासीसी दार्शनिक	१७१२—१७७८
फ्रेडरिक महान्, प्रशिया का प्रबुद्ध शासक	१७४०—१७८६
नेपोलियन, फ्रास का महान् विजेता	१७६६—१८२२
सोलहवॉ लूई, फ्रासीसी राज्यक्रान्ति का शिकार	१७७४—६३
जार्ज वाशिंगटन, सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति	१७७६—६७
जोसेफ द्वितीय, आस्ट्रिया का प्रबुद्ध शासक	१७८०—६०
मैजिनी, इटली का निर्माता	१८०५—७२
गैरिबाल्डी, इटली का निर्माता	१८०७—८२
अब्राहम लिंकन, अमेरिका का १६वॉ प्रेसिडेन्ट और दासों का मुक्तिदाता	१८०६—६५
कावूर, इटली का निर्माता	१८१०—६१
बिस्मार्क, जर्मनी का निर्माता	१८१५—६८
कार्ल मार्क्स, मार्क्सवाद का जन्मदाता	१८१८—८३
वुडरो विल्सन, राष्ट्रसघ का जन्मदाता	१८५६—१६२४

रविन्द्रनाथ ठाकुर, भारत के सुविख्यात लेखक एव कवि	१८६७—१९४१
सनयातसेन, आधुनिक चोन के राष्ट्रपिता	१८६७—१९२५
महात्मा गाधी, भारत के राष्ट्रपिता	१८६९—१९४८
लेनिन, सोवियत गणतन्त्र के जन्मदाता	१८७०—१९२४
चर्चिल, ग्रेटब्रिटेन के अनुदारवादी प्रधानमन्त्री	१८७४
सरदार वल्लभ भाई पटेल, भारत का बिस्मार्क	१८७५—१९५०
अलबर्ट आइन्सटाईन, सुविख्यात यहूदी वैज्ञानिक	१८७९
मार्शल स्तालिन, सोवियत रूस का भाग्यविधाता	१८७९
मुस्तफा कमाल, तुर्की गणतन्त्र के जन्मदाता	१८८०—१९३८
फ्रैंकलिन रूजवेल्ट, अमेरिका का ३२वॉ सर्वाधिक लोकप्रिय प्रेसिडेंट	१८८२—१९४५
डी वेलेरा, आयर के प्रधानमन्त्री	१८८२
मुसोलिनी, इटली का फासिस्ट नेता	१८८३—१९४५
डा० राजेन्द्र प्रसाद, स्वतन्त्र भारत के सर्वप्रथम राष्ट्रपति	१८८४
चागकाई शेक, चीन के राष्ट्रवादी नेता	१८८७
हिटलर, जर्मनी का नात्सी नेता	१८८९—१९४५
जवाहरलाल नेहरू, स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री	१८८९
आइसेन हावर, सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसिडेट	१८९०
माओत्से तुग, चीनी साम्यवादी सरकार के अध्यक्ष	१८९३
निकोलास द्वितीय, रूस का प्रतिक्रियावादी जार	१८९४—१९१७
लूई माउन्टबेटन, पराधीन भारत के अन्तिम वायसराय और डोमीनियन भारत के प्रथम गवर्नर जेनरल	१९००

परिशिष्ट ३

प्रश्नावली

अधुनिक युग

अ० २३

१. यूरोप मे आधुनिक युग का सूत्रपात कैसे हुआ ?

२. सास्कृतिक पुनरुत्थान से आप क्या समझते हैं ? इसके प्रमुख कारणो और परिणामों का उल्लेख कीजिए।

३. मानववाद से आपका क्या अभिप्राय है ? सास्कृति पुनरुत्थान का सर्व प्रथम उदय इटली में क्यो हुआ ?

४. पुनरुत्थान युद्ध की साहित्यिक प्रगति पर प्रकाश डालिए।

५. आधुनिक काल के भौगोलिक अन्वेषणों के कारणो तथा परिणामो का उल्लेख कीजिए।

६. आधुनिक काल के अन्वेषण-कार्य पर प्रकाश डालिए। इस कार्य मे यूरोपवासी ही क्यो अग्रदूत रहे ?

७. धर्म-सुधार-आन्दोलन के कारणों तथा परिणामो का उल्लेख कीजिए।

८. पुनरुत्थान और धर्मसुधार आन्दोलनो के बीच क्या सम्बन्ध है ?

९. मार्टिनलूथर के बारे मे आप क्या जानते हैं ? कुछ अन्य धर्म-सुधारकों का भी उल्लेख कीजिए।

१०. इगलैएड तथा जर्मनी के धर्मसुधारों का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।

११. यूरोपीय सभ्यता पर धर्म-सुधार-आन्दोलन का क्या प्रभाव पड़ा ?

अ० २४

१. इगलैएड मे निरकुश शासन की स्थापना कैसे हुई ? इससे इगलैएड को क्या लाभ हुआ ?

२. १६८८ ई० की अंग्रेजी क्रान्ति के कारणों, प्रकृति और परिणामो पर प्रकाश डालिए।

३. कैबिनेट शासन-प्रणाली के विकास का उल्लेख कीजिए।

४. लुई १४वें के शासन का वर्णन कीजिए। १७८९ ई० की क्रान्ति के लिये वह कहाँ तक उत्तदायी था ?

५. फ्रेडरिक महान् और पीटर महान् के बारे में आप क्या जानते हैं ?

६. आस्ट्रिया के प्रबुद्ध शासक का उल्लेख कीजिए।
७. नीदरलैण्ड के स्वातन्त्र्य सग्राम का वर्णन कीजिए।
८. १६वी और १७वी सदी के यूरोप के प्रमुख राज्यवशो का सक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
९. भारत के सबसे बड़े मुगल सम्राट के शासन की विशेषताओ पर प्रकाश डालिए।
१०. मुगल कालीन भारतीय सभ्यता पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
११. मचू वश के प्रसिद्ध शासक के बारे मे आप क्या जानते हैं ?
१२. फारस के सफावी वश का इतिहास लिखिए।
१३. विश्व-इतिहास मे 'सोलहवा सदी महान् सम्राटो की सदी रही' इस कथन की सोदाहरण पुष्टि कीजिए।

अ० २५

१. औद्योगिक क्रान्ति से आपका क्या अभिप्राय है ? इसका सूत्रपात सर्वप्रथम इगलैण्ड में क्या हुआ ?
२. औद्योगिक क्रान्ति से कृषि के क्षेत्र में क्या प्रगति हुई ?
३. औद्योगिक क्रान्ति ने उद्योग-धन्धों का किस प्रकार विकास किया ?
४. औद्योगिक क्रान्ति से यातायात और सवाद के क्षेत्र मे क्या-क्या परिवर्त्तन हुए ?
५. १८वी तथा १९वी शताब्दियों के कुछ प्रमुख आविष्कारो का उल्लेख कीजिए। इनसे मानव-विचार कहाँ तक प्रभावित हुए।
६. औद्योगिक क्रान्ति के लाभो तथा हानियो का उल्लेख कीजिए।
७. औद्योगिक क्रान्ति के विभिन्न परिणामो का उल्लेख कीजिए।
८. समाजवाद से आपका क्या तात्पर्य है ? इसके प्रसार के बारे मे आप क्या जानते हैं ?

अ० २६

१. अमेरिका के स्वातन्त्र्य सग्राम के मौलिक तथा तात्कालिक कारणों को बतलाइये।
२. अमेरिकी क्रान्ति के परिणामो का उल्लेख कीजिए। इगलैण्ड और इसके साम्राज्य पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?
३. अमेरिकी सग्राम मे अगरेजो की पराजय के क्या कारण थे ? उन्होने उस सग्राम से क्या शिक्षा ग्रहण की ?
४. दुनिया के इतिहास मे अमेरिकी सग्राम का क्या महत्त्व है ?
५. जार्ज वाशिंगटन तथा आब्राहम लिंकन के बारे मे आप क्या जानते हैं ?

अ० २७

१. फ्रासीसी क्रान्ति का अग्रेजी और अमरिकी क्राति से क्या सम्बन्ध है ?

२ फ्रास की राज्य क्रान्ति के कारणो का वर्णन कीजिए।

३. क्रान्ति का विस्फोट सर्वप्रथम फ्रास मे ही क्यों हुआ ?

४. फ्रासीसी क्रान्ति मे दार्शनिको तथा लेखको का क्या भाग रहा है ?

५. राष्ट्रीय महासभा के सुधारो का वर्णन कजिए।

६. 'स्वतन्त्रता के नाम पर बहुत खून खराबियाँ हुई।' फ्रास की क्राति से इस कथन की पुष्टि कीजिए।

७ 'फ्रास की राज्य क्रान्ति दुनिया के इतिहास मे एक अपूर्व घटना है।' इसकी व्याख्या कीजिए।

८. फ्रासीसी क्रान्ति के महत्त्व और परिमाणो का उल्लेख कीजिए।

९. फ्रास की राज्य क्रान्ति और इगलैण्ड की राज्य क्रान्ति मे क्या अन्तर था ? स्पष्ट समझाइये।

अ० २८

१. नेपोलियन ने क्रान्ति के सिद्धान्ता की कहाँ तक रक्षा या उपेक्षा की ?

२. 'नेपोलियन फ्रासीसी क्रान्ति को अनुपम देन था।' यह कथन कहाँ तक सत्य है ?

३. 'नेपोलियन एक विजेता ही नहीं था, वह एक सफल शासक भी था।' आप इस कथन स कहाँ तक सहमत है ?

४. नेपोलियन के पतन का कारण लिखिए।

५. दुनिया की कहानी मे नेपोलियन का क्या स्थान है ?

६. नेपोलियन के उत्थान तथा पतन पर एक निबन्ध लिखिए।

७. १८१५ ई० को पेरिस की सन्धि मे कौन-कौन सी प्रमुख बाते थी ? इसके गुणों तथा त्रुटिया पर प्रकाश डालिए।

अ० २९

१. आप राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र से क्या समझते हैं ? इन भावनाओ के जागने के क्या कारण थे ?

२. वियना की व्यवस्था पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

३. इटली के एकीकारण पर एक सुन्दर निबन्ध लिखिए।

४. इटली के एकीकरण में मैजिनी, गौरीबाल्डी तथा कावूर ने क्या भाग लिया ? स्पष्टतया समझाकर लिखिए।

५. जर्मनी के एकीकरण पर एक सुन्दर निबन्ध लिखिए।

६. १६वीं शताब्दी में जर्मनी का एकीकरण कैसे हुआ ? बिस्मार्क ने इसमें क्या भाग लिया ?
७. बिस्मार्क का मूल्याकन कीजिए।
८. इटली तथा जर्मनी के एकीकरण की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
६. १६वी शताब्दी में यूरोप में जिन नए राष्ट्रो का उत्थान हुआ, उनका वर्णन कीजिए।
१०. ग्रेट ब्रिटेन में लोकतन्त्रात्मक शासन के विकास पर प्रकाश डालिए।
११. यूरोपोय इतिहास मे १८४८ ई० क्यो महत्त्वपूर्ण है ?
१२. राष्ट्रीयता के गुण-दोषो का उल्लेख कीजिए।

अ० ३०

१. साम्राज्यवाद की व्याख्या कीजिए।
२. नये साम्राज्यवाद का कब उदय हुआ ? इसके उदय होने के क्या कारण थे ?
३. साम्राज्यवाद के विकास के लिए अफ्रीका तथा एशिया के महादेश ही क्यों उपयुक्त थे ?
४. अफ्रीका को अध महाद्वीप क्यो कहा जाता था ? क्या अभी भी यह कथन सत्य है ? समझाकर लिखिए।
५. अफ्रीका का एक मानचित्र बनाकर इसमे प्रथम महायुद्ध के पूर्व पाश्चात्य राष्ट्रों के साम्राज्य को दिखाइए।
६. 'अफ्रीका के विभाजन' पर सरल भाषा मे एक सुन्दर लेख लिखिए।
७. एशिया मे साम्राज्यवाद के प्रसार पर एक सांक्षप्त निबन्ध लिखिए।
८. भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का उल्लेख कीजिए।
६. चीन मे साम्राज्यवाद के प्रचार के विषय मे आप क्या जानते हैं ?
१०. एशिया का एक मानचित्र बनाकर इसमे विदेशियों के साम्राज्य को दिखाइये।
११. अमेरिकी साम्राज्यवाद के विकास पर प्रकाश डालिए।
१२. ब्रिटिश साम्रज्यवाद के विकास और इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
१३. साम्राज्यवाद के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

अ० ३१

१. पूर्वी समस्या से आपका क्या तात्पर्य है ? स्पष्ट समझाइये।
२. पूर्वी समस्या हल करने के लिए जो चेष्टाएँ हुई हैं उनका उल्लेख कीजिए।
३. यूनान के स्वातन्त्र्य-सग्राम का वर्णन कीजिए।
४. क्रीमिया के युद्ध के कारणों तथा परिणामों पर समुचित प्रकाश डालिए।

५. बर्लिन कॉंग्रेस पर आलोचनात्मक नोट लिखिए।
६. प्रथम महायुद्ध के बाद पूर्वी समस्या का अन्त क्यों और कैसे हुआ ?
७. 'यूरोप का मरीज—तुर्की साम्राज्य' इस पर एक निबन्ध लिखिए।

अ० ३२

१. प्रथम महायुद्ध के मौलिक तथा तात्कालिक कारणों का उल्लेख कीजिए।
२. प्रथम महायुद्ध की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
३. मित्रराष्ट्रों की विजय और केन्द्रीय राष्ट्रों की पराजय के कारणों का वर्णन कीजिए।
४. प्रथम महायुद्ध मे अमेरिका कब और क्यो सम्मिलित हुआ ?
५. पेरिस की सन्धि की शर्तों का उल्लेख करते हुए इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।
६. प्रथम महायुद्ध के विभिन्न परिणामो का वर्णन कीजिए।

अ० ३३

१. १९१७ ई० में रूसी क्रान्ति के कारणों का वर्णन कीजिए। इसके परिणाम क्या हुए ?
२. रूसी क्रान्ति के निर्माताओ के विषय मे आप क्या जानते है ?
३. रूसी एव फ्रासीसी क्रान्तियो पर तुलनात्मक प्रकाश डालिए।
४.बोल्शेविक रूस के आन्तरिक सगठन का उल्लेख कीजिए।
५. बोल्शेविक रूस की वर्त्तमान शासन-प्रणाली पर एक नोट लिखिए।
६. बोल्शेविक रूस की वैदेशिक नीति का मूल्याकन कीजिए।
७. 'समाजवाद का प्रयोग स्थल—रूस'—इस पर एक निबन्ध लिखिए।
८, विश्व-इतिहास मे रूसी क्रान्ति का क्या महत्त्व है ?

अ० ३४

१. आप एकतन्त्रवाद से क्या समझते हैं ? प्रथम महायुद्ध के बाद इसके विकास के क्या कारण थे ?
२. इटली मे फासिस्टो की प्रगति का सकारण उल्लेख कीजिए।
३. जर्मनी मे नाजी (नात्सी) पार्टी की प्रगति का सकारण उल्लेख कीजिए।
४. प्रथम महायुद्ध के पश्चात् एक तन्त्रवाद के विकास पर प्रकाश डालिए।
५. एकतन्त्रवाद के गुण-दोषो का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

अ० ३५

१. 'इगलैंड की मुसीबत—आयरलैंड का मौका' इस शीर्षक की स्पष्ट व्याख्या कीजिए।

२ इगलैंड और आयरलैंड मे पार्लियामेन्टरी सयोग कराने की परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।

३. पार्लियामेन्टरी सयोग और प्रथम महायुद्ध के बीच (१८००-१२१४ ई०) अँगरेज तथा आयरिशों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए।

४. बीसवी शताब्दी मे आगल-आयरिश सम्बधो का वर्णन कीजिए।

५. १६२२ और १६४६ ई० क बीच आयरलैंड के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

६. आयरिश स्वातन्त्र्य सग्राम पर एक निबन्ध लिखिए।

अ० ३६

१. द्वितीय विश्वयुद्ध के कारणों का वर्णन कीजिए।

२. द्वितीय महायुद्ध के होने मे फासिस्ट इटली और नात्सी जर्मनी की नीति कहाँ तक सहायक सिद्ध हुई ?

३. दूसरे महायुद्ध के लिए इगलैड तथा फ्रास के उत्तदायित्व पर प्रकाश डालिए।

४. दूसरे महायुद्ध मे अमेरिका कब और क्यो सम्मिलित हुआ ? इसका फल क्या हुआ ?

५. मित्रराष्ट्रो की विजय के कारणो का उल्लेख कीजिए।

६. दूसरे महायुद्ध के परिणामो का वर्णन कीजिए।

७. द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन की स्थिति पर प्रकाश डालिए।

८. १६४५ ई० के बाद रूस और अमेरिका के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए। क्या इन दोनो देशो मे सघर्ष अनिवार्य है ?

अ० ३७

१. आप कैसे समझते हैं कि एशियाई देशो का जागरण हुआ है ?

२. एशियाई जागरण के कारणो का उल्लेख कीजिए।

३. १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आँग्ल-चीनी युद्धों के कारणो तथा परिणामों को बतलाइये।

४. १६११ ई० मे चीनी क्रान्ति के कारणा तथा परिणामों का वर्णन कीजिए।

५. १६१२ और १६२७ ई० के बीच के चीन के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

६. १६२८ से १६४५ ई० के चीनी इतिहास की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

७. द्वितीय महायुद्ध के बाद चीन की क्या स्थिति थी ? कम्युनिस्टों की सफलता और राष्ट्रवादियों की पराजय के कारणों को बताइये।

८. कम्युनिस्ट चीनी जनतत्र की महत्ता पर प्रकाश डालिए। सयुक्त राष्ट्र सघ का इसके प्रति कैसा रुख है और क्यों ?

९. जापान के एकान्त वास से आपका क्या तात्पर्य है ? इसका प्रारम्भ तथा अन्त कैसे हुआ ?
१०. १८६८ ई० की जापानी क्रान्ति के कारणो तथा परिणामो को बतलाइये ।
११. जापान के पश्चिमीकरण की सफलता के कारणो को बतलाइए । चीन इस क्षेत्र मे सफल हुआ या नही ? सकारण समझाइये ।
१२. १८६८ और १९१४ ई० के बीच जापान की आन्तरिक प्रगति पर प्रकाश डालिए । जाग्रत जापान का क्या महत्त्व है ?
१३. रूसी-जापानी युद्ध (१९०४-५ ई०) का क्या महत्त्व है ?
१४. जापान मे साम्राज्यवाद के कारणो तथा परिणामो का उल्लेख कीजिए ।
१५. जापान के साम्राज्य-विस्तार का वर्णन कीजिए ।
१६. साम्राज्यवादी जापान के उत्थान तथा पतन पर एक सक्षिप्त निबध लिखिए ।

अ० ३८

१. ईरान मे अगरेजों तथा रूसियों के स्वार्थ पर प्रकाश डालिए ।
२. १९०६ ई० मे ईरान मे क्रान्ति का सूत्रपात कैसे हुआ ? इसके परिणाम क्या हुए ।
३. रजाशाह पहलवी की गृह तथा वैदेशिक नीति का उल्लेख कीजिए ।
४ अगरेजो तथा अफगानो के बीच युद्ध क्यों हुआ ? इसका क्या फल हुआ ?
५ २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे अफगानिस्तान के इतिहास पर प्रकाश डालिए ।

अ० ३९

१. आधुनिक भारतीय पुनरुत्थान आन्दोलन के क्या कारण थे ? इसकी प्रगति का उल्लेख कीजिए ।
२. प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य सग्राम के बारे मे आप क्या जानते हैं ?
३. १८५७ के भारतीय विद्रोह के कारणों तथा परिणामो का उल्लेख कीजिए।
४. १८५८ और १९४७ ई० के बीच भारतीय इतिहास का सिद्धान्त के आधार पर विभाजन कीजिए और प्रत्येक भाग की विशेषता बतलाइये ।
५. भारतीय स्वाधीनता-सग्राम का सक्षिप्त इतिहास लिखिए ।
६. भारतीय स्वतन्त्रता की क्या महत्ता है ?
७. विश्व-इतिहास मे महात्मा गाधी का क्या स्थान है ?
८. भारत मे काग्रेस सरकार की विकट समस्याओ का वर्णन कीजिए । भारत का विभाजन उसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी है ?

९. पचवर्षीय स्वतन्त्र भारत (१६४७—५२ ई०) की सफलताओ और विफलताओं का उल्लेख कीजिए ।

१०. वर्त्तमान भारत सरकार की वैदेशिक नीति की आलोचना कीजिए ।

११. स्वतन्त्र भारत के विधान की रूप-रेखा बतलाइये ।

अ० ४०

१. इस्लामी राज्य से आपका क्या तात्पर्य है ? इन राज्यो में राष्ट्रीयता का विकास कैसे हुआ ?

२. तुर्की मे गणतन्त्र की स्थापना कब और कैसे हुई ?

३. 'नवीन तुर्की मुस्तफा कमाल पाशा की देन है ।' इस कथन की पुष्टि कीजिए ।

४. तुर्की जनतन्त्र की वैदेशिक नीति पर प्रकाश डालिए ।

५. सीरिया के स्वातन्त्र्य सग्राम का उल्लेख कीजिए ।

६. २०वीं शताब्दी मे फिलिस्तीन की समस्या पर एक निबध लिखिए ।

७. ईराक कब और कैसे स्वतन्त्र हुआ ?

८. 'मिश्र मे अगरेजी राज्य की स्थापना और इसका अन्त दुनिया की कहानी मे एक मनोरजक अध्याय है ।' इस कथन की पुष्टि कीजिए ।

अ० ४१

१. दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे राष्ट्रीयता की धूम पर एक निबध लिखिए ।

२. दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता के बीच सघर्ष का सक्षिप्त उल्लेख कीजिए ।

३. हिन्देशिया या हिन्द चीन मे स्वातन्त्र्य सग्राम का वर्णन कीजिए ।

४. नेपाल की जनक्रान्ति के बारे मे आप क्या जानते हैं ?

अ० ४२

१. १८६५ से १६१४ ई० तक की अमेरिकी गृहनीति पर सक्षिप्त प्रकाश डालिए ।

२. १६२० से १६३६ ई० के बीच की अमेरिकी गृहनीति का सक्षिप्त उल्लेख कीजिए ।

३. फ्रैंकलिन रूजवेल्ट के शासन का सक्षिप्त वर्णन कीजिए ।

४. १६०१ से १६२१ ई० तक की अमेरिकी वैदेशिक नीति का उल्लेख कीजिए ।

५. प्रथम महायुद्ध में सयुक्त राष्ट्र अमेरिका कब और क्यों सम्मिलित हुआ ? इसके क्या फल हुए ?

६. १६२१ से १६३३ ई० तक की अमेरिकी वैदेशिक नीति का वर्णन कीजिए ।

७. १६३३ से १६४५ ई० तक की अमेरिकी परराष्ट्र नीति पर प्रकाश डालिए।
८. द्वितीय महायुद्ध मे सयुक्त राष्ट्र अमेरिका कब और क्यों सम्मिलित हुआ ? इसके क्या परिणाम हुए ?
६. द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् अमेरिका की वेदेशिक नीति की आलोचना कीजिए।
१०. 'वर्त्तमान शताब्दी मे विश्व-राजनीति के रगमच पर सयुक्त राज्य अमेरिका एक प्रमुख अभिनेता रहा है'—इस कथन की सोदाहरण पुष्टि कीजिए।

अ० ४३

१. १६वी शताब्दी मे एकता एव विश्व-शाति के विचारो तथा प्रयत्नों पर प्रकाश डालिए।
२. राष्ट्रसघ का जन्म कब और क्यो हुआ ? इसके विभिन्न सगठनो का उल्लेख कीजिए।
३. राष्ट्रसघ ने विश्वशान्ति के लिए क्या किया ? उसे इस कार्य मे कहाँ तक सफलता मिली ?
४. राष्ट्रसघ की असफलताओं के इतिहास पर प्रकाश डालिए। इसकी असफलता के क्या कारण थे ?
५. सयुक्त राष्ट्र सगठन का जन्म कब, कैसे और क्यो हुआ ?
६. सयुक्त राष्ट्र सगठन की विभिन्न सस्थाओ का सक्षिप्त वर्णन कीजिए।
७. सयुक्त राष्ट्र सगठन के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।
८. सयुक्त राष्ट्र सगठन की सात वर्षों (१६४५-५२ ई०) के इतिहास के आधार पर इसके भविष्य का अनुमान कीजिए।
६. बीसवी शताब्दी में शान्ति की आवश्यकता और इसके लिए किये गए प्रयत्नों का सक्षेप मे उल्लेख कीजिए।
१०. अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं ? आधुनिक युग मे इसके विकास पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

अ० ४४

१. एकता एव विश्वशान्ति के सैद्धान्तिक पक्ष पर प्रकाश डालिए।
२. 'मानवता की रक्षा करने के लिए आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता असफल सिद्ध हो चुकी है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? सकारण समझाइये।
३. विश्व-शान्ति एव मानव कल्याण के लिए आप किस विचार-धारा का समर्थन करते हैं ? उसकी विशद व्याख्या कीजिए।
४. सर्वोदयवाद की उत्पत्ति, इसके सिद्धान्तों और इसकी सम्भावनाओं पर प्रकाश डालिए।

५. सर्वोदयवाद पर अपनी अभ्यास-पुस्तिका के सात पृष्ठों पर एक सुन्दर निबन्ध लिखिए ।

अ० ४५

१. मानव-सभ्यता एव संस्कृति की प्रगति मे किस महाद्वीप ने अधिकतम योग दिया है ? विस्तारपूर्वक समझाइये ।
२. ससार पर यूरोप के प्रभाव का मूल्याकन कीजिए ।
३ समस्त विश्व-इतिहास के अध्ययन से आपको कौन-कौन से अनुभव हुए हैं ?

परिशिष्ट ४

विस्तृत अध्ययनार्थ ग्रन्थसूची

1. Wells, H. G.	The Outline of History. New revised edition 1951
2. Swain, J. E.	History of World Civilisation
3. Thorndike, L.	History of Civilisation
4. Sanderson, E.	Outlines of World History.
5. Weech.	World History.
6. Vanhoon.	Story of Mankind.
7. Langer, W. L.	An Encyclopedia of World History
3. Marshal, L. E.	The Story of Human Progress.
9. Zimmern,	Prospects of Civilisation.
10. Katelby, D. M.	A History of Modern Times.
11. King Hall.	History of Our Own Times.
12. Jackson, J. H.	The Post-War World.
13. Langsam, W. C.	The World since 1914.
14. Laski, H. J.	Revolutions of Our Own Times.
15. Hayes, C. G H.	Essays on Nationalism
16. Kohn, H.	A History of Nationalism in the East.
17. Slosson, P. W.	Twentieth Century Europe.
18. Gunther, J.	Inside Asia.
19. " "	Inside Europe.
20. " "	Inside America.
21. Allan Nevins.	America in World Affairs.
22. Potter	International Organisation.

२३. जवाहरलाल नेहरू	विश्व इतिहास की झलक (दो भाग)
२४. राहुल सांस्कृत्यायन	मानव-समाज
२५ कालीदास कपूर	विश्व-संस्कृति का विकास
२६. श्री सत्यकेतु विद्यालंकार	यूरोप का आधुनिक इतिहास (दो भाग)
२७. ,, ,,	एशिया का आधुनिक इतिहास (दो भाग)
२८. आचार्य बिनोवा भावे	सर्वोदय विचार

———